



ऐच्छिक हिन्दी - I

Editor

Dr. Reeta Singh

Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

पाठ्यक्रम
(SYLLABUS)
ऐच्छिक हिन्दी – I

उद्देश्य

- छात्रों को हिन्दी भाषा के अर्थ से परिचित करवाना।
- छात्रों को हिन्दी भाषा के विकास से परिचित करवाना।
- छात्रों को हिन्दी साहित्य के इतिहास से परिचित करवाना।
- छात्रों को आदिकाल सम्बन्धी प्रवृत्तियों की जानकारी देना।
- छात्रों को आदिकाल सम्बन्धी प्रमुख रचनाओं से परिचित करवाना।
- छात्रों को आदिकाल के ग्रन्थों सम्बन्धी प्रामाणिकता इत्यादि से परिचित करवाना।
- छात्रों को कबीर सम्बन्धी वाणी का ज्ञान देना।

Sr. No.	Content
1	हिन्दी भाषा का अथा और परिभाषा, हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास
2	हिन्दी साहित्य का इतिहास :काल विभाजन, नामकरण
3	हिन्दी साहित्य का इतिहास :आदिकाल का नामकरण
4	हिन्दी साहित्य का इतिहास: परिस्थियाँ
5	हिन्दी साहित्य का इतिहास: प्रवृत्तियाँ
6	हिन्दी साहित्य का इतिहास: आदिकाल की प्रमुख रचनाएँ
7	पृथ्वी राज रासो की प्रामाणिकता
8	पृथ्वी राज रासो की अप्रामाणिकता, अर्द्धप्रामाणिकता
9	कबीर के दोहे :गुरु को अंग -35 दोहे
10	कबीर के दोहे :विरह को अंग -40 दोहे

Content

Unit 1:	हिंदी भाषा का अर्थ एवं परिभाषा <i>Reeta Singh, Lovely Professional University</i>	1
Unit 2:	हिंदी भाषा का उद्भव और विकास <i>Reeta Singh, Lovely Professional University</i>	29
Unit 3:	हिंदी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	34
Unit 4:	हिंदी साहित्य का इतिहास : नामकरण <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	51
Unit 5:	हिंदी साहित्य का इतिहास : आदिकाल का नामकरण <i>Hardeep Kaur, Lovely Professional University</i>	62
Unit 6:	हिंदी साहित्य का इतिहास : आदिकाल की परिस्थितियाँ <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	72
Unit 7:	हिंदी साहित्य का इतिहास : आदिकाल की प्रवृत्तियाँ <i>Reeta Singh, Lovely Professional University</i>	78
Unit 8:	हिंदी साहित्य का इतिहास : आदिकाल की प्रमुख रचनाएँ <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	100
Unit 9:	आदिकाल की प्रमुख भाषाएँ एवं साहित्य <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	116
Unit 10:	पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता <i>Hardeep Kaur, Lovely Professional University</i>	135
Unit 11:	पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता/अर्द्धप्रामाणिकता <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	146
Unit 12:	कबीर की भक्ति का स्वरूप एवं भेद <i>Reeta Singh, Lovely Professional University</i>	151
Unit 13:	कबीर के दोहे : गुरु कौ अंग <i>Vinod Kumar, Lovely Professional University</i>	166
Unit 14:	कबीर के दोहे : विरह कौ अंग <i>Hardeep Kaur, Lovely Professional University</i>	175

इकाई-1: हिंदी भाषा का अर्थ एवं परिभाषा

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 1.1 प्रारंभिक अवस्था में भाषा की प्रकृति
- 1.2 भाषा-विकास के चरण
- 1.3 भाषा के दो आधार
- 1.4 भाषा की विशेषताएँ और प्रकृति
- 1.5 भाषा के विविध रूप
- 1.6 भाषा के कुछ अन्य रूप
- 1.7 भाषा और बोली में अंतर
- 1.8 आधुनिक आर्यभाषा
- 1.9 सारांश (Summary)
- 1.10 शब्दकोश (Keywords)
- 1.11 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 1.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- भाषा-विकास के चरण जानने में।
- भाषा और बोली में अंतर जानने में।
- भाषा की विशेषताएँ और प्रकृति समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

आज की किसी भी भाषा को लें, उसका अध्ययन करें और फिर पीछे उसके इतिहास का वहाँ तक अध्ययन करते जाएं जहाँ तक सामग्री मिले। इस अध्ययन के आधार पर भाषा के विकास का सामान्य सिद्धांत निकाल लें। उन सिद्धांतों के प्रकाश में आज की भाषा की तुलना उसके प्राचीनतम उपलब्ध रूप से करें और देखें कि कौन-सी बातें आज की भाषा में नहीं हैं, पर प्राचीन में हैं। इसके बाद हम यह आसानी से कह सकते हैं कि वे विशेषताएँ यदि भाषा के प्राचीनतम उपलब्ध रूप में दस प्रतिशत हैं तो भाषा के बिल्कुल प्रारंभ में सत्तर या अस्सी प्रतिशत रही होंगी।

उदाहरण के लिए, हिंदी (खड़ीबोली) को लें। इसके अध्ययन के उपरान्त पुरानी हिंदी, अपभ्रंश, प्राकृत, पालि, संस्कृत और वैदिक संस्कृत का अध्ययन करके विकास के सिद्धांतों पर विचार करें। फिर खड़ी बोली की तुलना वैदिक संस्कृत से ध्वनि, व्याकरण के रूप, शब्द-समूह, वाक्य आदि के विचार से करके वैदिक संस्कृत की वे विशेषताएँ निश्चित करें जो या तो खड़ी बोली में बिल्कुल नहीं हैं, या हैं भी तो बहुत कम। प्राचीन भारतीय

नोट

भाषा में निश्चित ही उन विशेषताओं का विशेष स्थान रहा होगा, जो घटते-घटते वैदिक संस्कृत में कुछ शेष थीं और खड़ी बोली तक आते-आते प्रायः नहीं के बराबर रह गई हैं।

इसी प्रकार किये गये अध्ययन के आधार पर भाषाओं की प्रारंभिक प्रकृति पर यहाँ अत्यन्त संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

1.1 प्रारंभिक अवस्था में भाषा की प्रकृति

(क) ध्वनि—किसी भाषा के इतिहास के अध्ययन से यह पता चलता है कि ध्वनियों एवं ध्वनि-संयोगों में, धीरे-धीरे जैसे-जैसे भाषा आगे बढ़ती है, सरलता आती जाती है। इस बात पर कुछ विस्तार से ध्वनि के अध्याय में विचार किया जायेगा। यहाँ इस सरल होने से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरंभिक भाषा में आज की विकसित भाषाओं की तुलना में ध्वनियाँ बहुत कठिन रही होंगी। यहाँ कठिन से आशय उच्चारण में कठिन संयुक्त व्यंजन (जैसे आरंभ में प्स, क्न, ह्य आदि) या मूल ध्वनि आदि हैं। प्राचीन और पिछड़ी अनेक अफ्रीकी तथा अन्य भाषाओं में 'क्लिक' ध्वनियाँ अधिक हैं। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि आरंभ की भाषा में क्लिक ध्वनियाँ भी कदाचित् अधिक रही होंगी। वैदिक संस्कृत और हिंदी की तुलना से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि अपेक्षाकृत अब शब्द सरल एवं छोटे हो गये हैं। अन्य भाषाओं में भी यही बात मिलती है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि भाषा की आरंभिक अवस्था में शब्द अपेक्षतया बड़े एवं उच्चारण की दृष्टि से कठिन रहे होंगे। होमरिक ग्रीक तथा वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक स्वराघात की उपस्थिति के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। अफ्रीका की असंस्कृत भाषाओं में यह बात पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है, पर अब धीरे-धीरे उसका लोप हो रहा है। इससे स्पष्ट है कि आरंभिक अवस्था में लोग बोलने की अपेक्षा गाते ही अधिक होंगे, अर्थात् आरंभिक भाषा में संगीतात्मक स्वराघात (सुर) बहुत अधिक रहा होगा।

(ख) व्याकरण—प्रारंभिक भाषा में शब्दों के अपेक्षाकृत अधिक रूप रहे होंगे, जो बाद में सादृश्य या ध्वनि-परिवर्तन आदि के कारण आपस में मिलकर कम हो गये। भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन में हम देखते हैं कि आधुनिक भाषाओं की तुलना में पुरानी भाषाओं में सहायक क्रिया या परसर्ग आदि जोड़ने की आवश्यकता कम या नहीं के बराबर होती है। इसका आशय यह है कि आरंभिक भाषा संश्लेषणात्मक रही होगी, अर्थात् सहायक क्रिया या परसर्ग इत्यादि जोड़ने की उसमें बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं रही होगी। अपने में पूर्ण नियमों की उस समय कमी रही होगी, और अपवादों का आधिक्य रहा होगा। उन लोगों का मस्तिष्क व्यवस्थित न रहा होगा, अतः भाषा में भी व्यवस्था का अभाव रहा होगा। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि बिल्कुल आरंभ में व्याकरण या भाषा-नियम नाम की कोई चीज ही न रही होगी।

(ग) शब्द-समूह—भाषा का जितना ही विकास होता है, उसकी अभिव्यंजना-शक्ति उतनी ही बढ़ती जाती है। साथ ही सामान्य और सूक्ष्म भावों के प्रकट करने के लिए शब्द बन जाते हैं। इसका आशय यह है कि आरंभिक भाषा में अभिव्यंजना-शक्ति अत्यल्प रही होगी, और सूक्ष्म तथा सामान्य भावों के लिए शब्दों का एकान्त अभाव रहा होगा। आज भी कुछ असंस्कृत भाषाएँ हैं जो लगभग इसी अवस्था में हैं। उत्तरी अमेरिका की चरोकी भाषा में सिर धोने के लिए, हाथ धोने के लिए, शरीर धोने के लिए अलग-अलग शब्द हैं, पर 'धोने' के सामान्य अर्थ को प्रकट करने वाला एक भी शब्द नहीं है। टस्मानिया की मूल भाषा में भिन्न-भिन्न प्रकार के सभी पेड़ों के लिए अलग-अलग शब्द हैं, पर 'पेड़' के लिए कोई शब्द नहीं है। उनके पास कड़ा, नरम, ठंडा और गरम आदि के लिए भी शब्द नहीं हैं। इसी प्रकार जुलू लोगों की भाषा में लाल गाय, काली गाय और सफ़ेद गाय के लिए शब्द हैं, पर गाय के लिए शब्द नहीं है। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकलता है कि आरंभ में शब्द केवल स्थूल और विशिष्ट के लिए ही रहे होंगे, सामान्य और सूक्ष्म के लिए नहीं।

ऊपर की बातों से यह भी निष्कर्ष निकलता है कि आरंभ के कुछ दिनों के बाद शब्दों का बाहुल्य हो गया होगा। कुछ वर्तमान असभ्य भाषाओं के आधार पर इस बाहुल्य का एक और कारण यह भी दिया जा सकता है कि वे लोग अंधविश्वासी रहे होंगे, अतः सभी शब्दों को सर्वदा प्रयोग में लाना अनुचित माना जाता रहा होगा। उन्हें भय रहा होगा कि देवता या पित्र आदि कुपित न हो जायें, अतः एक ही वस्तु या कार्य के लिए भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न शब्द प्रयोग में आते रहे होंगे।

(घ) वाक्य—भाषा वाक्य पर आधारित रहती है। वाक्य के शब्दों का विश्लेषण करके हमने उन्हें अलग-अलग कर लिया है और उनके नियमों का अध्ययन कर व्याकरण बनाया है। यह क्रिया भाषा और उनके

साथ हमारे विचारों के बहुत विकसित होने पर की गई है। आरंभ में इन शब्दों का हमें पता न रहा होगा और वाक्य इस इकाई के रूप में रहे होंगे। शब्दों के रूप में उनका 'व्याकरण' या विश्लेषण नहीं हुआ रहा होगा। उत्तरी अमेरिकावासियों की कुछ बहुत पिछड़ी भाषाओं में कुछ दिन पूर्व तक वाक्यों में अलग-अलग शब्दों की कल्पना तक नहीं की गई थी।

(ड) विषय—अपने विकास की आरंभिक अवस्था में लोग भावना-प्रधान रहे होंगे। तर्क या विचार की वैज्ञानिक शृंखला से वे अपरिचित रहे होंगे। पद्यात्मकता की ही प्रधानता रही होगी। यही कारण है कि संसार की सभी भाषाओं में पद्य या काव्य बहुत प्राचीन मिलता है, किंतु गद्य नहीं। इसी प्रकार गीत आदि की भी प्रधानता रही होगी। गीतों में भी स्वाभाविक और जन्मजात भावना के कारण प्रेम, भय, क्रोध आदि के चित्र ही अधिक रहे होंगे।

निष्कर्ष—भाषा अपने प्रारंभिक रूप में संगीतात्मक थी। उसमें वाक्य शब्द की भाँति थे। अलग-अलग शब्दों में वाक्य के विश्लेषण की कल्पना नहीं की गई थी। स्पष्ट अभिव्यंजना का अभाव था। कठिन ध्वनियाँ अधिक थीं। स्थूल और विशिष्ट के लिए शब्द थे। सूक्ष्म और सामान्य का पता नहीं था। व्याकरण-सम्बन्धी नियम नहीं थे। केवल अपवाद ही अपवाद थे। इस प्रकार भाषा प्रत्येक दृष्टि से लँगड़ी और अपूर्ण थी।

भाषा की उत्पत्ति के संबंध में हमें अभी तक कोई निश्चित उत्तर नहीं प्राप्त हो सका। हाँ, एक सीमा तक समन्वित रूप अवश्य मान्य हो सकता है। यों परोक्ष मार्ग के आधार पर भाषा की प्रारंभिक अवस्था के विषय में जो बातें ऊपर कही गई हैं, वे निश्चित रूप से काफी सही हैं।



नोट्स भाषा अपने प्रारंभिक रूप में संगीतात्मक थी।

1.2 भाषा-विकास के चरण

इस प्रसंग में भाषा के विकास के तीन चरणों की ओर भी पर्याप्त निश्चय के साथ संकेत किया जा सकता है। डार्विन ने हमें बताया है कि हम बंदरों के विकसित रूप हैं। इसका आशय यह हुआ कि कभी हमारी भाषा बंदरों के समीप रही होगी और कभी उससे भी पिछड़ी। बंदरों में उच्चारित वा वाचिक भाषा के साथ-साथ आंगिक संकेतों की भी भाषा मिलती है और दूसरी और असंभव आदिम जातियों की तुलना में शिक्षित लोगों में भाषा का लिखित रूप मिलता है। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि मनुष्य में भाषा का प्रारंभिक रूप विभिन्न प्रकार के पशुओं की तरह आंगिक रहा होगा। वनबिलाव गुस्सा प्रकट करने के लिए अपने बालों को खड़ा कर लेता है, तो बंदर ओठों को अजीब ढंग से फैलाकर दाँत निकाल देता है और कुत्ता प्यार-प्रदर्शन के लिए मालिक के शरीर को चाटता है, तो कभी पूँछ हिलाता है। ये आंगिक भाषा के ही रूप हैं। भाषा का दूसरा रूप वाचिक हुआ। इसमें उच्चरित ध्वनियों का प्रयोग हुआ। आरंभ में मानव-भाषा में आंगिक संकेत अधिक थे और वाचिक कम, किंतु धीरे-धीरे पहले का प्रयोग सीमित होता गया और दूसरे का बढ़ता गया। यों आज का सभ्य मानव भी अपनी भाषा के उस आदिम आंगिक रूप को पूर्णतः भूल नहीं सका है, इसी कारण वाचिक भाषा के साथ-साथ विभिन्न अंगों को हिला, उठा, तान आदि कर वह अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बनाता है। भाषा का तीसरा रूप लिखित है। इसने भाषा की उपयोगिता बहुत बढ़ा दी है।

आंगिक भाषा बड़ी स्थूल और सीमित थी। प्रेम, क्रोध, भूख आदि के सामान्य भाव ही वह प्रकट कर सकती थी। साथ ही उसके लिए दूसरे की आंगिक चेष्टाओं को देखना भी आवश्यक था। बिना दिखाये अभिव्यक्ति संभव न थी। इसका आशय यह हुआ कि इसके लिए प्रकाश अनिवार्यतः आवश्यक था। वाचिक भाषा के प्रयोग से तीनों कठिनाइयाँ दूर हो गईं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव एवं विचार व्यक्त होने लगे तथा प्रत्यक्षता या प्रकाश भी अनावश्यक हो गये। किंतु वाचिक भाषा इन तीनों दृष्टियों से आगे बढ़कर भी देश काल की सीमा से बँधी थी। इसका प्रयोग उतनी ही दूरी (देश) तक हो सकता था, जहाँ तक सुनाई पड़े और उसी समय (काल) इससे अभिव्यक्ति संभव थी, जब यह बोली जा रही हो। मनुष्य ने भाषा को लिखित रूप देकर ये दोनों बंधन समाप्त कर दिये। अपने लिखित रूप में भाषा देश-काल से बँधी नहीं है। आज लिखकर दो-चार दस वर्ष बाद भी उसे पढ़ा जा सकता है, या इसी प्रकार यहाँ लिखकर उसे सात समुन्द्र पार भी पहुँचाया जा सकता है।



क्या आप जानते हैं? भाषा वाक्य पर आधारित रहती है।

1.3 भाषा के दो आधार

भाषा के दो आधार हैं—एक मानसिक (psychical aspect) और दूसरा भौतिक (physical aspect)। मानसिक आधार भाषा की आत्मा है तो भौतिक आधार उसका शरीर। मानसिक आधार या आत्मा से आशय है, वे विचार या भाव जिनकी अभिव्यक्ति के लिए वक्ता भाषा का प्रयोग करता है और भाषा के भौतिक आधार के सहारे श्रोता जिनको ग्रहण करता है। भौतिक आधार या शरीर से आशय है—भाषा में प्रयुक्त ध्वनियाँ (वर्ण, सुर और स्वराघात आदि) जो भावों और विचारों की वाहिका है, जिनका आधार लेकर वक्ता अपने विचारों या भावों को व्यक्त करता है और जिनका आधार लेकर श्रोता विचारों या भावों को ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ, हम ‘सुन्दर’ शब्द लें। इसका एक अर्थ है। इसके उच्चारण करने वाले के मस्तिष्क में वह अर्थ होगा और सुनने वाला भी उसे सुनकर अपने मस्तिष्क में उस अर्थ को ग्रहण कर लेगा। यही अर्थ ‘सुन्दर’ की आत्मा है। दूसरे शब्दों में, यही है मानसिक पक्ष। पर साध ही मानसिक पक्ष सूक्ष्म है, अतः उसे किसी स्थूल का सहारा लेना पड़ता है। यह स्थूल है स् + उ + न् + द् + अ + र्। सुन्दर के भाव या विचार को व्यक्त करने के लिए वक्ता इन ध्वनि-समूहों का सहारा लेता है, और इन्हें सुनकर श्रोता ‘सुन्दर’ अर्थ ग्रहण करता है, अतएव ये ध्वनियाँ उस अर्थ की वाहिका, शरीर या भौतिक आधार हैं। भौतिक आधार तत्त्वतः अभिव्यक्ति का साधन है, और मानसिक आधार साध्य। दोनों के मिलने से भाषा बनती है। कभी-कभी इन्हीं को क्रमशः बाह्य भाषा (outer speech) तथा आन्तरिक भाषा (inner speech) भी कहा गया है। प्रथम को समझने के लिए शरीर विज्ञान तथा भौतिक शास्त्र की सहायता लेनी पड़ती है, और दूसरे को समझने के लिए मनोविज्ञान की।

कुछ लोग वक्ता और श्रोता के मानसिक व्यापार को भी भाषा का मानसिक आधार मानते हैं और इसी प्रकार बोलने और सुनने की प्रक्रिया को भी भौतिक आधार। एक दृष्टि से यह भी ठीक है। यों तो उच्चारणावयवों एवं ध्वनि ले जाने वाली तरंगों को भी भौतिक आधार तथा मस्तिष्क को मानसिक आधार माना जा सकता है, किन्तु परम्परागत रूप में भाषा विज्ञान में केवल ध्वनियाँ, जो बोली और सुनी जाती हैं, भौतिक आधार मानी जाती हैं; और विचार, जो वक्ता द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं और श्रोता द्वारा ग्रहण किये जाते हैं मानसिक आधार माने जाते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. आंगिक भाषा बड़ी स्थूल और थी।
2. भाषा अपने प्रारंभिक रूप में थी।
3. भाषा के दो आधार हैं मानसिक और।
4. भाषा का जितना ही विकास होता है, उसकी उतनी ही बढ़ती जाती है।

1.4 भाषा की विशेषताएँ और प्रकृति

(1) भाषा पैतृक सम्पत्ति नहीं है—कुछ लोगों का विश्वास है कि भाषा पैतृक सम्पत्ति है। पिता की भाषा पुत्र को पैतृक संपत्ति की भाँति अनायास ही प्राप्त होती है, किन्तु यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। यदि किसी भारतीय बच्चे को एक-दो वर्ष की अवस्था से फ्रांस में पाला जाय तो वह हिंदी या हिन्दुस्तानी आदि न समझ या बोल सकेगा और फ्रेंच ही उसकी मातृभाषा या अपनी भाषा होगी। यदि भाषा पैतृक संपत्ति होती तो भारतीय लड़का भारत से बाहर कहीं भी रहकर बिना प्रयास के हिंदी समझ और बोल लेता। कुछ वर्ष पूर्व लखनऊ के अस्पताल में लगभग 12 वर्ष का एक लड़का लाया गया था जो मनुष्य की तरह कुछ भी नहीं बोल पाता था। खोज करने पर पता चला कि उसे कोई भेड़िया बहुत पहले उठा ले गया था और तब से वह उसी भेड़िये के साथ रहा। उसमें

सभी आदतें भेड़िये-सी थीं। उसके मुँह से निःसृत ध्वनि भी भेड़िये से ही मिलती-जुलती थी। यदि भाषा पैतृक संपत्ति होती तो वह अवश्य मनुष्य की तरह बोलता, क्योंकि वह गूँगा नहीं था।

(2) भाषा अर्जित संपत्ति है—ऊपर के दोनों उदाहरणों में हम देख चुके हैं कि अपने चारों ओर के समाज या वातावरण से मनुष्य भाषा सीखता है। भारतवर्ष में उत्पन्न शिशु फ्रांस में रहकर इसीलिए फ्रेंच बोलने लगता है कि उसके चारों ओर फ्रेंच का वातावरण रहता है। इसी प्रकार भेड़िये का साथी लड़का एक ओर वातावरण के अभाव में मनुष्य की कोई भाषा नहीं सीख सका; और, दूसरी ओर भेड़िये के साथ रहने से वह उसी की ध्वनि का कुछ रूपों में अर्जन कर सका। अतएव यह स्पष्ट है कि भाषा आसपास के लोगों से अर्जित की जाती है, और इसीलिए यह पैतृक न होकर अर्जित संपत्ति है।

(3) भाषा आद्यतन सामाजिक वस्तु है—ऊपर हम भाषा को अर्जित संपत्ति कह चुके हैं। प्रश्न यह है कि व्यक्ति इस संपत्ति का अर्जन कहाँ से करता है? इसका एकमात्र उत्तर है 'समाज से।' इतना ही नहीं, भाषा पूर्णतः आदि से अंत तक समाज से संबंधित है। उसका विकास समाज में ही होता है; और, इसीलिए यह एक सामाजिक संस्था है। यों, अकेले में, हम भाषा के सहारे सोचते अवश्य हैं, किंतु वह भाषा इस सामान्य मुखर भाषा से भिन्न है जिसकी बात की जा रही है।

(4) भाषा परंपरा है, व्यक्ति उसका अर्जन कर सकता है उसे उत्पन्न नहीं कर सकता—भाषा परंपरा से चली आ रही है, व्यक्ति उसका अर्जन परंपरा और समाज से करता है। एक व्यक्ति उसमें परिवर्तन आदि तो कर सकता है, किंतु उसे उत्पन्न नहीं कर सकता (सांकेतिक या गुप्त आदि भाषाओं की बात यहाँ नहीं की जा रही है)। यदि कोई उसका जनक और जननी है तो समाज और परंपरा।

(5) भाषा का अर्जन अनुकरण द्वारा होता है—ऊपर की बातों में भाषा के अर्जित एक समाज-सापेक्ष होने की बात हम कह चुके हैं। यहाँ 'अर्जन' की विधि के संबंध में इतना और कहना है कि भाषा को हम 'अनुकरण द्वारा' सीखते हैं। शिशु के समक्ष माँ 'दूध' कहती है। वह सुनता है और धीरे-धीरे उसे स्वयं कहने का प्रयास करता है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तु के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। वह भाषा के सीखने में भी उसी गुण का उपयोग करता है।

(6) भाषा चिरपरिवर्तनशील है—यथार्थतः भाषा केवल मौखिक भाषा को कहना चाहिए। उसका लिखित रूप उसी मौखिक पर आधारित है और उसी के पीछे-पीछे चलता है। यह मौखिक भाषा स्वयं अनुकरण पर आधारित है, अतः दो आदमियों की भाषा बिल्कुल एक-सी नहीं होती। अनुकरण-प्रिय प्राणी होने पर भी मनुष्य अनुकरण की कला में पूर्ण नहीं है। अनुकरण का 'पूर्ण' या 'ठीक' न होना कई बातों पर आधारित है। ऊपर हम कह चुके हैं कि भाषा के दो आधार हैं: (1) शारीरिक (भौतिक) और (2) मानसिक। परिवर्तन में ये दोनों ही कार्य करते हैं। अनुकरणकर्ता की शारीरिक और मानसिक परिस्थिति सर्वदा ठीक वैसी ही नहीं रहती जैसी कि उसकी रहती है, जिसका अनुकरण किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक अनुकरण में कुछ न कुछ विभिन्नता का आ जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि अनुकरण करना।

ये साधारण और छोटी-छोटी विभिन्नताएँ ही भाषा परिवर्तन उपस्थित किया करती हैं। इसके अतिरिक्त प्रयोग से घिसने और बाहरी प्रभावों से भी परिवर्तन होता है। इस प्रकार भाषा प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है।

(7) भाषा का कोई अंतिम स्वरूप नहीं है—जो वस्तु बन-बन कर पूर्ण हो जाती है, उसका अंतिम स्वरूप होता है, पर भाषा के विषय में यह बात नहीं है। यह कभी पूर्ण नहीं हो सकती। अर्थात्, यह कभी नहीं कहा जा सकता कि अमुक भाषा का अमुक रूप अंतिम है। यहाँ यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि भाषा से हमारा अर्थ जीवित भाषा से है। मृत भाषा का अंतिम रूप तो अवश्य ही अंतिम होता है, पर जीवित भाषा में यह बात नहीं है। जैसा कि अन्य सभी के लिए सत्य है, भाषा के विषय में असत्य नहीं है कि परिवर्तन और अस्थैर्य ही उसके जीवन का द्योतक है। पूर्णता और स्थिरता मृत्यु है, या मृत्यु ही पूर्णता या स्थिरता है।

(8) प्रत्येक भाषा की एक भौगोलिक सीमा होती है—हर भाषा की अपनी एक भौगोलिक सीमा होती है। सीमा के भीतर ही उस भाषा का अपना वास्तविक क्षेत्र होता है। उस सीमा के बाहर उसका स्वरूप थोड़ा या अधिक परिवर्तित हो जाता है, या उस सीमा के बाहर किसी पूर्णतः भिन्न भाषा की सीमा शुरू हो जाती है।

(9) प्रत्येक भाषा की एक ऐतिहासिक सीमा होती है—भौगोलिक सीमा की तरह भाषा की ऐतिहासिक सीमा भी होती है। अर्थात्, प्रत्येक भाषा इतिहास के किसी निश्चित काल से प्रारंभ होकर इतिहास के निश्चित काल तक व्यवहृत होती है तथा वह भाषा अपने काल की परिवर्ती या पूर्ववर्ती भाषा से भिन्न होती है। उदाहरण के लिए,

नोट

मोटे रूप से प्राकृत भाषा का काल पहली ईसवीं से 500 ई. तक माना जाता है। इस कड़ी में इसके पूर्व पालि भाषा थी, तथा इसके बाद अपभ्रंश, और, ये दोनों भाषाएँ (पालि तथा अपभ्रंश) प्राकृत से भिन्न हैं।

(10) प्रत्येक भाषा की अपनी अलग संरचना होती है—दूसरे शब्दों में, किन्हीं भी दो भाषाओं का ढाँचा पूर्णतया एक नहीं होता है। उनमें ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य या अर्थ आदि में किसी भी एक स्तर पर या एक से अधिक स्तरों पर संरचना या ढाँचे में अंतर अवश्य होता है। यही अंतर उनकी अलग या स्वतंत्र सत्ता का कारण बनता है।

(11) भाषा की धारा स्वभावतः कठिनता से सरलता की ओर जाती है—सभी भाषाओं के इतिहास से भाषा के कठिनता से सरलता की ओर जाने की बात स्पष्ट है। यों भी इसके लिए सीधा तर्क हमारे पास यह है कि मनुष्य का यह जन्मजात स्वभाव है कि कम से कम प्रयास में अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इसी 'कम प्रयास' के प्रयास में वह 'सत्येन्द्र' को 'सतेन्द्र', और फिर 'सतेन' कहने लगता है, और एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब यह केवल 'सति' कहकर ही काम चलाना चाहता है। यह उदाहरण 'ध्वनि' से संबंधित है। किंतु, व्याकरण के रूपों के बारे में भी यही बात है। पुरानी भाषाओं (ग्रीक, संस्कृत आदि) में रूपों और अपवादों का बाहुल्य है, किंतु आधुनिक भाषाओं में रूप कम हो गये हैं, साथ ही नियम बढ़ गये हैं और अपवाद कम हो गये हैं और आगे भी कम होते जा रहे हैं।

भाषा पानी की धारा है जो स्वभावतः ऊँचाई (कठिनाई) के नीचे (सरलता) की ओर जाती है।

(12) भाषा स्थूलता से सूक्ष्मता और अप्रौढ़ता से प्रौढ़ता की ओर जाती है—भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि आरंभ में भाषा स्थूल थी, सूक्ष्म भावों के लिए या विचारों को गहराई से व्यक्त करने के लिए अपेक्षित सूक्ष्मता उसमें नहीं थी, फिर धीरे-धीरे उसने इसकी प्राप्ति की। इसी प्रकार दिन-पर-दिन भाषा में विकास होता रहा है, और वह अप्रौढ़ से प्रौढ़ और प्रौढ़ से प्रौढ़तर होता जा रही है। यह एक सामान्य सिद्धांत तो है, किंतु प्रयोग पर भी निर्भर करता है। आज की हिंदी की तुलना में कल की हिंदी अधिक सूक्ष्म और प्रौढ़ होगी, किंतु संस्कृत की तुलना में आज की हिंदी को सूक्ष्म और प्रौढ़ नहीं कह सकते, क्योंकि उन अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त होकर अभी तक हिंदी विकसित नहीं हुई, जिनमें संस्कृत हजारों वर्ष पूर्व हो चुकी है।

(13) भाषा संयोगावस्था से वियोगावस्था की ओर जाती है—पहले लोगों का विचार था कि भाषा वियोग (व्यवहिति या विश्लेष) से संयोग (संहिति या संश्लेष) की ओर जाती है। कुछ लोगों का यह भी मत रहा है कि बारी-बारी से भाषाओं की जिन्दगी दोनों स्थितियों से गुजरती रहती है। किंतु, अब ये मत प्रायः भ्रामक सिद्ध हो चुके हैं। नवीन मत के अनुसार भाषा संयोग से वियोग की ओर जाती है। संयोग का अर्थ है मिली होने की स्थिति, जैसे 'रामः गच्छति' तथा वियोग का अर्थ है अलग हुई स्थिति, जैसे 'राम जाता है।' संस्कृत में केवल 'गच्छति' (संयुक्त रूप) से काम चल जाता था, पर हिंदी में 'जाता है' (वियुक्त रूप) का प्रयोग करना पड़ता है।

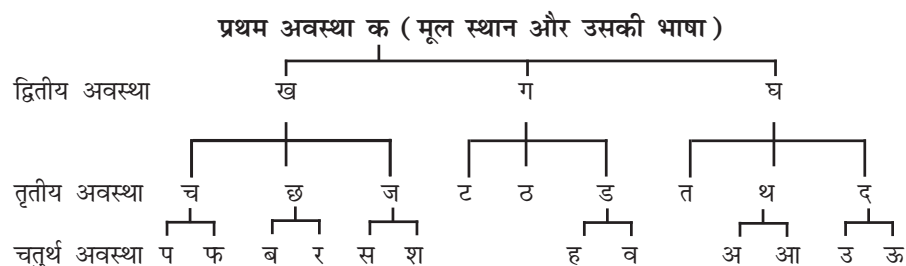
(14) हर भाषा का स्पष्टतः या अस्पष्टतः एक मानक रूप होता है—पीछे 'भाषा के अभिलक्षण' तथा 'भाषा की परिभाषा' में कुछ अल्प विशेषताओं की ओर भी संकेत किया गया है।

1.5 भाषा के विविध रूप

ऊपर भाषा की परिभाषा पर विचार किया जा चुका है। वह सामान्य भाषा थी। मुख्यतः इतिहास, भूगोल (क्षेत्र), प्रयोग, निर्माण, मानकता और मिश्रण इन छः आधारों पर भाषा के बहुत रूप होते हैं। (क) उदाहरण के लिए इतिहास के आधार पर मूल भाषा (जिससे अन्य बहुत-सी निकली हों तथा जिसके किसी अन्य भाषा से निकलने का पता न हो, जैसे भारोपीय), प्राचीन भाषा (जैसे संस्कृत, ग्रीक आदि), मध्यकालीन भाषा (जैसे पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आदि), तथा आधुनिक भाषा (हिंदी, मराठी, अंग्रेजी आदि) का उल्लेख किया जाता है। (ख) भूगोल या क्षेत्र के आधार पर भाषा का सबसे छोटा रूप व्यक्ति बोली (idiolect) का होता है, जो एक व्यक्ति द्वारा बोली जाती है। एक क्षेत्र के बहुत-से लोगों की भाषा स्थानीय बोली (sub-dialect) होती है। यह क्षेत्र की दृष्टि से व्यक्ति बोली से बड़ी होती है। बहुत-सी व्यक्ति-बोलियाँ मिलकर एक स्थानीय बोली बनाती हैं। एकाधिक स्थानीय बोलियाँ मिलकर एक उपबोली (sub-dialect) बनाती हैं, तो एकाधिक उपबोलियाँ मिलकर एक बोली (Dialect), एकाधिक बोलियाँ मिलकर एक उपभाषा (sub-language), या बोली-वर्ग तथा एकाधिक उपभाषाएँ मिलकर एक भाषा। दूसरे शब्दों में एक भाषा के अंतर्गत एकाधिक उपभाषाएँ हो सकती हैं जैसे हिंदी भाषा के अंतर्गत पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी आदि पाँच उपभाषाएँ या बोली वर्ग हैं), एक उपभाषा में एकाधिक

बोलियाँ (जैसे पूर्वी हिंदी में अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी बोलियाँ), एक बोली में एकाधिक उपबोलियाँ (जैसे अवधी में पश्चिमी जौनपुर की 'बनौधी' तथा रायबरेली बछरावाँ आदि में प्रयुक्त बैसवाड़ी आदि), तथा एक उपबोली में कई स्थानीय बोलियाँ (जैसे 'कुमायूनी' बोली की 'रौ-चौभैसी' उपबोली के 'रामगढ़िया' तथा 'छखातिया' आदि स्थानीय रूप)। (ग) प्रयोग के आधार पर बोलचाल की भाषा, 'साहित्यिक भाषा', 'जातीय भाषा', 'व्यावसायिक भाषा', 'दफ्तरी भाषा', 'राजभाषा', 'राष्ट्रभाषा', 'गुप्त भाषा', 'जीवित भाषा', 'मृत भाषा' आदि रूप होते हैं। सहायक संपूरक, परिपूरक, संपर्क तथा समतुल्य भाषा नाम के भाषा-रूप भी प्रयोग पर ही आधारित हैं। (घ) निर्माण के आधार पर सहज भाषा (सामान्य बोलचाल की जैसे हिंदी, अंग्रेजी, जर्मन आदि भाषाएँ) तथा **कृत्रिम भाषा** (जिसे एक या कुछ लोगों ने मिलकर कृत्रिम रूप से बनाया हो। जैसे 'एस्पेरैंतो' तथा 'इडो' आदि। इनके लिए देखिए 'परिशिष्ट') दो भेद होते हैं। कृत्रिम भाषा के दो उपभेद सामान्य (जैसे एस्पेरैंतो) और गुप्त (जैसे सेना, दलालों, डाकुओं आदि की भाषा) है। (ङ) मानकता या शुद्धता के आधार पर या मानक या परिनिष्ठित भाषा (जो बहुत शुद्ध और व्याकरण सम्मत हो, **अमानक भाषा** (जिसमें शुद्ध प्रयोग न हों। जैसे 'मैंने जाना है, मेरे को कान ही पूर जाऊँगा, जाऊँ तो गा लेकिन आज नहीं आदि)। अमानकता ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य अर्थ सभी की हो सकती है), तथा अपभाषा (Slang); यह प्रायः अशिक्षित या अर्धशिक्षित वर्ग के लोगों में चलती है, इसमें अमानक तत्वों के साथ-साथ स्थानीय, बोलचाल के ठेठ और अश्लील शब्दों का भी धड़ल्ले से प्रयोग होता है) आदि भेद होते हैं (च) मिश्रण के आधार पर पिजिन तथा क्रियोल दो भेद होते हैं। इनमें से कुछ मुख्य भाषा-रूपों को नीचे अलग से लिया जा रहा है।

(1) **मूल भाषा**—भाषा का यह भेद इतिहास पर आधारित है। भाषा की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में उन स्थानों में हुई होगी जहाँ बहुत से लोग एक साथ रहते रहे होंगे। ऐसे स्थानों में किसी एक स्थान की भाषा, जो आरंभ में उत्पन्न हुई होगी, तथा आगे चलकर जिससे ऐतिहासिक और भौगोलिक आदि कारणों से अनेक भाषाएँ, बोलियाँ तथा उपबोलियाँ आदि बनी होंगी, मूल भाषा कही जायेगी। भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का आधार यही मान्यता है। संसार में उतने की भाषा-परिवार माने जायेंगे, जितनी कि मूल भाषाएँ मानी जायेंगी। उदाहरण के लिए, हम अपने भारोपीय परिवार की भाषाओं को ही लें तो इसकी मूल भाषा भारोपीय (Indo-European) भाषा थी, जिसका प्रादुर्भाव एक साथ रहने वाले कुछ लोगों में हुआ। भौगोलिक परिस्थितियों ने भाषा के विकास एवं शाखाओं में बाँटने का कार्य वहीं से आरंभ कर दिया था। मूल स्थान पर कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् जब वहाँ की जनसंख्या अधिक हो गई और भोजन आदि की कमी पड़ने लगी तो कुछ लोग तो संभवतः वहीं रह गये और कुछ लोग कई शाखाओं में बँटकर अलग-अलग दिशाओं में चल पड़े। चलने के समय उन भिन्न-भिन्न शाखाओं की भाषा कुछ स्थानीय अंतरों को छोड़कर प्रायः लगभग एक-सी रही होगी। थोड़ी दूर चलकर उन शाखाओं ने अपने-अपने अड्डे बनाये होंगे। उन नवीन अड्डों पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण उनके जीवन में परिवर्तन आया होगा और तदनुसार उनकी भाषा में भी विकास हुआ होगा। दो-एक सदी या दस-बीस पीढ़ी के उपरान्त अलग-अलग बसने वाली उन शाखाओं की भाषा में आपस में काफी भिन्नता आ गई होगी। कुछ दिनों के बाद वे नवीन स्थान भी जनसंख्या आदि के बढ़ने से अपर्याप्त सिद्ध हुए होंगे और प्रत्येक शाखा में कई प्रशाखाएँ फूटकर इधर-उधर चलकर नवीन स्थानों पर बसी होंगी। फिर वहाँ उनका विकास हुआ होगा और तदनुकूल उनकी भाषाएँ भी अलग रूपों में विकसित या परिवर्तित हुई होंगी। इसे वंश-वृक्ष में यों रखा जा सकता है—



(2) **व्यक्ति-बोली**—एक व्यक्ति की भाषा को व्यक्ति-बोली कहते हैं। एक दृष्टि से भाषा का यह संकीर्णतम या लघुतम रूप है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से गहराई में जाकर यह भी कहा जा सकता है कि मनुष्य हर

नोट

क्षण बदलता रहता है। 'राम' या 'मोहन' दो बजकर एक मिनट या एक सेकेंड पर वहीं 'राम' या 'मोहन' नहीं रहते, जो ठीक दो बजे रहते हैं। ऐसी स्थिति में उनकी 'व्यक्ति-बोली' भी सर्वदा एक नहीं रहती, अर्थात् दो बजे राम की जो व्यक्ति-बोली होगी, दो बजकर एक या दो मिनट पर उससे भिन्न कोई दूसरी व्यक्ति-बोली होगी, चाहे यह अन्तर कितना ही कम और सूक्ष्म क्यों न हो। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि किसी एक व्यक्ति की किसी एक समय की भाषा ही सच्चे अर्थों में व्यक्ति-बोली है। किंतु, साथ ही किसी व्यक्ति की जन्म से मृत्यु तक की बोली को भी 'व्यक्ति-बोली' कहा जा सकता है पर सच्चे अर्थों में, व्यक्ति-बोली, इस दूसरे अर्थ में पहले अर्थ का पूरा ऐतिहासिक विकास है, क्योंकि जन्म से मृत्यु तक भाषा का एक रूप नहीं हो सकता। आदि से अंत तक उसमें कुछ न कुछ विकास होता रहता है।

(3) उपबोली या स्थानीय बोली—भाषा का यह रूप भूगोल पर आधारित है। एक छोटे-से क्षेत्र में इसका प्रयोग होता है। यह बहुत-सी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप है। हम कह सकते हैं कि 'किसी छोटे क्षेत्र की ऐसी व्यक्ति-बोलियों का सामूहिक रूप, जिनमें आपस में कोई स्पष्ट अंतर न हो, स्थानीय बोली या उपबोली कहलाती है।' एक बोली के अंतर्गत कई उपबोलियाँ होती हैं। किसी बोली के वर्णन में जब हम उसके दक्षिणी, पश्चिमी, मध्यवर्ती आदि उपरूपों की बात करते हैं तो हमारा आशय उपबोली या स्थानीय बोली से ही होता है। भोजपुरी, अवधी, ब्रज आदि बोलियों में इस प्रकार की कई उपबोलियाँ हैं।

हिंदी में कुछ लोगों ने भाषा के इस रूप के लिए 'बोली' नाम का प्रयोग किया है, किंतु 'बोली' का प्रयोग अंग्रेजी डाइलेक्ट (dialect) के लिए प्रायः चल पड़ा है, अतः इसके लिए उसका प्रयोग न करना ही उचित है। भाषा के इस रूप के लिए अंग्रेजी में 'सब-डाइलेक्ट' (sub-dialect) शब्द चलता है, उस आधार पर 'उपबोली' शब्द ठीक है। अंग्रेजी में इसके बहुत निकट के अर्थ में एक फ्रांसीसी शब्द 'पैटवा' (patois) भी चलता है। 'पैटवा' डाइलेक्ट या बोली का एक उपरूप तो है, किंतु उसकी कुछ और विशेषताएँ भी हैं और इसी कारण उसे ठीक अर्थों में 'उपबोली' या 'सब-डाइलेक्ट' का समानार्थी नहीं माना जा सकता, जैसा कि डॉ. श्यामसुन्दरदास आदि हिंदी के कुछ भाषा विज्ञानवेत्ताओं ने माना है। यूरोप और अमेरिका के भाषा विज्ञानविदों ने 'पैटवा' का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसमें प्रायः चार बातें सम्मिलित हैं—(1) यह बोली से अपेक्षाकृत छोटा, स्थानीय रूप है। (2) यह असाहित्यिक होती है। (3) यह असाधु होती है। (4) यह अपेक्षतया निम्न सामाजिक स्तर के अशिक्षितों द्वारा प्रयुक्त की जाती है। कहना न होगा कि इनमें केवल पहली बात ही उपबोली में होती है और बातें हो भी सकती हैं, नहीं भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, राजस्थानी के अंतर्गत ऐसी उपबोलियाँ हैं, जिनमें साहित्यिक रचनाएँ हुई हैं। ऐसी स्थिति में वे उपबोली तो हैं, किंतु 'पैटवा' नहीं। अतएव 'उपबोली' को 'पैटवा' नहीं कहा जा सकता।

बोली और भाषा—जैसे बहुत-सी व्यक्ति-बोलियों, जो आपस में प्रायः पर्याप्त साम्य रखती हों, का सामूहिक रूप उपबोली है, उसी प्रकार बहुत-सी मिलती-जुलती उपबोलियों का सामूहिक रूप बोली है, और मिलती-जुलती बोलियों का सामूहिक रूप भाषा है। दूसरे शब्दों में, यह भी कह सकते हैं कि एक भाषा क्षेत्र में कई बोलियाँ होती हैं (जैसे हिंदी-क्षेत्र में खड़ी बोली, ब्रज, अवधी आदि बोलियाँ हैं) और एक बोली में कई उपबोलियाँ (जैसे बुन्देली बोली के अंतर्गत लोधान्ती, राठौरी तथा पँचारी आदि उपबोलियाँ)।

बोली शब्द यहाँ अंग्रेजी डाइलेक्ट (dialect) का प्रतिशब्द है। कुछ हिंदी के भाषाविज्ञानविद् बोली के लिए 'विभाषा', 'उपभाषा' या 'प्रान्तीय भाषा' का भी प्रयोग करते हैं।

ऊपर जिन चार व्यक्ति-बोली, उपबोली, बोली और भाषा के नाम लिये गये हैं, उनमें भाषा विज्ञान की दृष्टि से विशेष महत्त्व केवल अंतिम दो—बोली और भाषा—का है।

एक भाषा के अंतर्गत कई बोलियाँ होती हैं, या बोली का क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा होता है और भाषा का बड़ा। इस रूप में बोली का स्वरूप स्पष्ट है, किंतु प्रकृति की दृष्टि से भाषा और बोली में अंतर करना बड़ा कठिन है, फिर भी काम चलाने के लिए बोली की परिभाषा, बल्कि व्याख्या (भाषा से अलग) कुछ इस प्रकार दी जा सकती है—

'बोली' किसी भाषा के एक ऐसे सीमित क्षेत्रीय रूप को कहते हैं जो ध्वनि, रूप, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरे आदि की दृष्टि से, उस भाषा के परिनिष्ठित तथा अन्य क्षेत्रीय रूपों से भिन्न होता है, किंतु इतना भिन्न नहीं कि अन्य रूपों के बोलने वाले उसे समझ न सकें, साथ ही जिसके अपने क्षेत्र में कहीं भी बोलने वालों के उच्चारण, रूप-रचना, वाक्य-गठन, अर्थ, शब्द-समूह तथा मुहावरों आदि में कोई बहुत स्पष्ट और महत्वपूर्ण भिन्नता नहीं होती।

एक भाषा के अंतर्गत जब कई अलग-अलग रूप विकसित हो जाते हैं तो उन्हें 'बोली' कहते हैं। सामान्यतः

कोई 'बोली' तभी तक 'बोली' कही जाती है जब तक उसे (1) साहित्य, धर्म, व्यापार या राजनीति के कारण महत्त्व न प्राप्त हो, या (2) जब तक पड़ोसी बोलियों से उसे भिन्न करने वाली उसकी विशेषताएँ इतनी न विकसित हो जाएँ कि पड़ोसी बोलियों के बोलने वाले उसे समझ न सकें। इन दोनों में किसी एक (या दोनों) की प्राप्ति करते ही बोली 'भाषा' बन जाती है। अंग्रेजी, हिंदी, रूसी, संस्कृत, ग्रीक तथा अरबी आदि विश्व की सभी भाषाएँ अपने आरंभिक रूप में बोली रही होंगी, और बाद में महत्त्व प्राप्त होने पर या विकास के कारण पूर्णतः भिन्न हो जाने पर वे भाषा बन गईं। इसी प्रकार आज बोली कहलाने वाली भोजपुरी, अवधी तथा मैथिली आदि उपर्युक्त कारणों से भाषाएँ बन सकती हैं।

बोलियों के बनने का कारण—बोलियों के बनने का कारण प्रमुखतः भौगोलिक है। मूल भाषा के चित्र में प्रथम अवस्था में 'क' एक भाषा थी उससे 'ख', 'ग' और 'घ' शाखाएँ फूटकर अलग-अलग चली गईं और एक-दूसरे से इतनी दूर जा बसीं कि आपस में किसी प्रकार का संबंध संभव न था। एक शाखा के लोग दूसरी शाखा के लोगों से मिलकर बातचीत नहीं कर सकते थे। फल यह हुआ कि तीनों शाखाओं में कुछ विशेषताएँ विकसित हो गईं और इस प्रकार तीनों अलग-अलग बोलियाँ हो गईं। किसी भाषा की एक शाखा का अन्य से संबंध-विच्छेद या अलग होना ही बोली के बनने का प्रधान कारण है। ऐसा भी होता है कि यदि कोई भाषा बहुत दिन से एक बड़े क्षेत्र में बोली जा रही है और उस क्षेत्र में एक उपक्षेत्र के लोग दूरी के कारण दूसरे उपक्षेत्र के लोगों से नहीं मिल पाते, तो उन दोनों या अधिक उपक्षेत्रों में भी बोलियाँ विकसित हो जाती हैं। हिंदी में अवधी, ब्रज आदि इसी प्रकार विकसित हो गई हैं। भूकंप या जल-प्लावन से भी ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं। एक क्षेत्र के बीच में व्यवधान आ जाता है, अतः लोग मिल नहीं पाते और बोलियाँ विकसित हो जाती हैं। बहुधा यह देखा जाता है कि किसी बड़ी नदी के दोनों ओर की बस्तियाँ भाषा की दृष्टि से कुछ अंतर रखती हैं। यह भी उसी का द्योतक है।

कभी-कभी राजनैतिक या आर्थिक कारणों से कुछ लोग भाषा के क्षेत्र से बहुत दूर जाकर बस जाते हैं और वहाँ भी उनकी नयी बोली विकसित हो जाती है। मध्य यूरोप में जर्मन भाषा का क्षेत्र था। वहाँ से लोग इंग्लैंड में बस गये और अंग्रेजी उसकी एक अलग बोली बन गई। कभी आसपास की भाषाओं या दूर की भाषाओं के प्रभाव के कारण भी एक भाषा में एक क्षेत्रीय रूप विकसित हो जाता है और वह बोली का रूप धारण कर लेता है।

बोलियों के महत्त्व पाने का कारण—जैसा कि ऊपर कहा गया है, कुछ बोलियाँ किसी प्रकार महत्त्व की प्राप्ति कर धीरे-धीरे बोली से भाषा बन जाती हैं। बोलियों के महत्त्व पाकर 'भाषा' की संज्ञा पाने के प्रधान कारण निम्नांकित हैं—

(क) कुछ बोलियाँ जब अपनी अन्य बहनों से बिल्कुल अलग हो जाती हैं, या अपनी अन्य बहनों के मर जाने के कारण अकेली बच जाती हैं तो उन्हें महत्त्वपूर्ण समझा जाने लगता है और वे 'भाषा' की संज्ञा से विभूषित हो जाती हैं। 'ब्राहुई' प्रथम कारण से ही भाषा कहलाती है।

(ख) साहित्य की श्रेष्ठता के कारण भी कुछ बोलियाँ महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। प्राचीन काल में मध्यदेशीय बोली साहित्य के लिए प्रयुक्त होती थी, अतः उसका अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाना स्वाभाविक था।

(ग) धार्मिक श्रेष्ठता भी बोली का महत्त्व बढ़ा देती है। राम-संबंधी प्रधान तीर्थ अयोध्या है, तथा कृष्ण-संबंधी मथुरा। फल यह हुआ कि दोनों स्थानों की बोलियों (अवधी और ब्रज) को औरों की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिला और कई सदियों तक साहित्य की भाषा बनी रही। 'ब्रज' का तो नाम ही 'ब्रजभाषा' हो गया था। इसी प्रकार 'खड़ी बोली' को महत्त्व प्रदान करने में आर्य समाज का भी हाथ रहा है।

(घ) बोलने वालों का महत्त्वपूर्ण होना भी बोली को महत्त्वपूर्ण बना देता है। अंग्रेजी जो मूलतः एक बोली है, अंग्रेजी के आधुनिक युग में विश्वभर में अपना व्यापार फैला देने से तथा उनके महत्त्वपूर्ण होने से आज विश्व की व्यापारिक भाषा एवं अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनी हुई है। चाहे जर्मनी हो, चाहे जापान, और चाहे चीन हो या फ्रांस, सभी लोग अपनी बनाई पुस्तकों पर प्रायः अंग्रेजी में ही 'मेड-इन' (Made in) आदि लिखते हैं। इसी प्रकार विदेश जाने के लिए भी अंग्रेजी जानना आवश्यक माना जाता है, क्योंकि इसका प्रचार प्रायः सर्वत्र है, यद्यपि अब यह स्थिति कुछ समाप्त होती सी दिख रही है।

(ङ) बोली के प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण होने का सबसे बड़ा कारण है राजनीति। जहाँ राजनीति का केन्द्र होगा, वहाँ की बोली अवश्य की महत्त्वपूर्ण होकर भाषा बन जायेगी। दिल्ली के समीप की खड़ी बोली आज हिंदी भाषा भाषी प्रान्तों की प्रमुख भाषा है, और उसने मैथिली, अवधी और ब्रज जैसी प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण बोलियों को भी

नोट

दबाकर भाषा ही नहीं, राज एवं राष्ट्रभाषा के स्थान को अपना लिया है। इसी प्रकार पेरिस की फ्रेंच और लंदन की अंग्रेजी बोलियाँ, अपनी अन्य बहनों से बहुत आगे निकल गई हैं और अपने देश की राष्ट्रभाषा बन बैठी है। मराठी की कोंकणी, मारवाड़ी और बरार आदि बोलियाँ ही रह गई; पर पूना की बोली आज वहाँ की साहित्यिक भाषा है। चीन की मन्दारिन बोली की भी यही दशा है। इस प्रकार के उदाहरण सभी देशों में मिल सकते हैं।

इन सबके अतिरिक्त शिक्षा का माध्यम बन जाने के कारण, सेना में स्वीकृत होने के कारण, व्यापार में प्रयुक्त होने के कारण, तथा विज्ञान आदि में व्यवहृत होने के कारण भी बोली महत्त्व प्राप्त कर लेती है।

इस प्रसंग में एक बात की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि यह जरूरी नहीं है कि महत्त्व प्राप्त करके बोली भाषा बन ही जाए। यह भी होता है कि महत्त्व प्राप्त करके भी बोली, बोली ही रह जाती है, या कभी-कभी थोड़े दिन के लिए महत्त्व मिलता है और फिर छिन जाता है। 'ब्रज', 'अवधी' के संबंध में ऐसा ही हुआ है।

(4) मानक या परिनिष्ठित भाषा—सभ्यता के विकसित होने पर यह आवश्यक हो जाता है कि एक भाषा क्षेत्र (जिसमें कई बोलियाँ हों) की कोई एक बोली मानक मान ली जाए और पूरे क्षेत्र से संबंधित कार्यों के लिए उसका प्रयोग हो। उसे मानक या परिनिष्ठित भाषा कहा जाता है, और वह पूरे क्षेत्र के प्रमुखतः शिक्षित वर्ग के लोगों की शिक्षा, पत्र-व्यवहार या समाचार-पत्रादि की भाषा हो जाती है। साहित्य आदि में भी प्रायः उसी का प्रयोग होता है।

एक बोली जब मानक भाषा बनती है और प्रतिनिधि हो जाती है तो आसपास की बोलियों पर उसका पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। आज की खड़ी बोली ने ब्रज, अवधी, भोजपुरी सभी को प्रभावित किया है। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि मानक भाषा आसपास की बोलियों को बिल्कुल समाप्त कर देती है। रोम की लैटिन जब इटली की मानक भाषा बनी तो आसपास की बोलियाँ शीघ्र ही समाप्त हो गईं, पर ऐसा बहुत की कम होता है।

मानक भाषा के तत्कालीन रूप को लेकर उसका उच्चारण और व्याकरण आदि निश्चित कर दिया जाता है और फल यह होता है कि मानक भाषा स्थिर हो जाती है और कुछ दिन में उसका रूप प्राचीन पड़ जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आज की खड़ी बोली का लिखित रूप जीवित बोली से उच्चारण तथा शब्द-समूह आदि सभी दृष्टियों से कम-से-कम चालीस वर्ष पीछे है। व्याकरण में भी कुछ परिवर्तन आ गया है।

मानक भाषा का रूप पूरे क्षेत्र में एक ही नहीं होता। प्रादेशिक बोलियों का प्रभाव भी उस पर कुछ पड़ता है। यह प्रभाव व्याकरण और शब्द-समूह तथा उच्चारण तीनों में ही देखा गया है। भोजपुरी लोग 'दिखाई दे रहा है' के स्थान पर 'लौक रहा है' तथा 'हमने काम किया' के स्थान पर 'हम काम किये' का प्रयोग करते हैं। पंजाबी लोगों ने भी आदर्श हिंदी पर अपनी पॉलिश कर दी है और खड़ी बोली हिंदी का 'हमको जाना है' वाक्य उनके बीच 'हमने जाना है' हो गया है।

मानक भाषा के मौखिक और लिखित रूप—मानक भाषा के प्रादेशिक रूपों के अतिरिक्त लिखित और मौखिक भी दो रूप होते हैं। सभी मौखिक भाषाएँ अपने लिखित रूपों से प्रायः भिन्न होती हैं। बोलने में सर्वदा ही वाक्य छोटे-छोटे रहते हैं। पर, लिखित रूप के वाक्य अधिकतर बड़े हो जाते हैं। कादम्बरी के वाक्य कहीं-कहीं पृष्ठ पार कर जाते हैं, पर बोलचाल की संस्कृत कभी भी ऐसी न रही होगी। इस प्रकार मौखिक रूप स्वाभाविक है और लिखित रूप कृत्रिम। ये बातें मानक भाषा में भी पायी जाती हैं।

मानक भाषा के लिखित रूप पर मौखिक रूप की अपेक्षा प्रादेशिकता की छाप कम रहती है, क्योंकि लिखने में लोग अपेक्षाकृत अधिक सतर्क रहते हैं।

लिखित रूप मौखिक की अपेक्षा अधिक संस्कृत रहता है।

(5) अपभाषा (Slang)—जैसे कि नाम से ही स्पष्ट है, 'अपभाषा' भाषा का वह रूप है, जिसे परिनिष्ठित एवं शिष्ट भाषा की तुलना में विकृत या अपभ्रष्ट समझा जाता है। यह विशेष तबके के लोगों में प्रयुक्त होती है। भाषा के आदर्श रूप की तुलना में इसमें अधोलिखित विशेषताएँ मिलती हैं : (क) अपरिनिष्ठित रूपों का प्रयोग, जैसे हिंदी में करा (किया), मेरे को (मुझे या मुझको), गया (गया), आदि। (ख) अपरिनिष्ठित वाक्य-रचना, जैसे हिंदी में 'मैंने जाना है' या 'मुझ पर रुपये नहीं हैं' आदि। (ग) अश्लीलता, जैसे परिनिष्ठित हिंदी में अश्लील समझे जाने वाले शब्दों का प्रयोग। (घ) परिनिष्ठित भाषा द्वारा अगृहीत मुहावरों आदि का प्रयोग।

(6) राष्ट्रभाषा (National Language)—आदर्श भाषा तो केवल उसी क्षेत्र में रहती है, जिसकी वह एक बोली होती है, जैसे हिंदी खड़ी बोली राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा बिहार आदि की परिनिष्ठित या आदर्श भाषा है। किंतु जब कोई बोली आदर्श भाषा बनने के बाद भी उन्नत होकर और भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है तथा पूरे राष्ट्र

या देश में अन्य भाषा-क्षेत्र तथा अन्य भाषा-परिवार-क्षेत्र में भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों आदि में होने लगता है तो वह राष्ट्रभाषा का पद पा जाती है। हिंदी को धीरे-धीरे भारतवर्ष में लगभग यही स्थान प्राप्त हो रहा है। वह अपने परिवार के अहिंदी प्रान्तों (राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल आदि) तथा अन्य परिवार के प्रान्तों (मद्रास, आदि) में भी धीरे-धीरे व्यवहार में आती जा रही है। पूरे यूरोप में कुछ दिन तक फ्रेंच को भी यही स्थान प्राप्त था। व्यापार आदि के क्षेत्र में अंग्रेजी आज विश्वभाषा या विश्व की अंतर्राष्ट्रीय भाषा है। किसी बोली की चरम सीमा उसका किसी रूप में विश्वभाषा होना ही है।

(7) विशिष्ट भाषा—व्यवसाय या कार्य आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों की अलग-अलग भाषाएँ हो जाती हैं। ये भाषाएँ आदर्श भाषा के ही विभिन्न रूप होती हैं, जो अधिकतर शब्द-समूह, मुहावरे तथा प्रयोग आदि में एक-दूसरे से भिन्न होती हैं। कभी-कभी उच्चारण संबंधी अंतर भी दिखाई देता है। विद्यार्थियों की भाषा या छात्रावास की भाषा, व्यापारियों की भाषा, सोने-चाँदी के दलालों की भाषा, कहारों की भाषा, धार्मिक संघों की भाषा, राजनयिक भाषा, राजनैतिक संस्थाओं की भाषा तथा साहित्यिक गोष्ठियों की भाषा इसी अर्थ में विशिष्ट है। किसी पर अंग्रेजी का प्रभाव अधिक रहता है तो किसी पर संस्कृत का और किसी पर गाँव की बोलियों का तो किसी पर गूढ़ या पारिभाषिक शब्दों का।

(8) कृत्रिम भाषा—भाषा के ऊपर दिये गये रूप स्वाभाविक रूप से विकसित होकर बनते हैं, किंतु इनके विरुद्ध, कृत्रिम भाषा बनायी जाती है। इसके दो रूप किये जा सकते हैं—(क) गुप्त भाषा और (ख) सामान्य भाषा। यहाँ इन दोनों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा सकता है।

(क) गुप्त भाषा

गुप्त भाषा का प्रयोग प्रायः सेना, गुप्तचर विभाग, चोरों, डाकुओं, क्रांतिकारियों तथा लड़कों आदि में होता है। इसका प्रमुख उद्देश्य अपनी बात को अनपेक्षित लोगों को न मालूम होने देना है। विनोद में भी इसका प्रयोग करते हैं। एक अंग्रेज ने उत्तर प्रदेश के जरायम पेशावालों की गुप्त भाषा का अध्ययन किया था। ये लोग कुछ शब्दों को तोड़-मरोड़कर तथा कुछ सामान्य शब्दों को नये अर्थों में प्रयुक्त कर, अपनी गुप्त भाषा इस प्रकार की बनाते हैं, जिनको दूसरे समझ न सकें। इस प्रकार के कुछ उदाहरण बड़े मनोरंजक हैं—

शब्द या प्रयोग	अर्थ
दामोदर	उदर या फेटे में दाम या धन है
नारायण	नाले में ले चलो या नाले में है
बासदेब	डंडे से मारो, बाँस दो
परसाद दो	जहर दो
अमर करो	मार डालो

भारत के आजाद होने के पूर्व यहाँ के आतंकवादियों एवं क्रांतिकारियों में भी इस प्रकार की कुछ गुप्त भाषाएँ तथा लिपियाँ प्रचलित थीं। इन पंक्तियों के लेखक को भी इस जीवन का कुछ अनुभव है। मुझे याद है कि एक नेता को एक बार बुलाने के लिए उन्हें तार में केवल 'ऐबसेंट' (absent = अनुपस्थित) लिखा गया था, और वे पूर्व निर्णय के अनुसार आ गये थे।

लड़कों में गुप्त भाषा की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। बाल्यावस्था में प्रायः ऐसी तीन-चार गुप्त बोलियाँ प्रचलित होती थीं। जिसमें दो लड़के घंटों बात करते थे या कर सकते थे। दूसरी बोली वाले उसमें कुछ भी नहीं समझ पाते थे। वह है—

राकस्तूरी पजा बीरे मकस्तूरी मासा = राम

गकस्तूरी पंजा बीरे याकस्तूरी मासा = गया

इनमें इन दोनों स्थानों पर एक-एक अक्षर रखकर, शब्द और वाक्य बनाये जाते थे।

कुछ लोग र् और म् लगाकर बोलते थे, पर यह भाषा सुरक्षित नहीं समझी जाती थी। जैसे—

मरमैं खरमाना खरमा करमर जरमाऊँ गरमा—मैं खाना खाकर जाऊँगा।

सबसे आसान रास्ता 'फुल' लगाकर था—

फूलभो फुलला फुलना फुलथ—भोलानाथ

इलाहाबाद के समीप के कुछ गाँवों में 'अर्फ' लगाकर गुप्त रूप से बोलने का प्रचार है। जैसे—

नोट

‘हम जात अही’ के लिये—हर्फम जर्फात अर्फही

या

‘तू आज आया’ के लिये ‘तुर्फ अर्फाज अर्फाया’

शब्दों में अक्षर उलट कर या हर अक्षर के बाद ‘स’ या अन्य अक्षर रखकर भी गुप्त भाषाओं का निर्माण लोग करते हैं।

कभी-कभी गुप्त भाषाओं की अलग लिपि भी होती है। एक उदाहरण देखिए—जो बाँगला, अंग्रेजी, उर्दू और नागरी के आधार पर थी—

चले आना = ब ALEA न A

गुप्त भाषा प्रतीकात्मक शब्द, नये शब्द, अंक, शब्दों या रूपों के आरंभ, मध्य या अंत में ध्वनि-योग तथा विपर्यय आदि की सहायता से प्रायः बनाई जाती है।

(ख) सामान्य भाषा

कृत्रिम भाषा के प्रथम रूप ‘गुप्त भाषा’ में हमने देखा कि भाषाएँ स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर बनाई रहती हैं। ‘सामान्य कृत्रिम भाषा’ और ‘गुप्त कृत्रिम भाषा’ में अंतर यह है कि गुप्त भाषा बातचीत के लिए बनती है, अतः प्रचलित भाषा से अधिकाधिक दूर रखी जाती है, ताकि कोई समझ न सके। किन्तु सामान्य भाषा में यह बात नहीं रहती। वह प्रचलित भाषा से मिलती-जुलती है और ऐसी बनाई जाती है कि यथाशीघ्र लोग उसे समझ कर उसका प्रयोग कर सकें।

डॉ. जमेनहाफ की बनाई एसपरैतो भाषा ऐसी भाषाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह संसारभर के लिए बनाई गई है। इसका बहुत से देशों में प्रचार है और विज्ञापन-संबंधी, तथा कुछ अन्य विषयों की भी, अनेक पत्रिकाएँ इस कृत्रिम भाषा में निकलती हैं। कुछ रेडियो-स्टेशनों से कभी-कभी इस कृत्रिम भाषा में प्रोग्राम भी सुनने में आते हैं। संसार के अनेक शहरों की भाँति दिल्ली में भी इसके पढ़ाने की व्यवस्था है। इसके लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संस्था है जो सारे संसार में इसके पूर्ण प्रचार के लिए प्रयत्नशील है। इस प्रकार की एक दर्जन से ऊपर भाषाएँ बनाई जा चुकी हैं, जिनमें ‘इडो’, ‘नोवियल’, ‘इंटरलिंग्वा’, ‘ऑक्सिडेंटल’ आदि प्रमुख हैं।

1.6 भाषा के कुछ अन्य रूप

ऊपर मूल भाषा, व्यक्ति-बोली, अपभाषा, उपबोली, बोली, भाषा, परिनिष्ठित भाषा, राष्ट्रभाषा, विशिष्ट भाषा तथा कृत्रिम भाषा पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। भाषा के कुछ अन्य (भाषा विज्ञान में अपेक्षाकृत कम प्रचलित) रूप इस प्रकार हैं।

1. **साहित्यिक भाषा**—जिसका प्रयोग साहित्य में होता है। बोलचाल की भाषा की तुलना में प्रायः यह कुछ कम विकसित, कुछ अलंकृत, कुछ कठिन तथा कुछ परंपरागामिनी होती है। इसे काव्य भाषा भी कहते हैं।

2. **जीवित भाषा**—जो आज भी प्रयोग में हो, जैसे ‘हिंदी’।

3. **मृत भाषा**—जो आज प्रयोग में नहीं है, जैसे ‘हिट्टाइट’।

4. **राजभाषा**—जिसका प्रयोग राज्य के कामों में होता है। संविधान के अनुसार हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा न होकर राजभाषा (Official Language) है, और वैधानिक दृष्टि से उसे राज्यभाषा ही कहना चाहिए, न कि राष्ट्रभाषा।

5. **जातिभाषा**—जिसका प्रयोग केवल जाति-विशेष में होता है। पीछे विशिष्ट भाषा में कहारों की भाषा की ओर संकेत किया जा चुका है। भील, मुसहर, बनिया, कायस्थ, ब्राह्मण आदि की बोलियाँ जातिभाषाएँ ही हैं। भाषा या बोली से इन जातीय रूपों में ध्वनि, सुर, शब्द-समूह या मुहावरे संबंधी विशेषताएँ होती हैं। यह प्रायः देखा जाता है कि एक ही गाँव में ब्राह्मण की बोली कुछ और होती है, कायस्थ की कुछ और, तथा मुसहर आदि तथाकथित छोटी जातियों की कुछ और।

6. **स्त्री-भाषा**—जिसका प्रयोग केवल स्त्रियाँ करें। उर्दू की ‘रेख्ती’ इसी श्रेणी में आती है। ‘करीब’ नाम की एक जंगली जाति में इस प्रकार का भेद और भी स्पष्ट है। वहाँ पुरुष ‘करीब’ बोली का प्रयोग करते हैं, किंतु स्त्रियाँ ‘अरोवक’ नाम की बोली का प्रयोग करती हैं, जो उसी का उससे पर्याप्त भिन्न एक रूप है। कैलिफोर्निया के उत्तरी

भाग में 'यन' नामक आदिवासियों में भी स्त्री और पुरुष की भाषा में पर्याप्त भेद है। वैसे सामान्यतः सभी बोलियों की दृष्टि से दोनों में अंतर होता है।

7. पुरुष भाषा—जिसका प्रयोग केवल पुरुष करें। ऊपर स्त्री-भाषा में इसके उदाहरण दिये गये हैं।

8. बच्चों की भाषा—बच्चों की भाषा भी थोड़ी अलग होती है। हिंदी में बच्चों की भाषा में मम (पानी), सूसू (पिशाब), छीछी (पाखाना), पुच्ची (प्यार), मिट्ठी (चुंबन), छी, पॉटी (टट्टी, पाखाना), हप्पा, अप्पा (खाना), निन्नी (नींद) आदि शब्द चलते हैं।

ग्राम्य, शिष्ट, अशिष्ट, साधु, असाधु, विकृत आदि भी भाषा के और बहुत से रूप हो सकते हैं।

9. मिश्रित भाषा—जिसमें एक से अधिक भाषाओं का मिश्रण हो। बन्दरगाहों आदि पर ऐसी भाषा प्रायः सुनाई पड़ती है। चीन के कुछ नगरों में प्रयुक्त 'पिजिन इंगलिश' इसका अच्छा उदाहरण है। कलकतिया हिंदी, बंबईया हिंदी भी एक सीमा तक वही है। **लेबिदोफ** ने अपने 'हिन्दुस्तानी व्याकरण' में ऐसी ही कलकतिया भाषा को लिया है। भूमध्य सागर के बन्दरगाहों में प्रयुक्त 'सबीर' भाषा (ग्रीक, अरबी, फ्रेंच, स्पैनिश तथा इतालवी आदि के मिश्रण से बनी) या 'मारिशस' की 'क्रियोल' भी इसी श्रेणी की है।

10. सहायक भाषा—वह भाषा जो सामाजिक संप्रेषण के लिए प्रयुक्त न होकर ज्ञानवर्द्धन के लिए प्रयुक्त होती है। जैसे संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, अवेस्ता आदि क्लासिकी भाषाएँ। इसे 'पुस्तकालीय भाषा' भी कहते हैं।

11. समपूरक भाषा—पर्यटकों तथा राजनयिकों आदि के द्वारा सीमित प्रयोग के लिए सीखी जाने वाली भाषा।

12. परिपूरक भाषा—मातृभाषा के साथ-साथ सामाजिक स्तर पर पूरक के रूप में प्रयुक्त होने वाली भाषा। जैसे भारत में अंग्रेजी।

13. संपर्क भाषा—जो अन्य लोगों से संपर्क के काम आये। हिंदी धीरे-धीरे भारत की संपर्क भाषा बनती जा रही है। एक ही भाषा परिपूरक और संपर्क दोनों भी हो सकती है।

14. समतुल्य भाषा—जब कोई व्यक्ति धीरे-धीरे किसी भाषा का उन सभी सामाजिक संदर्भों में प्रयोग करने लगे, जिसमें वह मातृभाषा का प्रयोग करता रहा है तो उसे समतुल्य भाषा कहते हैं। उदाहरण के लिए, विभिन्न देशों से बहुत लोग अमेरिका में जाकर अपनी मातृभाषा को छोड़कर प्रायः मातृभाषा के रूप में अंग्रेजी ही बोलने लगे हैं, अतः अंग्रेजी उनके लिए समतुल्य भाषा हो गई है।

1.7 भाषा और बोली में अंतर

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, भाषा और बोली में शुद्ध भाषा वैज्ञानिक स्तर पर भेद बतलाना कठिन है। इनमें अंतर तात्त्विक न होकर व्यावहारिक है। इसे अनेक विद्वानों ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। यों सामान्यतः कुछ बातें कही जा सकती हैं:

(क) जैसा कि ऊपर कहा गया है, भाषा का क्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा होता है तथा बोली का छोटा। (ख) एक भाषा की एक या अधिक बोलियाँ हो सकती हैं। इसके विपरीत भाषा बोली के अंतर्गत नहीं आती, अर्थात्, किसी बोली में एक या अधिक भाषाएँ नहीं हो सकती। (ग) बोली किसी भाषा से ही उत्पन्न होती है। इस प्रकार भाषा बोली में माँ-बेटी का संबंध है। (घ) बोधगम्यता के आधार पर भी इस संबंध में कुछ उपादेय बातें कही जा सकती हैं। यदि दो व्यक्ति जिनका बोलना ध्वनि, रूप आदि की दृष्टि से एक नहीं है, किंतु वे एक-दूसरे की बातें काफी समझ लेते हैं तो उनकी बोलियाँ किसी एक भाषा की बोलियाँ हैं, अर्थात् पारस्परिक बोधगम्यता किसी एक भाषा की कसौटी है। इसके विपरीत, विभिन्न भाषाओं के बीच या तो यह बोधगम्यता बिल्कुल नहीं (अंग्रेजी-हिंदी) होती, या कम (पंजाबी-हिंदी) होती है। यों यह बोधगम्यता का आधार भी बहुत तात्त्विक नहीं है। उदाहरण के लिए, हरियाणवी-भाषी पंजाबी-भाषी को काफी समझ लेता है, किंतु अवधी-भाषी उस सीमा तक नहीं समझ पाता, यद्यपि हरियाणवी एवं अवधी हिंदी भाषा की बोलियाँ हैं, और पंजाबी एक स्वतंत्र भाषा है। (ङ) भाषा प्रायः साहित्य, शिक्षा तथा शासन के कार्यों में भी व्यवहृत होती है, किंतु बोली लोक-साहित्य और बोलचाल में ही। यद्यपि इसके अपवाद भी कम नहीं मिलते, विशेषतः साहित्य में। उदाहरण के लिए, आधुनिक काल से पूर्व के हिंदी का सारा साहित्य ब्रज, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि तथाकथित बोलियों में ही लिखा गया है। (च) भाषा का मानक रूप होता है, किंतु बोली का नहीं। (छ) भाषा बोली की तुलना में अधिक प्रतिष्ठित होती है, अतः औपचारिक

नोट

परिस्थितियों में प्रायः इसी का प्रयोग होता है। (ज) बोली बोलने वाले भी अपने क्षेत्र के लोगों से तो बोली का प्रयोग करते हैं, किंतु अपने क्षेत्र के बाहर के लोगों से भाषा का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार भाषा और बोली का अंतर भाषा वैज्ञानिक न होकर समाज भाषा वैज्ञानिक है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक के शब्दों में अनुकरण मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है।
 (क) अरस्तु (ख) प्लेटो
 (ग) सिकंदर (घ) इनमें से कोई नहीं
6. भाषा पूर्णतः आदि से अंत तक से संबंधित है।
 (क) समाज (ख) व्याकरण
 (ग) शब्द (घ) अक्षर
7. जो भाषा प्रयोग में हो, वह होती है—
 (क) मृत भाषा (ख) खड़ी बोली
 (ग) जीवित भाषा (घ) इनमें से कोई नहीं
8. भाषा का क्षेत्र बड़ा होता है तथा का छोटा।
 (क) व्याकरण (ख) शब्द
 (ग) वाक्य (घ) बोली

1.8 आधुनिक आर्यभाषा

अपभ्रंश के विभिन्न स्थानीय रूप 1000 ई. के आसपास अवहट्ट रूपों से होते आधुनिक भाषाओं के रूप में विकसित हो गए। आधुनिक भारतीय भाषाओं की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(1) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में प्रमुखतः वही ध्वनियाँ हैं जो प्राकृत, अपभ्रंश आदि में थीं। किंतु कुछ विशेषताएँ भी हैं—(क) पंजाबी आदि में उदासीन स्वर 'अ' भी प्रयुक्त होने लगा है। अवधी आदि में जपित या अघोष स्वरों का प्रयोग होता है। गुजराती में मर्मर स्वर का विकास हो गया है। प्राकृत-अपभ्रंश में केवल मूल स्वर थे, किंतु अवहट्ट में ऐ, औ विकसित हो गए थे। कई आधुनिक भाषाओं में इनका प्रयोग होता है, यद्यपि कुछ बोलियों में केवल मूल स्वरों का प्रयोग हो रहा है, संयुक्त स्वरों का नहीं। (ख) 'ऋ' का प्रयोग तत्सम शब्दों में लिखने में चल रहा है, किंतु बोलने में यह स्वर न रहकर 'र' के साथ इ या उ स्वर का योग रह गया है। उत्तरी भारत में इसका उच्चारण 'रि' है और गुजराती आदि में 'रु'। (ग) व्यंजनों में, जहाँ तक ऊष्मों का प्रश्न है, लिखने में तो प्रयोग स, ष, श तीनों का हो रहा है, किंतु उच्चारण में स, श दो ही हैं। 'ष' भी 'श' रूप में उच्चरित होता है। चवर्ग के उच्चारण में आधुनिक काल में एकरूपता नहीं है। हिंदी में ये ध्वनियाँ स्पर्श-संघर्षी हैं, किंतु मराठी में इनका एक उच्चारण त्स (च), द्ज (ज) जैसा भी है। सच पूछा जाए तो मराठी में दो चवर्ग हो गया है। संयुक्त व्यंजन 'ज्ञ' के शुद्ध उच्चारण (ज्ज) का लोप हो चुका है, उसके स्थान परज्यँ, ग्यँ और छँ, दँ आदि कई उच्चारण चल रहे हैं। (घ) विदेशी भाषाओं के प्रभावस्वरूप आधुनिक भाषाओं में कई नवीन ध्वनियाँ आ गई हैं, क, ख, ग, ज, फ़, ऑ आदि। इन ध्वनियों का लोकभाषाओं में तो क, ख, ग, ज, फ, आ के रूप में उच्चारण हो रहा है, किंतु पढ़े-लिखे लोग इन्हें प्रायः मूल रूप में बोलने का प्रयास करते हैं। संगम (Juncture) तथा अनुनासिकता प्रायः सभी में स्वनिमिक है।

(2) जिन शब्दों के उपधा (Penultimate) स्वर या अंतिम को छोड़कर किसी और पर बलात्मक स्वराघात था, (क) उनके अंतिम दीर्घ स्वर प्रायः ह्रस्व हो गए हैं तथा (ख) अंतिम 'अ' स्वर कुछ अपवादों (संयुक्त व्यंजनादि) को छोड़कर प्रायः लुप्त हो गया है (राम्, अब् आदि)।

(3) प्राकृत आदि में जहाँ समीकरण के कारण व्यंजनद्वित्व या दीर्घ व्यंजन (कर्म-कम्म) हो गए थे, आधुनिक काल में 'द्वित्व' में केवल एक रह गया और पूर्ववर्ती स्वर में क्षतिपूर्क दीर्घता आ गई (कम्म-काम, अट्ट-आठ)। पंजाबी, सिन्धी अपवाद हैं, उनमें प्रायः प्राकृत से मिलते-जुलते रूप ही चलते हैं (अट्ट, कम्म)।

(4) बलात्मक स्वराघात है। वाक्य के स्तर पर संगीतात्मक भी है।

(5) अपभ्रंश के प्रसंग में कहा जा चुका है कि संस्कृत, पालि आदि की तुलना में रूप कम हो गए थे। आधुनिक भाषाओं में अपभ्रंश की तुलना में भी रूप कम हो गए हैं, इस प्रकार भाषा सरल हो गई है। संस्कृत आदि में कारक के तीनों वचनों में लगभग 24 रूप बनते थे। प्राकृत में लगभग 12 हो गए थे, अपभ्रंश में 6 और आधुनिक भाषाओं में केवल दो, तीन या चार रूप हैं। क्रिया के रूपों में भी पर्याप्त कमी हो गई है। क्रियार्थ या काल आदि तो सभी, बल्कि संस्कृत आदि से अधिक व्यक्त कर लिये जाते हैं, किंतु सबके रूप अलग नहीं हैं। सहायक शब्दों से काम चल जाता है। मूल रूप थोड़े हैं।

(6) रचना की दृष्टि से संस्कृत, पालि, प्राकृत आदि की भाषा योगात्मक थी। अयोगात्मकता अपभ्रंशों से आरंभ हुई और अब, आधुनिक भाषाएँ (नाम और धातु दोनों दृष्टियों से) पूर्णतः अयोगात्मक या वियोगात्मक हो गई हैं। कुछ रूप योगात्मक हैं भी तो अपवादस्वरूप। नाम-रूपों के लिए परसर्गों का प्रयोग होता है और धातु-रूपों के लिए कृदंत और सहायक क्रिया के आधार पर संयुक्त क्रिया का।

(7) संस्कृत में वचन 3 थे। मध्यकालीन आर्य भाषाओं में ही द्विवचन समाप्त हो गया था और आधुनिक काल में भी केवल दो वचन हैं। अब प्रवृत्ति एकवचन की है। लगता है कि आगे चलकर रूप केवल एकवचन के रह जायेंगे और दो, तीन या अधिक का भाव सहायक शब्दों से प्रकट किया जाएगा। उदाहरणार्थ, हिंदी में 'मैं' के प्रयोग की प्रवृत्ति कम हो रही है। उसके स्थान पर 'हम' चल रहा है, जिसके बहुवचन का कोई अलग रूप नहीं होता, केवल 'लोग' या 'सब' जोड़कर काम चला लेते हैं।

(8) संस्कृत में लिंग 3 थे। मध्ययुगीन भाषाओं में भी स्थिति यही थी। आधुनिक काल में सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी तथा हिंदी में 2 लिंग हैं (पुल्लिंग, स्त्रीलिंग) संभवतः तिब्बत-बर्मी मुंडा आदि भाषाओं के प्रभाव के कारण बंगाली, उड़िया, असमी में लिंगभेद कम-सा है। बिहारी, नेपाली में भी समाप्त होता-सा दिखाई दे रहा है। तीन लिंग केवल गुजराती, मराठी और (कुछ) सिंहली में हैं।

(9) आधुनिक भाषाओं में प्राचीन तथा मध्ययुगीन से शब्द-भण्डार की दृष्टि से सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पश्तो, तुर्की, अरबी, फारसी, पुर्तगाली तथा अंग्रेजी आदि से लगभग 8-9 हजार नये विदेशी शब्द आ गए हैं। इनके पूर्व भाषाओं का प्रमुख शब्द-भंडार तत्सम, तद्भव और देशज का ही था। मध्ययुगीन भाषाओं की तुलना में आज तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक हो रहा है और तद्भव का अपेक्षाकृत कम। इधर पारिभाषिक शब्दावली की कमी दूर करने के लिए नए शब्द बनाए और अपनाए जा रहे हैं। अनुकरणात्मक एवं प्रतिध्वन्यात्मक शब्द बहुत प्रयुक्त होने लगे हैं।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में सिन्धी, गुजराती, लहँदा, पंजाबी, मराठी, उड़िया, बंगाली, असमिया, हिंदी (पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी) प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त कश्मीरी भी भारत की एक महत्वपूर्ण भाषा है, वह भारत-ईरानी की दरद शाखा में आती है। उर्दू, वस्तुतः भाषा वैज्ञानिक स्तर पर हिंदी की ही अरबी-फारसी से प्रभावित एक शैली है। इसीलिए हिंदी के अंतर्गत ही उसका विवरण दिया गया है। राजस्थानी, पहाड़ी तथा बिहारी को लोगों ने अलग रखा है, किंतु ये हिंदी प्रदेश में आती हैं, अतः इन पर भी हिंदी प्रदेश के अंतर्गत ही प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः अब भाषा के आकृतिमूलक या पारिवारिक वर्गीकरण से सांस्कृतिक वर्गीकरण को कम महत्वपूर्ण नहीं माना जाता और इस दृष्टि से ये सभी-राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी-हिंदी के सांस्कृतिक वर्ग में आती हैं।

भारत के बाहर बोली जाने वाली आधुनिक आर्य भाषाओं में नेपाली, सिंहली तथा जिप्सी भी उल्लेख्य हैं। आगे इन सभी का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। हमारा प्रमुख संबंध हिंदी से है, अतः उस पर विस्तार से विचार किया गया है।

वर्गीकरण—आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के वर्गीकरण पर विभिन्न विद्वानों (हार्नले, वेबर, ग्रियर्सन, चटर्जी, धीरेन्द्र वर्मा आदि) द्वारा विभिन्न रूपों में विचार किया गया है। यहाँ कुछ प्रमुख का उल्लेख किया जा रहा है।

(अ) इस प्रसंग में प्रथम नाम हार्नले का लिया जा सकता है। उन्होंने (Comparative Grammar of the Gaudian Lgs में) आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को 4 वर्गों में रखा है : (क) पूर्वी गौडियन—पूर्वी हिंदी (इसी

नोट

में बिहारी भी है), बंगला, असमी, उड़िया। (ख) पश्चिमी गौड़ियन-पश्चिमी हिंदी (राजस्थानी भी), गुजराती, सिन्धी, पंजाबी। (ग) उत्तरी गौड़ियन-गढ़वाली, नेपाली आदि (पहाड़ी)। (घ) दक्षिणी गौड़ियन-मराठी।

(ब) हार्नले ने (उपर्युक्त पुस्तक में) भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन के आधार पर पिछली सदी में यह सिद्धांत रखा था कि भारत में आर्य कम-से-कम दो बार आये। आर्य आधुनिक पंजाब में आकर बसे थे। कुछ दिन बाद दूसरे आर्यों का हमला हुआ। जैसे कहीं कील ठोकने पर कील छेद बनाकर बैठ जाती है और उस बने छेद के स्थान पर जो चीज रहती है, चारों ओर चली जाती है, उसी प्रकार नवागत आर्य उत्तर से आकर प्राचीन आर्यों के स्थान पर जम गए और पूर्वागत पूरब, दक्षिण, पश्चिम में फैल गये। इस प्रकार नवागत आर्य भीतरी कहे जा सकते हैं और पूर्वागत बाहरी। इस भीतरी और बाहरी को लेकर-यद्यपि दो बार आक्रमण न मानते हुए-ग्रियर्सन ने (Linguistic Survey of India, भाग 1; तथा Bulletin of the School of Oriental Studies, London Institution, Vol. I, Pt. III. 1920 में) अपना पहला वर्गीकरण प्रस्तुत किया। इसमें 3 वर्ग हैं-

1. **बाहरी उपशाखा**-(क) पश्चिमोत्तरी समुदाय (लहँदा, सिन्धी), (ख) दक्षिणी समुदाय (मराठी), (ग) पूर्वी समुदाय (उड़िया, बंगाली, असमी, बिहारी)।

2. **मध्यवर्गी उपशाखा**-(क) मध्यवर्ती समुदाय (पूर्वी हिंदी)।

3. **भीतरी उपशाखा**-(क) केन्द्रीय समुदाय (पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, गुजराती, भीली, खानदेशी); (ख) पहाड़ी समुदाय (पूर्वी, मध्यवर्ती, पश्चिमी)।

बाद में ग्रियर्सन ने (Indian Antiquary, Supplement of Feb. 1931) एक नया वर्गीकरण सामने रखा जो इस प्रकार है: (क) **मध्यदेशी**-पश्चिमी हिंदी। (ख) **अंतर्वर्ती**-(I) पश्चिमी हिंदी से विशेष घनिष्ठता वाली (पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती, पहाड़ी (पूर्वी, पश्चिमी, मध्य), (II) बहिरंग से संबद्ध (पूर्वी हिंदी)। (ग) **बहिरंग भाषाएँ**-(I) पश्चिमोत्तरी (लहँदा, सिन्धी), (II) दक्षिणी (मराठी), (III) पूर्वी (बिहारी, उड़िया, बंगाली, असमी)।

ग्रियर्सन का वर्गीकरण ध्वनि, व्याकरण या रूप तथा शब्द-समूह, इन तीन बातों पर आधारित है। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी ने इन तीनों की ही आलोचना की है। उन्हीं के आधार पर ग्रियर्सन के कुछ प्रमुख आधार संक्षिप्त आलोचना के साथ दिये जा रहे हैं।

1. **ध्वनि**-ग्रियर्सन के वर्गीकरण के ध्वन्यात्मक आधार लगभग पन्द्रह हैं जिनमें केवल प्रमुख चार-पाँच लिये जा रहे हैं। (क) **ग्रियर्सन** के अनुसार 'र्' का 'ल्' या 'ड्' के लिए प्रयोग केवल बाहरी भाषाओं में मिलता है, किंतु यथार्थतः ऐसी बात नहीं है। अवधी, ब्रज, खड़ी बोली आदि में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। जैसे बर (बल), गर (गला), जर (जल)। बीरा (बीड़ा), किवार (किवाड़), भीर (भीड़ आदि)। (ख) **ग्रियर्सन** के अनुसार बाहरी भाषाओं में 'द्' का परिवर्तन 'ड्' में हो जाता है। किंतु यह बात भीतरी में भी मिलती है। हिंदी में डीठि (दृष्टि), डयोढ़ी (देहली), डेढ़ (द्वयर्द्ध), डाभ (दर्भ), डाढ़ा (दग्ध), डंडा (दंड), डोली (दोलिका), डोरा (दोरक), डँसना (दंश) आदि उदाहरणार्थ देखे जा सकते हैं। (ग) ग्रियर्सन का कहना है कि 'म्ब' ध्वनि का विकास बाहरी भाषाओं में 'म' रूप में हुआ है तथा भीतरी में 'ब्' रूप में। किंतु इसके विरोधी उदाहरण भी मिलते हैं। पश्चिमी हिंदी क्षेत्र में 'जम्बुक' का 'जामुन' या 'तिम्ब' का 'नीम' मिलता है। दूसरी ओर बंगाल में 'निम्बुक' का 'लेबू' या 'नेबू' मिलता है। (घ) ऊष्म ध्वनियों को लेकर ग्रियर्सन का कहना है कि भीतरी में इनका उच्चारण अधिक दबाकर किया जाता है और वह 'स' रूप में होता है, किंतु बाहरी में यह श, ख, या, ह, रूप में मिलता है। बंगाल तथा महाराष्ट्र के कुछ भागों में निर्बल होकर यह 'श' हो गया है। पूर्वी बंगाल और असम में और भी निर्बल होकर 'ख' हो गया है और बंगला तथा पश्चिमोत्तरी में 'ह' हो गया है। जहाँ तक स्वरों के बीच में 'स' के 'ह' हो जाने का संबंध है, वह बाहरी के साथ भीतरी भाषाओं में पाया जाता है। सं. एकसप्तति, पं. हिंदी एकहत्तर, सं. द्वादश, पं. हिं. बारह, सं. करिष्यति, प. हि. करिहड़। साथ ही बाहरी में 'स' भी कहीं-कहीं है, जैसे लहँदा करेसी (करेगी)। 'ख' बाला विकास बड़ा सीमित और पूर्वक्षेत्रीय है। उसके आधार पर धुर पूर्व और पश्चिम की भाषाएँ एक वर्ग में नहीं रखी जा सकतीं। 'श' वाली विशेषता बंगला आदि में मागधी प्राकृत से चली आ रही है और वह प्रायः निर्बन्ध (unconditional) है। मराठी में वह बाद का विकास है और संबंध (conditional) है (इ, ई, ए, य आदि तालव्य ध्वनियों के प्रभाव से)। इस रूप में तो भीतरी की गुजराती में भी यह विकास है, जैसे कर्शे (करिष्यति)। इस प्रकार यह भी भेदक तत्व नहीं है। (ड) महाप्राण ध्वनियों का अल्पप्राण हो जाना भी ग्रियर्सन के अनुसार बाहरी भाषाओं में है, भीतरी में नहीं। किंतु हिंदी में भगिनी का बहिन, प्राकृत कल्पि रूप *ईठा (सं. इष्टक) का ईट, प्राकृत कल्पित रूप ऊँठ (सं. उष्ट्र) का ऊँट इसके विरोध में जाते हैं।

2. व्याकरण या रूप-ग्रियर्सन ने इस प्रसंग में पाँच-छह रूप-विषयक आधारों का उल्लेख किया है जिनमें से तीन यहाँ लिये जा रहे हैं। (क) ग्रियर्सन-ई स्त्री प्रत्यय के आधार पर बाहरी वर्ग की पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं को एक वर्ग की सिद्ध करना चाहते हैं, किंतु वस्तुतः यह तर्क तब ठीक माना जाता जब भीतरी वर्ग में यह बात न मिलती। हिंदी में इस प्रत्यय का प्रयोग क्रिया (गाती, दौड़ी), परसर्ग (की), संज्ञा (लड़की, बेटी), विशेषण (बड़ी, छोटी) आदि कई वर्ग के शब्दों में खूब होता है, अतः इसे इस प्रकार के वर्गीकरण का आधार नहीं मान सकते। (ख) भाषा संयोगात्मक से वियोगात्मक होती है और कुछ लोगों के अनुसार वियोगात्मक से फिर संयोगात्मक। ग्रियर्सन का कहना है कि संयोगात्मक भाषा संस्कृत से चलकर आधुनिक भाषाएँ (कारक रूप में) वियोगात्मक हो गई हैं, किंतु आधुनिक में भी बाहरी भाषाएँ विकास में एक कदम और आगे बढ़कर संयोगात्मक हो रही हैं। जैसे हिंदी 'राम की किताब', बंगाली 'रामेर बोई'। ग्रियर्सन का यह भी कहना है कि भीतरी में यदि कुछ संयोगात्मक रूप मिलते भी हैं तो वे प्राचीन के अवशेष मात्र हैं, अर्थात् प्रवृत्ति नहीं है, अपवाद हैं। इस प्रकार बाहरी-भीतरी भाषाओं में यह एक काफी बड़ा अंतर है। किंतु ग्रियर्सन का यह अंतर भी सत्य की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जैसा कि डॉ. चटर्जी ने दिखाया है, तुलनात्मक ढंग से जब हम बाहरी और भीतरी के कारक-रूपों का अध्ययन करते हैं तो देखते हैं कि संयोगात्मक रूपों का प्रयोग भीतरी में बाहरी से कम नहीं है, अतः इस बात को भी भेदक तत्व नहीं माना जा सकता। [ब्रज पूतहि (कर्म), मनहिं, भौनहिं (अधिकरण)]। (ग) ग्रियर्सन विशेषणात्मक प्रत्यय 'ल' को केवल बाहरी भाषाओं की विशेषता मानते हैं, यद्यपि भीतरी में भी यह पर्याप्त है, जैसे रंगीला, हठीला, भड़कीला, चमकीला, कटीला, गठीला, खर्चीला आदि।

3. शब्द-समूह-इसके आधार पर भी ग्रियर्सन बाहरी भाषाओं में साम्य मानते हैं। किंतु विस्तार से देखने पर यह बात भी ठीक नहीं उतरती। मराठी-बंगाली या बंगाली-सिन्धी में बंगाली-हिंदी से अधिक साम्य नहीं है।

इस प्रकार ग्रियर्सन जिन बातों के आधार पर बाहरी-भीतरी वर्गीकरण को स्थापित करना चाहते थे, वे बहुत सम्पुष्ट नहीं हैं। (स) डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी का वर्गीकरण (O.D.B.L. में) इस प्रकार है: (क) **उदीच्य** (सिन्धी, लहँदा, पंजाबी)। (ख) **प्रतीच्य** (गुजराती, राजस्थानी)। (ग) **मध्यदेशीय** (पश्चिमी हिंदी)। (घ) **प्राच्य** (पूर्वी हिंदी, बिहारी, उड़िया, असमिया, बंगाली)। (ङ) **दक्षिणत्य** (मराठी)।

डॉ. चटर्जी पहाड़ी को राजस्थानी का प्रायः रूपान्तर-सा मानते हैं। इसीलिए उसे यहाँ अलग स्थान नहीं दिया है। (द) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने डॉ. चटर्जी के वर्गीकरण के आधार पर ही अपना वर्गीकरण दिया है: (क) **उदीच्य** (सिन्धी, लहँदा, पंजाबी)। (ख) **प्रतीच्य** (गुजराती)। (ग) **मध्यदेशीय** (राजस्थानी, प. हिंदी, पूर्वी हिंदी, बिहारी)। (घ) **प्राच्य** (उड़िया, असमी, बंगाली)। (ङ) **दक्षिणात्य** (मराठी)।

इस वर्गीकरण में हिंदी के प्रमुख चारों रूपों को मध्यदेशीय माना गया है।

(ई) श्री सीताराम चतुर्वेदी ने संबंधसूचक परसर्ग के आधार पर का (हिंदी, पहाड़ी, जयपुरी), दा (पंजाबी, लहँदा), जो (सिन्धी, कच्छी), नो (गुजराती), एर (बंगाली, उड़िया, असमी) वर्ग बनाये हैं। यथार्थतः यह कोई वर्गीकरण नहीं है। ऐसे तो 'ळ' या 'स' से 'श' ध्वनियों के आधार पर भी वर्ग बनाये जा सकते हैं।

(फ) व्यक्तिगत रूप से इन पंक्तियों का लेखक कुछ इस प्रकार का वर्गीकरण (जो प्रमुखतः क्षेत्रीय है) पसन्द करता रहा है: **मध्यवर्ती** (पूर्वी और पश्चिमी हिंदी), **पूर्वी** (बिहारी, उड़िया, बंगाली, असमी), **दक्षिणी** (मराठी), **पश्चिमी** (सिन्धी, गुजराती, राजस्थानी), **उत्तरी** (लहँदा, पंजाबी, पहाड़ी)। किंतु वस्तुतः वर्गीकरण का आशय यह है कि उसके आधार पर भाषाओं की मूलभूत विशेषताएँ स्पष्ट हो जाएँ। उपर्युक्त किसी भी वर्गीकरण में यह बात नहीं है, ऐसी स्थिति में ये सारे व्यर्थ हैं। इनके आधार पर कोई भाषा वैज्ञानिक निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। इससे अच्छा यह है कि इनकी अलग-अलग प्रवृत्तियों का ही अध्ययन किया जाय। या यदि वर्गीकरण जरूरी ही समझा जाए तो दो बातें कही जा सकती हैं: (1) प्रवृत्तियों के आधार पर इन भाषाओं में इतना वैभिन्य या साम्य है कि सभी बातों का ठीक तरह से विचार करते हुए वर्गीकरण हो ही नहीं सकता। (2) अतएव, उत्पत्ति या संबद्ध अपभ्रंशों के आधार पर इनके वर्ग बनाये जा सकते हैं। किंतु यह ध्यान रहे कि इस प्रकार के वर्गों में ध्वनि या गठन संबंधी साम्य, बहुत कम दृष्टियों से मिल सकता है। यों उत्पत्ति भी अपने-आप में महत्वपूर्ण है, अतः इसे बिल्कुल निरर्थक नहीं कहा जा सकता। इस वर्गीकरण का रूप यह है: (क) **शौरसेनी** (पश्चिमी हिंदी, पहाड़ी, राजस्थानी, गुजराती)। (ख) **मागधी** (बिहारी, बंगाली, असमी, उड़िया)। (ग) **अर्द्धमागधी** (पूर्वी हिंदी)। (घ) **महाराष्ट्री** (मराठी)। **वाचड-पैशाची** (सिन्धी, लहँदा, पंजाबी)। इन्हें क्रम से मध्यम, पूर्वीय, मध्यपूर्वीय, दक्षिणी और पश्चिमोत्तरी भी कहा जा सकता है।

नोट

हिंदी-‘हिंदी’ शब्द का संबंध प्रायः संस्कृत शब्द ‘सिन्धु’ से माना जाता है। प्रस्तुत पंक्तियों का लेखक मूलतः ‘सिन्धु’ शब्द को संस्कृत का न मानकर द्रविड़ या और किसी पूर्ववर्ती भाषा को मानता है जहाँ से यह संस्कृत में आया है। ‘सिन्धु’ ‘सिंध’ नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को ‘सिंधु’ कहने लगे। यह ‘सिन्धु’ शब्द ईरानी में जाकर ‘हिंदु’ और फिर ‘हिंद’ हो गया और इसका अर्थ था ‘सिंध प्रदेश’। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गए और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा यह ‘हिंद’ शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का-ईक प्रत्यय लगने से ‘हिंदीक’ बना जिसका अर्थ है ‘हिंद का’। यूनानी ‘इंदिका’ या अंग्रेजी ‘इंडिया’ आदि इस ‘हिन्दीक’ के ही विकसित रूप हैं। ‘हिंदी’ भी ‘हिन्दीक’ का ही परिवर्तित रूप है और इसका अर्थ है ‘हिंद का’। इस प्रकार यह विशेषण है, किंतु भाषा के अर्थ में संज्ञा हो गया है। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी के ‘जफरनामा’ (1424 ई.) में मिलता है।

‘हिंदी’ शब्द का अर्थ और प्रयोग—वस्तुतः शब्दों में अरबी-फारसी तथा संस्कृत के आधिक्य की बात छोड़ दें तो हिंदी-उर्दू में कोई खास अंतर नहीं है। दोनों ही एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। इसलिए प्रारंभ में ‘हिंदी’ शब्द का प्रयोग हिंदी और उर्दू दोनों के लिए होता था। तजकिरा मखजन-उलग रायब में आया ‘दर जबाने हिंदी कि मुराद उर्दू अस्त’। यहाँ हिंदी उर्दू का समानार्थी है तो दूसरी तरफ हिंदी के सूफी कवि नूर मुहम्मद ने कहा है—‘हिन्दू मग पर पाँव न राख्यो। का बहुते जो हिन्दी भाख्यो।’ यहाँ इस शब्द का प्रयोग हिंदी के लिए है। मुल्ला वजही, सौदा, मीर आदि ने अपने शेरों को हिंदी शेर कहा है। गालिब ने भी अपने पत्रों में कई स्थानों पर हिंदी-उर्दू को समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया है। प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक का अनुमान है कि 19वीं सदी के प्रथम चरण में अंग्रेजी की विशेष भाषा-नीति के कारण ही इन दोनों को अलग-अलग भाषाएँ माना जाने लगा तथा उर्दू को मुसलमानों से जोड़ दिया गया तो हिंदी को हिंदुओं से। यदि अंग्रेजी बीच में न पड़ी होती तो आज ये दोनों एक भाषाएँ होतीं। यों भाषा विज्ञानवेत्ता आज भी इन दोनों को एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते हैं।

‘हिंदी’ शब्द का प्रयोग आज मुख्य रूप से तीन अर्थों में हो रहा है:

(क) ‘हिंदी’ शब्द अपने विस्तृततम अर्थ में हिंदी-प्रदेश में बोली जाने वाली 17 बोलियों का द्योतक है। हिंदी साहित्य के इतिहास में ‘हिंदी’ शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता है जहाँ ब्रज, अवधी, डिंगल, मैथिली, खड़ी बोली आदि सभी में लिखित साहित्य का विवेचन किया जाता है। वस्तुतः अब हिंदी साहित्य के इतिहास में पूरा उर्दू और पूरा दक्खिनी साहित्य भी समाहित कर लिया जाना चाहिए। इस प्रकार उर्दू तथा दक्खिनी को मिलाकर हिंदी 17 बोलियों, उर्दू तथा दक्खिनी को अपने अंतर्गत समाहित किए हुए है।

(ख) भाषा विज्ञान में प्रायः ‘पश्चिमी हिंदी’ और ‘पूर्वी हिंदी’ को ही हिंदी मानते हैं। ग्रियर्सन ने इसी आधार पर हिंदी प्रदेश की अन्य उपभाषाओं को राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी कहा था जिनमें ‘हिन्दी’ शब्द का प्रयोग नहीं है, किंतु अन्य दो को हिंदी मानने के कारण ‘पश्चिमी हिंदी’ तथा ‘पूर्वी हिंदी’ नाम दिया था। इस प्रकार इस अर्थ में ‘हिंदी’ आठ बोलियों (ब्रज, खड़ी बोली, बुन्देली, हरियाणी, कनौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) का सामूहिक नाम है।

(ग) ‘हिंदी’ शब्द का संकुचिततम अर्थ है खड़ी बोली साहित्यिक हिंदी जो आज हिंदी प्रदेशों की सरकारी भाषा है, पूरे भारत की राज्यभाषा है, समाचारपत्रों, फिल्मों में जिसका प्रयोग होता है तथा जो हिंदी-प्रदेश के शिक्षा का माध्यम है और जिसे ‘परिनिष्ठित हिंदी’ या ‘मानक हिंदी’ आदि नामों से भी अभिहित करते हैं। खड़ी बोली हिंदी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है, किंतु यदि उसे पश्चिमी हिंदी-पूर्वी हिंदी की 8 बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो उसका उद्भव शौरसेनी तथा अर्द्ध-मागधी अपभ्रंश से हुआ है और विस्तार में जाकर यदि उसे 17 बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो हिंदी का उद्भव, शौरसेनी, अर्द्ध-मागधी अपभ्रंश में हुआ है—उद्भव-काल मोटे रूप से 1000 ई. के लगभग माना जा सकता है।

हिंदी का विकास—यों तो हिंदी के कुछ रूप पालि में ही मिलने लगते हैं, प्राकृत-काल में उनकी संख्या और भी बढ़ जाती है तथा अपभ्रंश-काल में ये रूप चालीस प्रतिशत से भी ऊपर हो जाते हैं, किंतु हिंदी भाषा का वास्तविक आरंभ 1000 ई. से माना जाता है। इस तरह हिंदी के विकास का इतिहास आज तक कुल लगभग पौने दस सौ वर्षों (1000 ई. से 1972 तक) में फैला है। भाषा के विकास की दृष्टि से इस पूरे समय को तीन कालों में बाँटा जा सकता है—आदिकाल (1000 ई. 1500 ई.)—हिंदी भाषा अपने **आदिकाल** में सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट थी, क्योंकि उसी से हिंदी का उद्भव हुआ था। उसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नांकित हैं:

ध्वनि—आदिकालीन हिंदी में मुख्यतः उन्हीं ध्वनियों (स्वरों-व्यंजनों) का प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंशों में प्रयुक्त होती थीं। मुख्य अंतर निम्नांकित है—(1) अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। ये आठों ही स्वर मूल स्वर थे। आदिकालीन हिंदी में दो नए स्वर ऐ, औ विकसित हो गए जो संयुक्त स्वर थे तथा जिनका उच्चारण क्रमशः अऐ, अऔ था। (2) च, छ, ज, झ संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में स्पर्श व्यंजन थे, किंतु आदिकालीन हिंदी में आकर वे स्पर्श-संघर्षी हो गए और तब से अब तक ये स्पर्श-संघर्ष ही हैं। (3) न, र, ल, स संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश में दंत्य ध्वनि थे। आदिकाल में ये वत्स्य हो गए। (4) अपभ्रंश में ङ, ढ व्यंजन नहीं थे। आदिकालीन हिंदी में इनका विकास हो गया। (5) न्ह, म्ह, ल्ह पहले संयुक्त व्यंजन थे, अब वे क्रमशः न, म, ल के महाप्राण रूप हो गए, अर्थात् संयुक्त व्यंजन न रहकर मूल व्यंजन हो गए। (6) संस्कृत तथा फारसी आदि से कुछ शब्दों के आ जाने के कारण कुछ नए संयुक्त व्यंजन हिंदी में आ गए जो अपभ्रंश में नहीं थे। कुछ अपभ्रंश शब्दों के लोप के कारण कुछ ऐसे संयुक्त व्यंजनों के लोप की भी संभावना हो सकती है जो अपभ्रंश में थे।

व्याकरण—आदिकालीन हिंदी का व्याकरण 1000 या 1100 ई. के आसपास तक अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट था। भाषा में काफी रूप ऐसे थे जो अपभ्रंश के थे। किंतु धीरे-धीरे अपभ्रंश के व्याकरणिक रूप कम होते गए और हिंदी के अपने रूप विकसित होते गए तथा धीरे-धीरे 1500 ई. तक आते-आते हिंदी अपने पैरों पर खड़ी हो गई और अपभ्रंश के रूप प्रायः प्रयोग से निकल गए। आदिकालीन हिंदी का व्याकरण समवेततः अपभ्रंश व्याकरण से निम्नांकित बातों में भिन्न है: (1) अपभ्रंश काफी हद तक संयोगात्मक भाषा थी। क्रिया तथा कारकीय रूप संयोगात्मक होते थे, किंतु आदिकालीन हिंदी में वियोगात्मक रूपों का प्राधान्य हो चला। सहायक क्रियाओं तथा परसर्गों (कारक-चिह्नों) का प्रयोग काफी होने लगा। धीरे-धीरे संयोगात्मक रूप कम होते गए और उनका स्थान वियोगात्मक रूप लेते गए। (2) नपुंसकलिंग एक सीमा तक अपभ्रंश में था। यद्यपि संस्कृत, पालि, प्राकृत की तुलना में उसकी स्थिति अस्पष्ट-सी होती जा रही थी। आदिकालीन हिंदी में नपुंसकलिंग का प्रयोग प्रायः पूर्णतः समाप्त हो गया। गोरखनाथ में कुछ प्रयोगों ने नपुंसकलिंग का माना गया है, किंतु यह मान्यता पूर्णतः असंदिग्ध नहीं कही जा सकती। (3) हिंदी वाक्य-रचना में शब्द-क्रम निश्चित होने लगा था।

शब्द-समूह—आदिकालीन हिंदी का शब्द-समूह अपने प्रारंभिक चरण में अपभ्रंश का ही था, किंतु धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आते गए जिनमें उल्लेख्य दो-तीन हैं—(1) भक्ति-आंदोलन का प्रारंभ हो गया था, अतः तत्सम शब्दावली, अपभ्रंश की तुलना में, कुछ बढ़ने लगी। (2) मुसलमानों के आगमन से पश्तो, फारसी तथा तुर्की भाषाओं का प्रभाव पड़ा और कुछ शब्द इन तीनों भाषाओं से हिंदी में आए। (3) भक्ति-आंदोलन तथा मुसलमानी शासन का प्रभाव समाज पर भी पड़ा और जिसके परिणामस्वरूप इस बात की भी संभावना हो सकती है कि कुछ ऐसे पुराने शब्द जो अपभ्रंश में प्रचलित थे इस काल में अनावश्यक या अल्पावश्यक होने के कारण या तो शब्द-समूह से निकल गए या फिर उनका प्रयोग बहुत कम हो गया।

साहित्य में प्रयोग—इस काल में साहित्य में प्रमुखतः डिंगल, मैथिली, दक्खिनी, अवधी, ब्रज तथा मिश्रित रूपों का प्रयोग मिलता है। इस काल के प्रमुख हिंदी साहित्यकार गोरखनाथ, विद्यापति, नरपति नाल्ह, चंदबरदायी, कबीर, ख्वाजा बंदा नवाज तथा शाह मीराजी आदि हैं।

मध्यकाल (1500 ई. से 1800 ई. तक)—इस काल में आकर ध्वनि, व्याकरण तथा शब्द-समूह के क्षेत्र में मुख्यतः निम्नांकित परिवर्तन हुए: **ध्वनि**—(1) फारसी की का प्रचार हुआ जिसके कारण उच्च वर्ग के लोगों में हिंदी में क़, ख़, ग़, ज़ ये पाँच नए व्यंजन आ गए। (2) शब्दांत का 'अ' कम-से-कम मूल व्यंजन के बाद आने पर लुप्त हो गया। 'राम' का उच्चारण 'राम्' हो गया। किंतु 'भक्त' जैसे शब्दों में जहाँ अ के पूर्व संयुक्त व्यंजन था, 'अ' बना रहा। कुछ स्थितियों में अक्षरांत 'अ' का भी लोप होने लगा। उदाहरण के लिए, आदिकालीन 'जपता' अब उच्चारण में 'जप्ता' हो गया। **व्याकरण**—(1) इस काल में हिंदी व्याकरण के क्षेत्र में पूरी तरह अपने पैरों पर खड़ी हो गई। अपभ्रंश के रूप प्रायः हिंदी से निकल गए। जो कुछ बचे थे, वे वह थे जिन्हें हिंदी ने आत्मसात् कर लिया था। (2) भाषा आदिकालीन भाषा की तुलना में और भी वियोगात्मक हो गई। संयोगात्मक रूप और भी कम हो गए। परसर्गों तथा सहायक क्रियाओं का प्रयोग और भी बढ़ गया। (3) उच्च वर्ग में फारसी का प्रचार होने के कारण हिंदी वाक्य-रचना फारसी से प्रभावित होने लगी। **शब्द-समूह**—(1) इस काल में आते-आते काफी शब्द फारसी (लगभग 3500), अरबी (लगभग 2500), पश्तो (लगभग 50), तुर्की (लगभग 125) हिंदी में आ गए और उनकी संख्या लगभग 6000 हो गई। (2) भक्ति-आंदोलन के चरम बिंदु पर पहुँचने

नोट

के कारण तत्सम शब्दों का अनुपात भाषा में और भी बढ़ गया। (3) यूरोप से संपर्क होने के कारण कुछ पुर्तगाली, स्पेनी, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी शब्द भी हिंदी में आ गए। **साहित्य में प्रयोग**—इस काल में धर्म की प्रधानता के कारण राम-स्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण-स्थान की भाषा ब्रज में ही विशेष रूप से साहित्य रचा गया। यों दक्खिनी, उर्दू, डिंगल, मैथिली और खड़ी बोली में भी साहित्य-रचना हुई। इस काल के प्रमुख साहित्यकार जायसी, सूर, मीरा, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, देव, बुरहानुद्दीन, नुसरती, कुली-कुतुबशाह वजही तथा वली आदि हैं।



टास्क

हिंदी शब्द का संबंध प्रायः कौन से संस्कृत शब्द से माना जाता है?

आधुनिक काल (1800 ई.-अब तक)—ध्वनि—(1) आधुनिक काल में शिक्षा के व्यवस्थित प्रचार के कारण तथा प्रारंभ में हिंदी प्रदेश में अनेक क्षेत्रों में कचहरियों की भाषा उर्दू होने के कारण क, ख, ग, ज, फ़, जो मध्यकाल में केवल उच्च वर्गों के फारसी पढ़े-लिखे लोगों तक प्रचलित थे। इस काल में प्रायः 1947 तक सुशिक्षित लोगों में खूब प्रचलित हो गए, किंतु स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदली है और अंग्रेजी में प्रयुक्त होने के कारण ज, फ़ तो एक सीमा तक अब भी प्रयुक्त हो रहे हैं, किंतु क, ख, ग के ठीक प्रयोग में कमी आई है। नई पीढ़ी, कुछ अपवादों के छोड़कर इनके स्थान पर प्रायः क, ख, ज बोलने लगी है। (2) अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के कारण कुछ क्षेत्रों में ऑ (कॉलज, डॉक्टर, ऑफिस, कॉफी आदि में) ध्वनि भी हिंदी में प्रयुक्त हो रही है। अन्यत्र इसके स्थान पर आ का प्रयोग होता है। (3) अंग्रेजी शब्दों के प्रचार के कारण कुछ नए संयुक्त व्यंजन (ड्र) हिंदी में प्रयुक्त हो रहे हैं। (4) स्वरों में ऐ, औ हिंदी में आदिकाल में आए थे। इनका उच्चारण अऐ, अऔ था, अर्थात् वे संयुक्त स्वर थे। आधुनिक काल में, मुख्यतः 1940 के बाद ऐ, औ की स्थिति कुछ भिन्न हो गई है। इस संबंध में 3 बातें उल्लेख्य हैं: (क) पश्चिमी हिंदी क्षेत्र में ये स्वर सामान्यतः मूल स्वर रूप में उच्चरित होते हैं। (ख) पूर्वी हिंदी क्षेत्र में अब भी ये अऐ, अऔ रूप में संयुक्त स्वर के रूप में ही प्रयुक्त हो रहे हैं। (ग) नैना, भैया, कौआ जैसे शब्दों में पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही हिंदी क्षेत्रों में ऐ, औ का उच्चारण क्रमशः संयुक्त स्वर अइ, अउ रूप में होता है। (5) मध्यकाल में अ का लोप शब्दांत तथा कुछ परिस्थितियों में अक्षरांत में होना प्रारंभ हुआ था। आधुनिक काल तक आते-आते यह प्रक्रिया पूरी हो गई। अब हिंदी में उच्चारण में ही कोई भी शब्द अक्षरांत नहीं है। (6) व ध्वनि आदि तथा मध्यकाल में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः द्वयोः ठ रूप में उच्चरित होती थी, अब वह कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदी के काफी शब्दों में दंतोष्ठ्य रूप में उच्चारित होती है।

व्याकरण—(1) आदिकाल में हिंदी की विभिन्न बोलियों के व्याकरणिक अस्तित्व का प्रारंभ हो गया था, किंतु काफी व्याकरणिक रूप ऐसे थे जो पास-पास के क्षेत्रों में समान थे। मध्यकाल में उनमें इस प्रकार के मिश्रण की काफी कमी हो गई थी। सूर, बिहारी, देव आदि की ब्रजभाषा तथा जायसी, तुलसी आदि की अवधी इस बात का प्रमाण हैं। आधुनिक काल तक आते-आते ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि कई बोलियों का व्याकरणिक अस्तित्व इतना स्वतंत्र हो गया है कि उन्हें बड़ी सरलता से भाषा की संज्ञा दी जा सकती है। (2) हिंदी प्रायः पूर्णतः एक वियोगात्मक भाषा हो गई है। (3) प्रेस, रेडियो, शिक्षा तथा व्याकरणिक विश्लेषण आदि के प्रभाव से हिंदी व्याकरण का रूप काफी स्थिर हो गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदी व्याकरण का मानक रूप सुनिश्चित हो चुका है। व्याकरण के इस स्थिरीकरण में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का मुख्य हाथ रहा है। (4) कहा जा चुका है कि मध्यकाल में हिंदी वाक्य-रचना एक सीमा तक फारसी से प्रभावित हुई थी। आधुनिक काल में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार फारसी की तुलना में कहीं अधिक हुआ है। साथ ही समाचारपत्रों, रेडियो तथा सरकारी कामों में प्रयोग के कारण भी अंग्रेजी हमारे अधिक निकट आई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिंदी भाषा वाक्य-रचना, मुहावरा तथा लोकोक्ति के क्षेत्र में अंग्रेजी से बहुत अधिक प्रभावित हुई है। उदाहरण के लिए, 'मैं सोने जा रहा हूँ' 'I am going to sleep' का प्रभाव है तो 'वह आदमी जो कल बीमार पड़ा था, आज मर गया' 'The man who fell ill yesterday expired today' का। इसी तरह '....पर प्रकाश डालना' मुहावरा 'To throw light on' का अनुवाद है तो 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' लोकोक्ति 'Necessity is the mother of invention' का। अंग्रेजी ने विराम-चिह्नों के माध्यम से भी हिंदी वाक्य-रचना को प्रभावित किया है। (5) इधर कुछ वर्षों से

‘कीजिए’ के लिए ‘करिए’, ‘मुझे’ के लिए ‘मेरे को’, ‘मुझसे’ के लिए ‘मेरे से’, ‘तुझमें’ के लिए ‘तेरे में’ जैसे नए रूपों का प्रचार कुछ क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है।

शब्द-समूह—शब्द-समूह की दृष्टि से 1800 से 1972 तक के आधुनिक काल को मोटे रूप से छह-सात उपकालों में विभाजित किया जा सकता है। 1800 से 1850 तक का हिंदी शब्द-समूह मोटे रूप से वही था जो मध्यकाल के अंतिम चरण में था। अंतर केवल यह था कि धीरे-धीरे अंग्रेजी के अधिकाधिक शब्द हिंदी भाषा में आते जा रहे थे। 1850 से 1900 तक अंग्रेजी के और शब्दों के आने के अतिरिक्त आर्य समाज के प्रचार के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिंदी से निकल गए। 1900 के बाद द्विवेदी काल तथा छायावादी काल में अनेक कारणों से तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ना आरंभ हो गया। प्रसाद, पंत, महादेवी वर्मा का पूरा साहित्य इस दृष्टि से दर्शनीय है। इसके बाद प्रगतिवादी आंदोलन के कारण तद्भव शब्दों के प्रयोग में पुनः वृद्धि हुई तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग में काफी कमी हुई। 1947 तक लगभग यही स्थिति रही। 1947 से बाद के शब्द-समूह में कई बातें उल्लेख्य हैं: (1) अनेक पुराने शब्द नये अर्थों में प्रचलित हो गए हैं। उदाहरण के लिए, ‘सदन’ राज्यसभा, लोकसभा के लिए (दोनों सदनों में) प्रयुक्त हो रहा है। 2. सामान्य समूह में कई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षणिका, फिल्माना, श्लील, घुसपैठिया जैसे बहुत से नए शब्द आ गए हैं। 3. साहित्य में नाटक, उपन्यास, कहानी कविता की भाषा बोलचाल के बहुत निकट है, उसमें अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी के जन-प्रचलित शब्दों का काफी प्रयोग हो रहा है। किंतु आलोचना की भाषा अब भी एक सीमा तक तत्सम शब्दों से काफी लदी हुई है। (4) इधर हिंदी को पारिभाषिक शब्दों की बहुत आवश्यकता पड़ी है, क्योंकि वह अब विज्ञान, वाणिज्य, विधि आदि की भी भाषा है। इसकी पूर्ति के लिए अनेक शब्द अंग्रेजी, संस्कृत आदि से लिये गए हैं तथा अनेक नए शब्द बनाए गए हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व हिंदी में मुश्किल से 5-6 हजार पारिभाषिक शब्द थे, किंतु अब उनकी संख्या लगभग एक लाख है और दिनोंदिन उनमें वृद्धि होती जा रही है। हिंदी शब्द-समूह अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए तथा नए शब्दों से समृद्ध होते हुए दिनों-दिन अधिक समृद्ध होता जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप हिंदी अपनी अभिव्यंजना में अधिक सटीक, निश्चित, गहरी तथा समर्थ होती जा रही है।

1.9 सारांश (Summary)

- भाषा वाक्य पर आधारित रहती है। वाक्य के शब्दों का विश्लेषण करके हमने उन्हें अलग-अलग कर लिया है और उनके नियमों का अध्ययन कर व्याकरण बनाया है। यह क्रिया भाषा और उनके साथ हमारे विचारों के बहुत विकसित होने पर की गई है। आरंभ में इन शब्दों का हमें पता न रहा होगा और वाक्य इस इकाई के रूप में रहे होंगे।
- भाषा के दो आधार हैं—एक मानसिक (psychical aspect) और दूसरा भौतिक (physical aspect)। मानसिक आधार भाषा की आत्मा है तो भौतिक आधार उसका शरीर। मानसिक आधार या आत्मा से आशय है, वे विचार या भाव जिनकी अभिव्यक्ति के लिए वक्ता भाषा का प्रयोग करता है और भाषा के भौतिक आधार के सहारे श्रोता जिनको ग्रहण करता है। भौतिक आधार या शरीर से आशय है—भाषा में प्रयुक्त ध्वनियाँ (वर्ण, सुर और स्वराघात आदि) जो भावों और विचारों की वाहिका है।
- भाषा का यह भेद इतिहास पर आधारित है। भाषा की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल में उन स्थानों में हुई होगी जहाँ बहुत से लोग एक साथ रहते रहे होंगे। ऐसे स्थानों में किसी एक स्थान की भाषा, जो आरंभ में उत्पन्न हुई होगी, तथा आगे चलकर जिससे ऐतिहासिक और भौगोलिक आदि कारणों से अनेक भाषाएँ, बोलियाँ तथा उपबोलियाँ आदि बनी होंगी, मूल भाषा कही जायेगी।
- आदर्श भाषा तो केवल उसी क्षेत्र में रहती है, जिसकी वह एक बोली होती है, जैसे हिंदी खड़ी बोली राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा बिहार आदि की परिनिष्ठित या आदर्श भाषा है। किंतु जब कोई बोली आदर्श भाषा बनने के बाद भी उन्नत होकर और भी महत्वपूर्ण बन जाती है तथा पूरे राष्ट्र या देश में अन्य भाषा-क्षेत्र तथा अन्य भाषा-परिवार-क्षेत्र में भी उसका प्रयोग सार्वजनिक कामों आदि में होने लगता है तो वह राष्ट्रभाषा का पद पा जाती है।
- ‘हिंदी’ शब्द का संबंध प्रायः संस्कृत शब्द ‘सिन्धु’ से माना जाता है। मूलतः ‘सिन्धु’ शब्द को संस्कृत का न मानकर द्रविड़ या और किसी पूर्ववर्ती भाषा को मानता है जहाँ से यह संस्कृत में आया है। ‘सिन्धु’ ‘सिंध’

नोट

नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिंधु' कहने लगे। यह 'सिंधु' शब्द ईरानी में जाकर 'हिंदु' और फिर 'हिंद' हो गया और इसका अर्थ था 'सिंध प्रदेश'। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गए और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा यह 'हिंद' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया।

- 'हिंदी' शब्द अपने विस्तृततम अर्थ में हिंदी-प्रदेश में बोली जाने वाली 17 बोलियों का द्योतक है। हिंदी साहित्य के इतिहास में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता है जहाँ ब्रज, अवधी, डिंगल, मैथिली, खड़ी बोली आदि सभी में लिखित साहित्य का विवेचन किया जाता है। वस्तुतः अब हिंदी साहित्य के इतिहास में पूरा उर्दू और पूरा दक्खिनी साहित्य भी समाहित कर लिया जाना चाहिए। इस प्रकार उर्दू तथा दक्खिनी को मिलाकर हिंदी 17 बोलियों, उर्दू तथा दक्खिनी को अपने अंतर्गत समाहित किए हुए है।

1.10 शब्दकोश (Keywords)

आदिकालीन	—	आदिकाल से संबंधित
बोधगम्य	—	जानने योग्य
परिवर्तन	—	बदलाव

1.11 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. भाषा के दो आधार कौन से हैं? विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. भाषा की विशेषताओं और प्रकृति का वर्णन कीजिए।
3. 'मूल भाषा' से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
4. भाषा और बोली में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. 'हिंदी' शब्द का प्रयोग किन तीन अर्थों में हो रहा है? उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|----------|---------------|----------|---------------------|
| 1. सीमित | 2. संगीतात्मक | 3. भौतिक | 4. अभिव्यंजना-शक्ति |
| 5. (क) | 6. (क) | 7. (ग) | 8. (घ) |

1.12 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - श्यामचन्द्र कपूर, प्रभात प्रकाशन।
2. हिंदी साहित्य का इतिहास - विजेन्द्र स्नातक, साहित्य अकादमी।
3. हिंदी साहित्य का इतिहास - डॉ. ईश्वरदत्त शील, आभारानी।

इकाई-2: हिंदी भाषा का उद्भव और विकास

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 2.1 हिंदी-प्रदेश, उपभाषाएँ तथा बोलियाँ
- 2.2 हिंदी, हिंदुई, हिंदुस्तानी, उर्दू
- 2.3 'हिंदी' नाम और उसके विभिन्न रूप
- 2.4 हिंदी का विकास
- 2.5 सारांश (Summary)
- 2.6 शब्दकोश (Keywords)
- 2.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 2.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- उपभाषाएँ एवं बोलियों को जानने में।
- हिंदी का विकास जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

'हिंदी' जिस भाषा-धारा के विशिष्ट दैशिक और कालिक रूप का नाम है, भारत में उसका प्राचीनतम रूप संस्कृत है। संस्कृत का काल मोटे रूप से 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। उस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत भाषा के भी दो रूप मिलते हैं। एक भाषा वैदिक संस्कृत है जिसमें वैदिक वाङ्मय की रचना हुई है, और दूसरी लौकिक या क्लासिकल संस्कृत है जिसमें वाल्मीकि, व्यास, भास, अश्वघोष, कालिदास, माघ आदि की रचनाएँ हैं। इस संस्कृत काल के अंत तक मानक या परिनिष्ठित भाषा तो एक थी, किंतु क्षेत्रीय तीन बोलियाँ विकसित हो चली थीं। जिन्हें पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशी तथा पूर्वी नाम से अभिहित किया जा सकता है।

संस्कृतकालीन बोलचाल की भाषा विकसित होते-होते 500 ई.पू. के बाद प्रवृत्ति: काफी बदल गयी, जिसे 'पालि' की संज्ञा दी गई। इसका काल 500 ई.पू. से पहली ईसवी तक है। बौद्ध ग्रंथों में पालि का जो रूप मिलता है वह इस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप था। इस काल में क्षेत्रीय बोलियों की संख्या चार हो गई थी। पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी और दक्षिणी।

पहली ईसवी तक आते-आते यह बोलचाल की भाषा और परिवर्तित हुई तथा पहली ई. से 500 ई. तक का इसका रूप 'प्राकृत' नाम से अभिहित किया गया। इस काल में क्षेत्रीय बोलियाँ कई थीं, जिनमें मुख्य शौरसेनी, पेशाची ब्राह्म, महाराष्ट्री, मागधी और अर्धमागधी थीं।

प्राकृतों से ही विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंश भाषा का काल मोटे रूप से 500 ई. से

नोट

1000 ई. तक है। आज के प्राप्त अपभ्रंश-साहित्य में मुख्यतः पश्चिमी और पूर्वी दो ही भाषा-रूप मिलते हैं, किंतु प्राकृत के मुख्यतः पाँच क्षेत्रीय रूपों तथा आज की दस (लहंदा, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, हिंदी, उड़िया, बांग्ला, असमिया) आर्यभाषाओं के बीच की अपभ्रंश रूप में प्राप्त कड़ी के क्षेत्रीय रूपों की संख्या छह और दस के बीच में ही होगी; इससे कम नहीं हो सकती। इससे यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश के सभी क्षेत्रीय रूपों का अपभ्रंश-साहित्य में प्रयोग नहीं हुआ। यदि विभिन्न प्राकृतों से विकसित अपभ्रंशों को किसी अन्य नाम के अभाव में प्राकृत नामों से ही अभिहित करें तो आधुनिक आर्यभाषाओं का जन्म अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों से इस प्रकार माना जा सकता है:

अपभ्रंश	आधुनिक भाषाएँ तथा उपभाषाएँ
शौरसेनी	पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, पहाड़ी, गुजराती
पैशाची	लहंदा, पंजाबी
ब्राह्म	सिन्धी
महाराष्ट्री	मराठी
मागधी	बिहारी, बांग्ला, उड़िया, असमिया
अर्द्धमागधी	पूर्वी हिंदी

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि हिंदी भाषा का उद्भव अपभ्रंश के शौरसेनी, अर्द्धमागधी और मागधी रूपों से हुआ है।



नोट्स अपभ्रंश भाषा का काल मोटे रूप से 500 ई. 1000 ई. तक है।

2.1 हिंदी-प्रदेश, उपभाषाएँ तथा बोलियाँ

हिंदी भाषा का क्षेत्र हिमाचल प्रदेश, पंजाब का कुछ भाग, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बिहार हैं, जिसे हिंदी (भाषी) प्रदेश कहते हैं। इस पूरे क्षेत्र में हिंदी की पांच उपभाषाएँ हैं, जिनके अंतर्गत मुख्यतः 10 बोलियाँ हैं:

भाषा	उपभाषाएँ	बोलियाँ
हिंदी	1. पश्चिमी हिंदी	1. खड़ी बोली या कौरवी, 2. ब्रजभाषा, 3. हरियाणी, 4. बुन्देली, 5. कन्नौजी।
	2. पूर्वी हिंदी	1. अवधी, 2. बघेली, 3. छत्तीसगढ़ी।
	3. राजस्थानी	1. पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी), 2. पूर्वी राजस्थानी (जयपुरी), 3. उत्तरी राजस्थानी (मेवाती), 4. दक्षिणी राजस्थानी (मालवी)।

4. पहाड़ी	1. पश्चिमी पहाड़ी, 2. मध्यवर्ती पहाड़ी (कुमाऊँनी-गढ़वाली)।
5. बिहारी	1. भोजपुरी, 2. मगही, 3. मैथिली।

नोट

खड़ी बोली: 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है: एक तो साहित्यिक हिंदी खड़ी बोली के अर्थ में और दूसरे दिल्ली-मेरठ के आसपास की लोक-बोली के अर्थ में। यहाँ दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इसी अर्थ में 'कौरवी' का भी प्रयोग कुछ लोग करते हैं। 'खड़ी बोली' में 'खड़ी' शब्द का अर्थ विवादास्पद है। कुछ लोगों ने 'खड़ी' का अर्थ 'खरी' (pure) अर्थात् शुद्ध माना है, तो दूसरों ने 'खड़ी' (standing)। कुछ अन्य लोगों ने इसका संबंध खड़ी बोली में अधिकता से प्रयुक्त खड़ी पायी 'i' (गया, बढ़ा, का) तथा उसके ध्वन्यात्मक प्रभाव कर्कशता से जोड़ा है। यों अभी तक यह प्रश्न अनिश्चित है। खड़ी बोली या कौरवी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से हुआ है तथा इसका क्षेत्र देहरादून का मैदानी भाग, सहारनपुर, मुजफ्फरनगर, मेरठ, दिल्ली का कुछ भाग, बिजनौर, रामपुर तथा मुरादाबाद है। लोक-साहित्य की दृष्टि से खड़ी बोली बहुत संपन्न है और इसमें पवाड़ा, नाटक, लोककथा, लोकगीत आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इनका काफी अंश प्रकाशित भी हो चुका है। हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी तथा दक्खिनी एक सीमा तक खड़ी बोली पर आधारित हैं।

ब्रजभाषा: ब्रज का पुराना अर्थ 'पशुओं या गौओं का समूह' या 'चरागाह' आदि है। पशुपालन के प्राधान्य के कारण यह क्षेत्र ब्रज कहलाया और इसी आधार पर इसकी बोली ब्रजभाषा कहलायी। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से हुआ है। ब्रजभाषा आगरा, मथुरा, अलीगढ़, धौलपुर, मैनपुरी, एटा, बदायूं, बरेली तथा आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती है। साहित्य और लोक-साहित्य दोनों ही दृष्टियों से ब्रजभाषा बहुत संपन्न है। हिंदी प्रदेश के बाहर भी भारत के अनेक क्षेत्रों में ब्रजभाषा में साहित्य-रचना होती रही है। सूरदास, तुलसीदास, नंददास, रहीम, रसखान, बिहारी, देव, रत्नाकर आदि इसके प्रमुख कवि हैं।

हरियाणवी: 'हरियाना' शब्द की व्युत्पत्ति विवादास्पद है। हरि+यान (कृष्ण का यान इधर से ही द्वारका गया था), हरि+अरण्य (हरावन) तथा अहीर+आना (राजपूताना, तिलंगाना की तरह) आदि कई मत दिये गये हैं, किंतु कोई भी सर्वमान्य नहीं है। हरियाणी का विकास उत्तरी शौरसेनी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से हुआ है। खड़ी बोली, अहीरवाटी, मारवाड़ी, पंजाबी से घिरी इस बोली को कुछ लोग खड़ी बोली का पंजाबी से प्रभावित रूप मानते हैं। इसका क्षेत्र मोटे रूप से हरियाणा तथा दिल्ली का देहाती भाग है। हरियाणवी में केवल लोक-साहित्य है, जिसका कुछ अंश मुद्रित भी है।

बुन्देली : बुन्देले राजपूतों के कारण मध्य प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश की सीमारेखा के झांसी, छतरपुर, सागर आदि तथा आसपास के भाग को बुन्देलखंड कहते हैं। वहीं की बोली बुन्देली या बुन्देलखंडी है। इसका क्षेत्र झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, ओरछा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी, होशंगाबाद तथा आसपास का क्षेत्र है। बुन्देली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। बुन्देली में लोक-साहित्य काफी है, जिसमें ईसुरी के फाग बड़े प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि हिंदी प्रदेश की प्रसिद्ध लोकगाथा 'आल्हा', जिसे हिंदी-साहित्य में भी स्थान मिला है, मूलतः बुन्देली की एक उपबोली बनाफरी में लिखा गया था।

कन्नौजी : कन्नौज (संस्कृत कान्यकुब्ज) इस बोली का केंद्र है, अतः इसका नाम कन्नौजी पड़ा है। यह इटावा, फर्रुखाबाद, शाहजहांपुर, कानपुर, हरदोई, पीलीभीत आदि में बोली जाती है। कन्नौजी भी शौरसेनी अपभ्रंश से ही निकली है। यह ब्रजभाषा से इतनी अधिक समान है कि कुछ लोग इसे ब्रजभाषा की ही एक उपबोली मानते हैं। कन्नौजी में केवल लोक-साहित्य मिलता है जिसमें से कुछ अंश प्रकाशित भी हो चुका है।

अवधी : इस बोली का केंद्र अयोध्या है। 'अयोध्या' का ही विकसित रूप 'अवध' है जिससे 'अवधी' शब्द बना है। इसके उद्भव के संबंध में विवाद है। अधिकांश विद्वान इसका संबंध अर्धमागधी अपभ्रंश से मानते हैं, किंतु कुछ लोग इससे पालि की समानता के आधार पर इस मत को नहीं मानते। अवधी का क्षेत्र लखनऊ, इलाहाबाद, फतेहपुर, मिर्जापुर (अंशतः), उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फैजाबाद, गोंडा, बस्ती, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़,

नोट

बाराबंकी आदि है। अवधी में साहित्य तथा लोक-साहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में हैं। इसके प्रसिद्ध कवि मुल्ला दाऊद, कुतुबन, जायसी, तुलसीदास, उसमान, सबलसिंह आदि हैं।

बघेली : बघेले राजपूतों के आधार पर रीवा तथा आसपास का इलाका बघेलखंड कहलाता है और वहाँ की बोली को बघेलखंडी या बघेली कहते हैं। बघेली का उद्भव अर्धमागधी अपभ्रंश के ही एक क्षेत्रीय रूप से हुआ है। यद्यपि जनमत इसे अलग बोली मानता है, किंतु भाषावैज्ञानिक स्तर पर यह अवधी की ही एक उपबोली ज्ञात होती है और इसे दक्षिणी अवधी कह सकते हैं। इसका क्षेत्र रीवा, नागौद, शहडोल, सतना, महर तथा आसपास का क्षेत्र है। कुछ अपवादों को छोड़कर बघेली में केवल लोक-साहित्य है।

छत्तीसगढ़ी : मुख्य क्षेत्र छत्तीसगढ़ होने के कारण इसका नाम छत्तीसगढ़ी पड़ा है। अर्धमागधी अपभ्रंश के दक्षिणी रूप से इसका विकास हुआ है। इसका क्षेत्र सरगुजा, कौरिया, बिलासपुर, रायगढ़, खैरागढ़, रायपुर, दुर्ग, नन्दगांव, कांकेर आदि हैं। छत्तीसगढ़ी में भी लोक-साहित्य है।

पश्चिमी राजस्थानी : राजस्थानी का यह रूप पश्चिमी राजस्थान अर्थात् जोधपुर, अजमेर, किशनगढ़, मेवाड़, सिरोही, जैसलमेर, बीकानेर आदि में बोला जाता है। इसे मारवाड़ी भी कहते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। मारवाड़ी में साहित्य तथा लोक-साहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में हैं। मीरा के पद इसी में हैं।

उत्तरी राजस्थानी : उत्तरी राजस्थान में इसका क्षेत्र अलवर, गुड़गांव, भरतपुर तथा आसपास है। मेओ जाति के इलाके मेवात के नाम पर इसे 'मेवाती' भी कहते हैं। इसकी एक मिश्रित बोली अहीरवाटी है जो गुड़गांव, दिल्ली तथा करनाल के पश्चिमी क्षेत्रों में बोली जाती है। इस पर हरियाणवी का बहुत प्रभाव है। मेवाती में केवल लोक-साहित्य है। उत्तरी राजस्थानी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है।

पूर्वी राजस्थानी : राजस्थान के पूर्वी भाग में जयपुर, अजमेर, किशनगढ़ आदि में यह बोली जाती है। इसकी प्रतिनिधि बोली जयपुरी है, जिसका केंद्र जयपुर है। जयपुरी को दूँढाणी भी कहते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र का नाम दूँढाण है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक-साहित्य है।

दक्षिणी राजस्थानी : इंदौर, उज्जैन, देवास, रतलाम, भोपाल, होशंगाबाद तथा इनके आसपास इसका क्षेत्र है। इसकी प्रतिनिधि बोली मालवी है, जिसका मुख्य क्षेत्र मालवा है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में कुछ साहित्य तथा पर्याप्त लोकसाहित्य है।

पश्चिमी पहाड़ी : जौनसार, सिरमौर, शिमला, मंडी, चंबा तथा आसपास इसका क्षेत्र है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक-साहित्य है।

मध्यवर्ती पहाड़ी : शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली का क्षेत्र गढ़वाल, कुमाऊँ तथा आसपास का कुछ क्षेत्र है। वस्तुतः यह गढ़वाली और कुमाऊँनी इन दो बोलियों का ही सामूहिक नाम है। इन बोलियों में लोक-साहित्य तो पर्याप्त मात्रा में है, साथ ही कुछ साहित्य भी है।

भोजपुरी : बिहार के शाहाबाद जिले के भोजपुर गांव के नाम के आधार पर इस बोली का नाम 'भोजपुरी' पड़ा है। मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से विकसित इस बोली का क्षेत्र बनारस, जौनपुर, मिर्जापुर, गाजीपुर, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, बस्ती, शाहाबाद, चंपारन, सारन तथा आसपास का कुछ क्षेत्र है। हिंदी-प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी बोलने वाले सबसे अधिक हैं। भोजपुरी में मुख्यतः लोक-साहित्य ही मिलता है, शिष्ट साहित्य बहुत कम है। भारतेन्दु, प्रेमचंद, प्रसाद आदि इसी क्षेत्र के रहे हैं। किंतु साहित्य में इन्होंने इसका प्रयोग नहीं किया।

मगही : संस्कृत 'मगध' से विकसित शब्द 'मगह' पर इसका नाम आधारित है। मागधी अपभ्रंश से विकसित यह बोली पटना, गया, पलामू, हजारीबाग, मुंगेर, भागलपुर तथा इनके आसपास बोली जाती है। इसमें लोक-साहित्य काफी है। कुछ ललित साहित्य भी है।

मैथिली : मागधी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से विकसित यह बोली हिंदी और बांग्ला क्षेत्र की संधि पर मिथिला में बोली जाती है। दरभंगा, मुजफ्फरपुर, पूर्णिया तथा मुंगेर आदि में इसका क्षेत्र है। लोक-साहित्य की दृष्टि से मैथिली बहुत संपन्न है, साथ ही इसमें साहित्य-रचना अत्यंत प्राचीनकाल से होती चली आयी है। हिंदी-साहित्य को विद्यापति जैसे रससिद्ध कवि देने का श्रेय मैथिली को ही है। इनके अतिरिक्त गोविन्ददास, रणजीतलाल, हरिमोहन झा आदि भी इनके अच्छे साहित्यकार हैं।



क्या आप जानते हैं? हिंदी भाषा का उद्भव अपभ्रंश के शौरसेनी, अर्धमागधी और मागधी रूपों से हुआ है।

नोट

2.2 हिंदी, हिंदुई, हिंदुस्तानी, उर्दू

पीछे यह संकेत किया गया है कि 'खड़ी बोली' नाम का एक प्रयोग साहित्यिक हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी आदि की आधार-भाषा या आज की साहित्यिक हिंदी के लिए भी होता है। वस्तुतः आज हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी नामों का प्रयोग जिन भाषा-रूपों के लिए होता है, व्याकरणिक स्तर पर वे प्रायः एक ही हैं और उनकी आधार-भाषा वह मिश्रित बोली है जो मूलतः कौरवी, पंजाबी, ब्रज आदि के योग से बनी होगी। आज इस खड़ी बोली में जब बोलचाल के शब्दों (आधारभूत शब्दावली, बहुप्रचलित तद्भव शब्द, सरल बहुप्रचलित संस्कृत शब्द तथा सरल बहुप्रचलित अरबी, फारसी, तुर्की शब्द) का ही प्रयोग होता है तो उसे बोलचाल की हिंदी या हिंदुस्तानी कहते हैं; उन शब्दों के साथ ही जब संस्कृत के अल्प प्रचलित अतः कठिन तत्सम शब्दों का भी काफी प्रयोग होता है तो उसे हिंदी या साहित्यिक हिंदी कहते हैं, और जब उन शब्दों के साथ अरबी, फारसी, तुर्की के अल्पप्रचलित अतः कठिन शब्दों का बहुत प्रयोग होने लगता है तो उसे उर्दू कहते हैं। इस तरह खड़ी बोली की या सामान्य हिंदी की ये तीन शैलियाँ हैं।

'हिंदुई' शब्द 'हिंदु + ई' से बना है। हिन्दवी, हिंदुई या हिंदवी का प्रयोग प्राचीन हिंदी के लिए काफी पहले से मिलता है। तेरहवीं सदी में औफी और अमीर खुसरो ने इसका प्रयोग किया है। 'खालिक बारी' में 'हिंदी' और 'हिंदवी' दोनों का प्रयोग एक ही भाषा के लिए हुआ है किंतु हिंदी का प्रयोग केवल पांच बार है, जबकि हिंदवी का तीस बार। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले 'हिंदी' की तुलना में 'हिंदवी' नाम ज्यादा प्रचलित था, धीरे-धीरे 'हिंदवी' नाम उस भाषा के लिए सीमित हो गया जिसमें संस्कृत के शब्द अपेक्षाकृत अधिक थे; और 'हिंदुस्तानी' उस भाषा को कहने लगे जिसमें अरबी-फारसी के शब्द ज्यादा थे। 'गासां द तासी' के इतिहास में 'हिंदुई' तथा 'हिंदुस्तानी' नाम ठीक इसी अर्थ में आये हैं। अब प्रायः लोग केवल 'दक्खिनी' या दक्खिनी तथा उसके पहले के उत्तर भारत के मसजिद, खुसरो तथा शकरगंजी आदि के साहित्य की भाषा के लिए ही हिंदुई या हिंदवी नाम का प्रयोग करते हैं।

'हिंदुस्तानी' शब्द 'हिंदुस्तान + ई' से बना है। ग्रियर्सन, धीरेंद्र वर्मा आदि कई लोगों का मत है कि यह नाम अंग्रेजों का दिया हुआ है, किंतु वास्तविकता यह है कि 'तुजके बाबरी' में भाषा के अर्थ में 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रारंभ में यह शब्द 'हिंदी' या 'हिंदवी' का समानार्थी था किंतु आगे चलकर इसका वह अर्थ हो गया जो आज उर्दू का है, अर्थात् हिंदी का वह रूप जिसमें अरबी, फारसी, तुर्की शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। जैसा कि ऊपर संकेत है तासी के प्रसिद्ध इतिहास 'इस्तवार दल लित्रेत्यूर ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' में ऐंदुस्तानी (हिंदुस्तानी) का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। और आगे चलकर जब हिंदी और उर्दू नामों का प्रयोग एक ही भाषा की ऐसी शैलियों के लिए होने लगा जिनमें क्रमशः संस्कृत और अरबी, फारसी के शब्दों का बाहुल्य था तो 'हिंदुस्तानी' हिंदी-उर्दू के बीच की उस भाषा को कहने लगे जिसमें न तो संस्कृत के कठिन शब्द होते हैं और न अरबी-फारसी के। इसमें तद्भव तथा बहुप्रचलित संस्कृत तत्सम और अरबी-फारसी के वे शब्द होते हैं, जो बोलचाल में भी प्रयुक्त होते हैं। गाँधी जी ने 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

'उर्दू' शब्द मूलतः तुर्की भाषा का है तथा इसका अर्थ है 'शाही शिविर' या 'खेमा'। तुर्कों के साथ ही यह शब्द भारत में आया और इसका यहाँ प्रारंभिक अर्थ 'खेमा' या 'फौजी पड़ाव' था। इस अर्थ में उत्तरी भारत के अनेक नगरों में 'उर्दू बाजार' (फौजी पड़ाव का बाजार) नाम आज भी मिलता है। मुगल बादशाह के इन फौजी पड़ावों में धीरे-धीरे पूर्वी पंजाबी, हरियाणी, कौरवी, ब्रज मिश्रित एक बोली विकसित हुई जिसमें अरबी, फारसी, तुर्की के शब्द काफी थे। बोलियों का मिश्रण स्थानीय प्रभाव तथा इन खेमों के सिपाहियों के कारण था, तो तुर्की शब्द मुगलों की अपनी भाषा तुर्की और उनकी दरबारी भाषा फारसी के कारण थे। शाहजहाँ ने दिल्ली में लालकिला बनवाया। यह भी एक प्रकार से 'उर्दू' (शाही और फौजी पड़ाव) था, किंतु बहुत बड़ा था। अतः इसे उर्दू न कहकर 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा गया तथा यहाँ बोली जानेवाली भाषा 'जबान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' (श्रेष्ठ शाही पड़ाव की भाषा) कहलायी। भाषा-विशेष के अर्थ में 'उर्दू' शब्द इस 'जबान-ए-उर्दू-मुअल्ला' का संक्षेप है। भाषा के अर्थ में 'उर्दू' शब्द का प्रयोग सबसे पहले कब हुआ, यह कहना कठिन है, किंतु मोटे रूप में अठारहवीं सदी के मध्य

नोट

में यह चल पड़ा था; यद्यपि इसे ज्यादातर 'हिंदी' या 'रेखा' (मिश्रित भाषा) कहते थे। इसके साथ ही इसे 'हिंदुस्तानी' नाम से भी अभिहित किया गया है। 1850 ई. तक आते-आते इस भाषा के लिए अन्य नामों का प्रचलन बंद हो गया और केवल 'उर्दू' नाम चलने लगा।

हिंदवी के मुख्यतः दो रूप प्राचीन काल से आ रहे थे। एक तो बोली-रूप जो ब्रज, अवधी आदि का था और दूसरा उसका एक प्रकार से मिश्रित रूप था जो किसी क्षेत्र से संबद्ध न होकर पूरे हिंदी-प्रदेश में उभर रहा था। गोरखनाथ, खुसरो, कबीर आदि में इसके प्रारंभिक रूप मिलते हैं। लगभग ऐसी ही मिश्रित भाषा (अरबी, फारसी, तुर्की शब्दों से युक्त) उर्दू भी थी। आगे चलकर दोनों के मूलाधार एक हो गये तथा फारसी, अरबी, तुर्की शब्दों से युक्त भाषा उर्दू कहलायी तो संस्कृत से युक्त हिंदी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. कन्नौजी बोली का केन्द्र है।
2. अवधी बोली का केन्द्र है।
3. बघेली का उद्भव के ही एक क्षेत्रीय रूप से हुआ है।
4. जयपुरी को भी कहते हैं।

2.3 'हिंदी' नाम और उसके विभिन्न रूप

'हिंदी' शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। 'सिंधु' सिंध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिन्धु' कहने लगे। यह 'सिंधु' शब्द ईरानी में जाकर 'हिंदू' और फिर 'हिंद' हो गया और इसका अर्थ हुआ 'सिंध प्रदेश'। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गये और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा 'हिंद' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का 'ईक' प्रत्यय लगने से 'हिन्दीक' बना, जिसका अर्थ 'हिन्द का'। यूनानी शब्द 'इन्दिका' या अंग्रेजी शब्द 'इंडिया' आदि इस 'हिंदीक' के ही विकसित रूप हैं। 'हिन्दी' भी 'हिन्दीक' का ही परिवर्तित रूप है और इसका मूल अर्थ है 'हिंद का'। इस प्रकार यह विशेषण है, किंतु भाषा के अर्थ में संज्ञा हो गया है। हिंदी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफुद्दीन यज्दी के 'जफरनामा' (1424) में मिलता है।

वस्तुतः शब्दों में अरबी-फारसी तथा संस्कृत के आधिक्य की बात छोड़ दें तो हिंदी-उर्दू में कोई खास अंतर नहीं है। दोनों ही एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। इसलिए प्रारंभ में 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिंदी और उर्दू दोनों के लिए होता था। 'तजकिरा मखजन-उल-गरायब' में आता है: 'दर जबाने हिंदी कि मुराद उर्दू अस्त'। यहाँ 'हिंदी' शब्द उर्दू का समानार्थी है; तो दूसरी तरफ हिंदी के सूफी कवि नूर मुहम्मद ने कहा है—“हिंदू मग पर पांव न राख्यौ, का बहुते जो हिंदी भाख्यौ।” यहाँ इस शब्द का प्रयोग हिंदी के लिए है। मुल्ला वजही, सौदा, मीर आदि ने अपने शेरों को हिंदी शेर कहा है। गालिब ने भी अपने पत्रों में कई स्थानों पर हिंदी-उर्दू को समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया है। अनुमान है कि उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में अंग्रेजों की विशेष भाषा-नीति के कारण ही इन दोनों को अलग-अलग भाषाएँ माना जाने लगा। उर्दू को मुसलमानों से जोड़ दिया गया, तो हिंदी को हिंदुओं से। यदि अंग्रेज बीच में न पड़े होते तो आज ये दोनों भाषाएँ एक होतीं।

2.4 हिंदी का विकास

हम देख चुके हैं कि खड़ी बोली हिंदी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है, किंतु यदि हिंदी को पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी की आठ बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो उसका उद्भव शौरसेनी तथा अर्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। विस्तार में जाकर यदि उसे सत्रह बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो हिंदी का उद्भव शौरसेनी, अर्धमागधी तथा मागधी अपभ्रंश से हुआ है।

यों तो हिंदी भाषा के कुछ व्याकरणिक रूप पालि में ही मिलने लगते हैं, प्राकृतकाल में उनकी संख्या और भी बढ़ गई है। तथा अपभ्रंश-काल में ये रूप प्रायः चालीस प्रतिशत से भी ऊपर हो गये हैं, किंतु हिंदी भाषा का

वास्तविक आरंभ 1000 ई. से माना जाता है। इस तरह हिंदी के विकास का इतिहास आज तक कुल लगभग पौने दस सौ वर्षों (1000-1975) में फैला है। भाषा के विकास की दृष्टि से इस पूरे समय को तीन कालों में बाँटा जा सकता है। आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल।

आदिकाल (1000-1500): हिंदी भाषा अपने आदिकाल में सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट थी, क्योंकि उसी से हिंदी का उद्भव हुआ था। आदिकालीन हिंदी में मुख्यतः उन्हीं ध्वनियों (स्वरो-व्यंजनों) का प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंश में प्रयुक्त होती थीं। मुख्य अंतर ये हैं—

1. अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। ये आठों ही स्वर मूल स्वर थे। आदिकालीन हिंदी में दो नए स्वर ऐ, औ विकसित हो गये जो संयुक्त स्वर थे तथा जिनका उच्चारण क्रमशः अएँ, अऔँ था।
2. च, छ, ज, झ संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में स्पर्श व्यंजन थे, किंतु आदिकालीन हिंदी में आकर ये स्पर्श-संघर्षी हो गये और तब से अब तक ये स्पर्श-संघर्षी ही हैं।
3. न, र, ल, स संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में दन्त्य (ध्वनियाँ) थे। आदिकाल में ये वत्स्य हो गये।
4. अपभ्रंश में ङ, ढ व्यंजन नहीं थे। आदिकाल हिंदी में इनका विकास हुआ।
5. न्ह, म्ह, ल्ह पहले संयुक्त व्यंजन थे; अब वे क्रमशः न, म, ल के महाप्राण रूप हो गये अर्थात् संयुक्त व्यंजन न रहकर मूल व्यंजन हो गये।
6. संस्कृत, फारसी आदि से कुछ शब्दों के आ जाने के कारण कुछ नये संयुक्त व्यंजन हिंदी में आ गये जो अपभ्रंश में नहीं थे। कुछ अपभ्रंश-शब्दों के लोप के कारण कुछ ऐसे संयुक्त व्यंजनों, स्वरानुक्रमों तथा व्यंजानुक्रमों के लोप की भी संभावना हो सकती है, जो अपभ्रंश में थे।

आदिकालीन हिंदी का व्याकरण 1000 या 1100 ई. के आसपास तक अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट था। भाषा में काफी रूप ऐसे थे जो अपभ्रंश के थे, किंतु धीरे-धीरे अपभ्रंश के व्याकरणिक रूप कम होते गये और हिंदी के अपने रूप विकसित होते गये। धीरे-धीरे 1500 ई. तक आते-आते हिंदी अपने पैरों पर खड़ी हो गई और अपभ्रंश के रूप प्रायः प्रयोग से निकल गये। आदिकालीन हिंदी का व्याकरण समवेततः अपभ्रंश व्याकरण से इन बातों में भिन्न है:

1. अपभ्रंश काफी हद तक संयोगात्मक भाषा थी। क्रिया तथा कारकीय रूप संयोगात्मक होते थे, किंतु आदिकालीन हिंदी में वियोगात्मक रूपों का प्राधान्य हो चला। सहायक क्रियाओं तथा परसर्गों (कारक-चिह्नों) का प्रयोग काफी होने लगा और धीरे-धीरे संयोगात्मक रूप कम होते गये और उनका स्थान वियोगात्मक रूप लेते गये।
2. नपुंसकलिंग एक सीमा तक अपभ्रंश में था—यद्यपि संस्कृत, पालि, प्राकृत की तुलना में उसकी स्थिति अस्पष्ट-सी होती जा रही थी। आदिकालीन हिंदी प्रयोगों में नपुंसकलिंग का प्रयोग प्रायः पूर्णतः समाप्त हो गया। गोरखनाथ की रचनाओं में कुछ प्रयोगों को कुछ लोगों ने नपुंसकलिंग का माना है, किंतु यह मान्यता पूर्णतः असन्दिग्ध नहीं कही जा सकती।
3. हिंदी वाक्य-रचना में शब्द-क्रम धीरे-धीरे निश्चित होने लगा था।

आदिकालीन हिंदी का शब्द-भंडार अपने प्रारंभिक चरण में अपभ्रंश का ही था, किंतु धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आते गये जिनमें उल्लेख्य तीन हैं :

1. भक्ति-आंदोलन का प्रारंभ हो गया था, अतः अपभ्रंश की तुलना में तत्सम शब्दावली कुछ बढ़ने लगी थी।
2. मुसलमानों के आगमन से कुछ शब्द पश्तो, फारसी तथा तुर्की भाषाओं से हिंदी में आये।
3. भक्ति-आंदोलन तथा मुसलमानी शासन का प्रभाव समाज पर भी पड़ा जिसके परिणामस्वरूप इस बात की भी संभावना हो सकती है कि कुछ ऐसे पुराने शब्द, जो अपभ्रंश में प्रचलित थे, इस काल में अनावश्यक या अल्पावश्यक होने के कारण या तो हिंदी शब्द-भंडार से निकल गये या फिर उनका प्रयोग बहुत कम हो गया।

इस काल के साहित्य में प्रमुखतः डिंगल, मैथिली, दक्खिनी, अवधी, ब्रज तथा मिश्रित रूपों का प्रयोग मिलता है। इस युग के प्रमुख हिंदी-साहित्यकार गोरखनाथ, विद्यापति, नरपति नाल्ह, चंदबरदायी, कबीर आदि हैं।

नोट

मध्यकाल : (1500–1800): इस काल में ध्वनि, व्याकरण तथा शब्द-भंडार के क्षेत्र में मुख्यतः आगे दिये गये परिवर्तन हुए। ध्वनि के क्षेत्र में दो-तीन बातें उल्लेख्य हैं:

1. फारसी की शिक्षा की कुछ व्यवस्था तथा दरबार में फारसी का प्रयोग होने से उच्च वर्ग में फारसी का प्रचार हुआ, जिसके कारण उच्च वर्ग के लोगों की हिंदी में क्र, ख, ग, ज, फ़ ये पाँच नये व्यंजन आ गये।
2. शब्दांत का 'अ' कम-से-कम मूल व्यंजन के बाद आने पर लुप्त हो गया, अर्थात् 'राम' का उच्चारण 'राम्' होने लगा। किंतु 'भक्त' जैसे शब्दों में—जहाँ अ के पूर्व संयुक्त व्यंजन था—'अ' बना रहा। कुछ स्थितियों में अक्षरांत 'अ' का भी लोप होने लगा। उदाहरण के लिए, आदिकालीन 'जपता' अब उच्चारण 'जप्ता' हो गया।
3. ह के पहले का अ कुछ स्थितियों में ए जैसा उच्चरित होने लगा था (अहमद-एहमद)।

व्याकरण के क्षेत्र में भी मुख्यतः तीन ही बातें उल्लेख्य हैं:

1. इस काल में हिंदी भाषा व्याकरण के क्षेत्र में पूरी तरह अपने पैरों पर खड़ी हो गई। अपभ्रंश के रूप प्रायः हिंदी से निकल गये। जो कुछ बचे थे, वे ऐसे थे जिन्हें हिंदी ने आत्मसात् कर लिया था।
2. भाषा आदिकालीन भाषा की तुलना में और भी वियोगात्मक हो गई। संयोगात्मक रूप और भी कम हो गये। परसगों तथा सहायक क्रियाओं का प्रयोग और भी बढ़ गया।
3. उच्च वर्ग में फारसी का प्रचार होने के कारण हिंदी वाक्य रचना फारसी से प्रभावित होले लगी थी।

शब्द-भंडार की दृष्टि से ये बातें मुख्य हैं:

1. इस काल में आते-आते काफ़ी शब्द फ़ारसी (लगभग 3500), अरबी (लगभग 2500), पश्तो (लगभग 50) तथा तुर्की (लगभग 125) से हिंदी में आ गये और उनकी संख्या लगभग 600 हो गई।
2. भक्ति आंदोलन के चरम बिंदु पर पहुँचने के कारण तत्सम शब्दों का अनुपात भाषा में और भी बढ़ गया।
3. यूरोप से संपर्क होने के कारण कुछ पुर्तगाली, स्पेनी, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी शब्द भी हिंदी में आ गये।

इस काल में धर्म की प्रधानता के कारण राम-स्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण-स्थान की भाषा ब्रज में ही विशेष रूप से साहित्य रचा गया। यों दक्खिनी, उर्दू, डिंगल, मैथिली और खड़ी बोली में भी साहित्य-रचना हुई। इस काल के प्रमुख साहित्यकार जायसी, सूर, मीरा, तुलसी, केशव, बिहारी, भूषण, देव हैं।



टास्क 'उर्दू' शब्द मूलतः किस भाषा का है?

आधुनिक काल : (1800 से अब तक): आधुनिककालीन हिंदी में ध्वनि के क्षेत्र में चार-पांच बातें उल्लेख्य हैं:

1. आधुनिक काल में शिक्षा के व्यवस्थित प्रचार के कारण तथा प्रारंभ में हिंदी प्रदेश में अनेक क्षेत्रों में कचहरियों की भाषा उर्दू होने के कारण क्र, ख, ग, ज, फ़ जो मध्यकाल में केवल उच्च वर्गों के फारसी पढ़े-लिखे लोगों तक प्रचलित थे, इस काल में प्रायः 1947 ई. तक सुशिक्षित लोगों में खूब प्रचलित हो गये। किंतु स्वतंत्रता के बाद स्थिति बदली है और अंग्रेजी में प्रयुक्त होने के कारण ज, फ़ तो एक सीमा तक अब भी प्रयोग में हैं, किंतु क्र, ख, ग के ठीक प्रयोग में कमी आयी है। नयी पीढ़ी, कुछ अपवादों को छोड़कर, इनके स्थान पर प्रायः क, ख, ग बोलने लगी है।
2. अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के कारण कुछ बहुशिक्षित लोगों द्वारा ऑ (कॉलेज, डॉक्टर, ऑफिस, कॉफ़ी आदि में) ध्वनि भी हिंदी में प्रयुक्त हो रही है।
3. अंग्रेजी शब्दों के प्रचार के कारण कुछ नये संयुक्त व्यंजन (जैसे ड) हिंदी में प्रयुक्त होने लगे हैं।
4. स्वरों में ऐ, औ हिंदी में आदिकाल में आये थे। इनका उच्चारण अएँ, अओं, या, अर्थात् ये संयुक्त स्वर थे। आधुनिक काल में, मुख्यतः 1940 ई. के बाद ऐ, औ की स्थिति कुछ भिन्न हो गयी है। इस संबंध में तीन बातें उल्लेख्य हैं: (क) पश्चिमी हिंदी-क्षेत्र में ये स्वर सामान्यतः मूल स्वर-रूप

में उच्चरित होते हैं। (ख) पूर्वी हिंदी-क्षेत्र में अब भी ये अएँ, अओं रूप में संयुक्त स्वर के रूप में ही प्रयुक्त हो रहे हैं (ग) नैया, वैयाकरण, कौआ जैसे शब्दों में, पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही क्षेत्रों में ऐ, औ का उच्चारण क्रमशः संयुक्त स्वर अइ, अउ रूप में होता है।

5. मध्यकाल में अ का लोप शब्दांत तथा कुछ स्थितियों में अक्षरांत में होना आरंभ हुआ था। आधुनिक काल तक आते-आते यह प्रक्रिया पूरी हो गयी। अब हिंदी में उच्चारण में कोई भी शब्द अकारांत नहीं है।
6. व ध्वनि आदिकाल तथा मध्यकाल में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः द्वयोष्ट रूप में उच्चरित होती थी, अब वह कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदी के काफी शब्दों में कम-से-कम पश्चिमी क्षेत्र में दंतोष्ठ्य रूप में उच्चरित होती है।

व्याकरण की दृष्टि से अधोलिखित बातें कही जा सकती हैं—

1. आदिकाल में हिंदी की विभिन्न बोलियों के व्याकरणिक अस्तित्व का प्रारंभ हो गया था, किंतु काफ़ी व्याकरणिक रूप ऐसे थे, जो आसपास के क्षेत्रों में समान थे। मध्यकाल में उनमें इस प्रकार के मिश्रण में काफ़ी कमी हो गई थी। सूर, बिहारी, देव आदि की ब्रजभाषा तथा जायसी, तुलसी आदि की अवधि इस बात का प्रमाण है। आधुनिक काल तक आते-आते ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि कई बोलियों का व्याकरणिक अस्तित्व इतना स्वतंत्र हो गया है कि उन्हें बड़ी सरलता से भाषा की संज्ञा दी जा सकती है।
2. हिंदी प्रायः पूर्णतः एक वियोगात्मक भाषा हो गयी है।
3. प्रेस, रेडियो, शिक्षा तथा व्याकरणिक विश्लेषण आदि के प्रभाव से हिंदी व्याकरण का रूप काफ़ी स्थिर हो गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर हिंदी व्याकरण का मानक रूप सुनिश्चित हो चुका है। व्याकरण के इस स्थिरीकरण में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का मुख्य हाथ रहा है।
4. कहा जा चुका है कि मध्यकाल में हिंदी वाक्य-रचना एक सीमा तक फारसी से प्रभावित हुई थी। आधुनिक काल में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार फारसी की तुलना में कहीं अधिक हुआ है। साथ ही समाचार-पत्रों, रेडियो तथा सरकारी कामों में प्रयोग के कारण भी अंग्रेज़ी हमारे अधिक निकट आयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि हिंदी भाषा वाक्य-रचना, मुहावरों तथा लोकोक्ति आदि के क्षेत्र में अंग्रेज़ी से बहुत अधिक प्रभावित हुई है। उदाहरण के लिए, 'मैं सोने जा रहा हूँ', 'आई ऐम गोइंग टु स्लीप' का अनुवाद है तो 'वह आदमी जो कल बीमार पड़ा था, आज मर गया', 'द मैंन हू फेल इल येस्टरडे एक्सपायर्ड टु डे, का। इसी तरह 'प्रकाश डालना' मुहावरा 'टु थ्रो लाइट ऑन' का अनुवाद है, तो 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है', लोकोक्ति 'नेसेसिटी इज द मदर ऑफ़ इन्वेन्शन' का। अंग्रेज़ी ने विराम-चिह्नों के माध्यम से भी हिंदी वाक्य-रचना को प्रभावित किया है।
5. इधर कुछ वर्षों से 'कीजिए' के लिए 'करिए', 'मुझे' के लिए 'मेरे को', 'मुझको' के लिए 'मेरे से', 'तुझ में' के लिए 'तेरे में', 'तेरे में', नहीं जाता है के स्थान पर 'नहीं जाता', 'नहीं जा रहा है' के स्थान पर 'नहीं जा रहा' जैसे नये रूपों तथा नयी वाक्य-रचना का प्रचार कुछ क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। अर्थात् हिंदी भाषा को रूप-रचना तथा वाक्य-रचना में परिवर्तन हो रहा है।

शब्द-भंडार की दृष्टि से 1800 ई. से अब तक के आधुनिक काल को सामान्यतः छह-सात उपकालों में विभाजित किया जा सकता है। 1800 से 1850 ई. तक का हिंदी शब्द-भंडार मोटे रूप से वही था जो मध्यकाल के अंतिम चरण में था। अंतर केवल यह था कि धीरे-धीरे अंग्रेज़ी के अधिकाधिक शब्द हिंदी भाषा में आते जा रहे थे। 1850 से 1900 ई. तक अंग्रेज़ी के और शब्दों के आने के अतिरिक्त आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिंदी से निकल गये। 1900 ई. के बाद द्विवेदी-काल तथा छायावाद-काल में अनेक कारणों से तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ना प्रारंभ हो गया। प्रसाद पन्त और महादेवी वर्मा का पूरा साहित्य इस दृष्टि से दर्शनीय है। इसके बाद प्रगतिवादी आंदोलन के कारण तद्भव शब्दों के प्रयोग में पुनः वृद्धि हुई तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग में काफ़ी कमी हुई। सन् 1947 तक लगभग यही स्थिति रही। इसके बाद के शब्द-भंडार में कई बातें उल्लेख्य हैं:

1. अनेक पुराने शब्द नये अर्थों में प्रचलित हो गये हैं। उदाहरण के लिए, 'सदन' राज्यसभा-लोकसभा के लिए (दोनों सदनों में) प्रयुक्त हो रहा है।

नोट

2. नयी आवश्यकता की पूर्ति के लिए क्षणिका, फिल्मना, घुसपैठिया जैसे बहुत-से नये शब्द हिंदी में आ गये हैं।
3. साहित्य में नाटक, उपन्यास, कहानी और कविता की भाषा बोलचाल के बहुत निकट है; उसमें अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी के जन-प्रचलित शब्दों का काफी प्रयोग हो रहा है, किंतु आलोचना की भाषा अब भी एक सीमा तक तत्सम शब्दों से काफी लदी हुई है।
4. इधर हिंदी को पारिभाषिक शब्दों की बहुत आवश्यकता पड़ी है, क्योंकि वह अब विज्ञान, वाणिज्य, विधि आदि की भी भाषा है। इसकी पूर्ति के लिए अनेक शब्द अंग्रेजी, संस्कृत आदि से लिये गये हैं तथा अनेक नये शब्द बनाये गये हैं। स्वतंत्रता के पूर्व हिंदी में मुश्किल से पांच-छह हजार पारिभाषिक शब्द थे, किंतु अब उनकी संख्या लगभग एक लाख है और दिनोंदिन उसमें वृद्धि होती जा रही है। हिंदी शब्द-भंडार अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए तथा नये शब्दों से समृद्ध होते हुए दिनोंदिन अधिक व्यापक होता जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप हिंदी अपनी अभिव्यंजना में अधिक सटीक, निश्चित, गहरी तथा समर्थ होती जा रही है।

किसी भाषा के प्रचार-क्षेत्र में जैसे-जैसे विस्तार होता है, उसके एकाधिक रूप विकसित होने लगते हैं। आज इंग्लैंड, अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया की अंग्रेजी ध्वनि-व्यवस्था, रूप-रचना, वाक्य-गठन तथा शब्द-भंडार किसी भी दृष्टि से पूर्णतः एक नहीं है। हिंदी के साथ भी वही स्थिति आती जा रही है। संविधान के 351वें अनुच्छेद के अनुसार संपर्क भाषा के रूप में जिस हिंदी का विकास होना है, वह कम-से-कम शब्द-भंडार के क्षेत्र में भारत की प्रायः सभी भाषाओं से कुछ-न-कुछ ग्रहण करेगी। इस प्रकार राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्वरूप एक प्रकार से सार्वदेशिक होगा। नागपुर में हुए विश्व हिंदी-सम्मेलन (1975) में इस दिशा में स्वदेश-विदेश के हिंदी विद्वानों ने यथेष्ट विचार-विमर्श के उपरान्त उपर्युक्त निष्कर्ष से ही सहमति प्रकट की और हिंदी को राष्ट्रभाषा के साथ ही विश्व की एक प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का संकल्प व्यक्त किया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. 'हिंदुई' शब्द से बना है।

(क) हिंदु + ई	(ख) हिंद + ई
(ग) हिं + दुई	(घ) इनमें से नहीं कोई नहीं
6. उर्दू शब्द मूलतः भाषा का है।

(क) फारसी	(ख) तुर्की
(ग) अरबी	(घ) इनमें से कोई नहीं
7. 'हिंदी' बोलियों का सामूहिक नाम है।

(क) आठ	(ख) चार
(ग) दो	(घ) दस
8. 'हिंदी भाषा का वास्तविक आरंभ से माना जाता है।

(क) 800 ई.	(ख) 1000 ई.
(ग) 500 ई.	(घ) 2000 ई.

2.5 सारांश (Summary)

- 'हिंदी' जिस भाषा-धारा के विशिष्ट दैशिक और कालिक रूप का नाम है, भारत में उसका प्राचीनतम रूप संस्कृत है। संस्कृत का काल मोटे रूप से 1500 ई.पू. से 500 ई.पू. तक माना जाता है। इस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। उस बोलचाल की भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है।

- 'खड़ी बोली' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है: एक तो साहित्यिक हिंदी खड़ी बोली के अर्थ में और दूसरे दिल्ली-मेरठ के आसपास की लोक-बोली के अर्थ में। यहाँ दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। इसी अर्थ में 'कौरवी' का भी प्रयोग कुछ लोग करते हैं। 'खड़ी बोली' में 'खड़ी' शब्द का अर्थ विवादास्पद है। कुछ लोगों ने 'खड़ी' का अर्थ 'खरी' (pure) अर्थात् शुद्ध माना है, तो दूसरों ने 'खड़ी' (standing)। कुछ अन्य लोगों ने इसका संबंध खड़ी बोली में अधिकता से प्रयुक्त खड़ी पायी '1' (गया, बढ़ा, का) तथा उसके ध्वन्यात्मक प्रभाव कर्कशता से जोड़ा है।
- आज हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी नामों का प्रयोग जिन भाषा-रूपों के लिए होता है, व्याकरणिक स्तर पर वे प्रायः एक ही हैं और उनकी आधार-भाषा वह मिश्रित बोली है जो मूलतः कौरवी, पंजाबी, ब्रज आदि के योग से बनी होगी। आज इस खड़ी बोली में जब बोलचाल के शब्दों (आधारभूत शब्दावली, बहुप्रचलित तद्भव शब्द, सरल बहुप्रचलित संस्कृत शब्द तथा सरल बहुप्रचलित अरबी, फारसी, तुर्की शब्द) का ही प्रयोग होता है तो उसे बोलचाल की हिंदी या हिंदुस्तानी कहते हैं; उन शब्दों के साथ ही जब संस्कृत के अल्प प्रचलित अतः कठिन तत्सम शब्दों का भी काफी प्रयोग होता है तो उसे हिंदी या साहित्यिक हिंदी कहते हैं, और जब उन शब्दों के साथ अरबी, फारसी, तुर्की के अल्पप्रचलित अतः कठिन शब्दों का बहुत प्रयोग होने लगता है तो उसे उर्दू कहते हैं। इस तरह खड़ी बोली की या सामान्य हिंदी की ये तीन शैलियाँ हैं।
- 'हिंदी' शब्द का संबंध संस्कृत शब्द 'सिंधु' से माना जाता है। 'सिंधु' सिंध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिन्धु' कहने लगे। यह 'सिंधु' शब्द ईरानी में जाकर 'हिंदू' और फिर 'हिंद' हो गया और इसका अर्थ हुआ 'सिंध प्रदेश'। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गये और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा 'हिंद' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया।
- 1800 से 1850 ई. तक का हिंदी शब्द-भंडार मोटे रूप से वही था जो मध्यकाल के अंतिम चरण में था। अंतर केवल यह था कि धीरे-धीरे अंग्रेजी के अधिकाधिक शब्द हिंदी भाषा में आते जा रहे थे। 1850 से 1900 ई. तक अंग्रेजी के और शब्दों के आने के अतिरिक्त आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिंदी से निकल गये।

2.6 शब्दकोश (Keywords)

संस्कृतकालीन	—	संस्कृत काल से संबंधित
चरागाह	—	मवेशी चराने का घास का मैदान
मुद्रित	—	छपा हुआ

2.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. हिंदी की उपभाषाओं और बोलियों से आप क्या समझते हैं?
2. 'खड़ी बोली' से क्या तात्पर्य है? लोक साहित्य में इसका क्या स्थान है?
3. 'हिंदी के क्रमिक विकास' पर टिप्पणी लिखिए।
4. आधुनिककालीन हिंदी में ध्वनि के क्षेत्र में कौन सी बातें उल्लेखनीय हैं?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|-----------|------------|------------------------|-------------|
| 1. कन्नौज | 2. अयोध्या | 3. अर्द्धमागधी अपभ्रंश | 4. ढूँढ़ाणी |
| 5. (क) | 6. (ख) | 7. (क) | 8. (ख) |

2.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - डॉ. ईश्वरदत्त शील, आभारानी।
2. हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।

इकाई-3: हिंदी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 3.1 इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप
- 3.2 'इतिहास-दर्शन' की रूपरेखा
- 3.3 साहित्य का इतिहास-दर्शन
- 3.4 साहित्येतिहास और साहित्यालोचन
- 3.5 हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा
- 3.6 हिंदी-साहित्येतिहास के आधार
- 3.7 सारांश (Summary)
- 3.8 शब्दकोश (Keywords)
- 3.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 3.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- 'इतिहास' का अर्थ एवं स्वरूप जानने में।
- साहित्य का इतिहास-दर्शन जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। अतः प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरकता, तथ्यों की यथार्थता और निष्कर्षों की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है; यह दूसरी बात है कि विषयवस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की-सी वैज्ञानिकता का आविर्भाव उसमें शायद ही संभव हो। वास्तव में विषय-भेद से स्वयं विज्ञान भी अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विभक्त हो जाता है; उदाहरण के लिए मनोविज्ञान, समाजविज्ञान व भाषाविज्ञान को हम विज्ञान की उसी श्रेणी में स्थान नहीं दे सकते जिस श्रेणी में भौतिकविज्ञान, रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान को देते हैं। अतः इतिहास को भी हम उसी श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं, जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाजविज्ञान (Sociology) को देते हैं।

आज पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक विकसित दृष्टिकोण के रूप में विकासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा सकता है, किंतु अनेक दृष्टियों से यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। एक तो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले विकासवादी चिन्तकों के सिद्धांतों में भी परस्पर अन्विति एवं एकरूपता का अभाव है, जहाँ डार्विन का विकासवाद प्राणिशास्त्र में लागू होता है, वहाँ मार्क्स का अर्थशास्त्र में, स्पेन्सर का भौतिकविज्ञान में या बर्गसों का मनोविज्ञान में लागू होता है।

3.1 इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप

शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है—'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ'। इससे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो यह कि इतिहास का संबंध अतीत से है; दूसरे यह कि उसके अंतर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का समावेश किया जाता है। उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है जिनका संबंध अतीत की यथार्थ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही उसका संबंध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं' से ही नहीं, अपितु उन घटनाओं से भी है जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुतः आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अतः संक्षेप में अतीत के किसी भी तथ्य, तत्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन, व विश्लेषण को—जो कि कालविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो—इतिहास कहा जा सकता है। लाक्षणिक अर्थ में 'इतिहास' का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीतकालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है, जैसे—'महात्मा गांधी ने भारत के नये इतिहास का निर्माण किया' या 'सम्राट अशोक भारत के इतिहास-निर्माता थे' आदि वाक्यों में। किंतु शास्त्रीय या वैज्ञानिक विवेचन में लाक्षणिक प्रयोग अग्राह्य या त्याज्य ही समझे जाते हैं।



नोट्स शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है—'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ'।

प्राचीनकाल से ही इतिहास को अध्ययन के एक स्वतंत्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त है, किंतु अध्येताओं के दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहा है; इसलिए कभी उसे कला के क्षेत्र में और कभी विज्ञान के क्षेत्र में स्थान दिया जाता रहा। वस्तुतः इतिहास कला है या विज्ञान, यह प्रश्न आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद के मूल में यह भ्रान्ति विद्यमान है कि कोई भी वस्तु या विषय अपने आपमें कला या विज्ञान की कोटि में आ सकता है जबकि वास्तविकता यह है कि कला या विज्ञान का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर नहीं, अपितु उसकी अध्ययन-पद्धति या रचना-पद्धति पर निर्भर है। इतिहास हमें अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है, किंतु यह हम पर निर्भर है कि उस इतिवृत्त का उपयोग किस प्रकार करते हैं। यदि अतीत के इतिवृत्त को हम आत्मपरक दृष्टिकोण, वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं तो वह 'कला' की संज्ञा से विभूषित हो सकता है जबकि वस्तुपरक दृष्टिकोण, तर्कपूर्ण शैली एवं गवेषणात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया अतीत का विवरण 'विज्ञान' की विशेषताओं से युक्त माना जा सकता है। वस्तुतः इतिहास से कवि, साहित्यकार, उपदेशक, शोधकर्ता आदि विभिन्न वर्गों के लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं तथा उनकी दृष्टि व पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप भी बदलता रहा है—ऐसी स्थिति में इतिहास के भी विभिन्न रूप उपलब्ध हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है। अतः प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरकता, तथ्यों की यथार्थता और निष्कर्षों की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है; यह दूसरी बात है कि विषयवस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की-सी वैज्ञानिकता का आविर्भाव उसमें शायद ही संभव हो। वास्तव में विषय-भेद से स्वयं विज्ञान भी अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विभक्त हो जाता है; उदाहरण के लिए मनोविज्ञान, समाजविज्ञान व भाषाविज्ञान को हम विज्ञान की उसी श्रेणी में स्थान नहीं दे सकते जिस श्रेणी में भौतिकविज्ञान, रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान को देते हैं। अतः इतिहास को भी हम उसी श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं, जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाजविज्ञान (Sociology) को देते हैं।

हिंदी साहित्येतिहास स्रोत—हिंदी साहित्य के इतिहास की आधारभूत सामग्री को मुख्यतः दो भागों में रखा जा सकता है—(क) अंतःसाक्ष्य तथा (ख) बाह्य साक्ष्य। अंतःसाक्ष्य के अंतर्गत उपलब्ध सामग्री को भी तीन रूपों में बाँटा जा सकता है—(1) भक्त एवं संत कवियों से संबद्ध आधारभूत ग्रंथ, (2) कवि-विषयक काव्य संग्रह, (3) साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनायें तथा कवियों के परिचय से सम्बद्ध पुस्तकें। बाह्य साक्ष्य के अंतर्गत प्राप्त सामग्री चार रूपों में मिलती है—(1) साहित्यिक सामग्री, (2) प्राचीन ऐतिहासिक स्थान, शिलालेख, वंशावलि या व प्रामाणिक उल्लेख, (3) जनश्रुतियाँ, (4) विभिन्न युगों की आंतरिक व बाह्य परिस्थितियों की ज्ञापक सामग्री।

नोट

साहित्य के इतिहास के लेखन कार्य में बाह्य साक्ष्य की अपेक्षा अंतःसाक्ष्य अधिक विश्वसनीय और महत्वपूर्ण है क्योंकि एक समन्वित दृष्टिकोण संपन्न इतिहास लेखक अपनी विवेकमयी सारग्राहिणी बुद्धि से उस सामग्री से ग्राह्य व प्रामाणिक उपादानों को ग्रहण करता है। एक श्रेष्ठ इतिहास लेखक सर्वदा “सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय” के आदर्श का दृढ़ता से पालन करता है।

(क) अंतःसाक्ष्य

(1) **भक्त एवं संत कवियों से संबद्ध आधारभूत ग्रंथ**—इस कोटि के अंतर्गत गोकुलनाथ द्वारा रचित ‘चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताएँ’, नाभादास रचित ‘भक्त-माल’, ‘गुरुग्रंथ साहब’, ‘गोसाईं चरित्र’, ध्रुवदास लिखित ‘भक्त नामावली’ तथा ‘संत बानी’ संग्रह व अन्य संतों की बानी आदि ग्रंथ आते हैं। चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताओं में पुष्टि मार्ग के अनुयायी वैष्णवों की जीवनियों पर प्रकाश डाला गया है। इनमें अष्टछाप के कृष्ण भक्त कवि सूरदास और नंददास आदि सम्मिलित हैं। भक्तमाल में अनेक भक्तों के व्यक्तित्व से संबंधित 108 छप्पय छंदों का उल्लेख है। इनमें उनके जीवन और कृतित्व के बारे में श्रद्धापूर्वक उल्लेख है। इनमें अनेक भक्ति कवि भी हैं। ‘गुरुग्रंथ साहब’ में कबीर, रैदास तथा नाभादास की वाणियों का संग्रह है। ‘गोसाईं चरित्र’ में गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-चरित्र की अलौकिक घटनाओं का वर्णन मिलता है। संत बानी संग्रह तथा अन्य संतों की बानी में 24 संत कवियों के जीवन चरित्र और काव्य-संग्रह हैं। इन सब ग्रंथों में भक्तों व संत कवियों के विषय में स्तुत्यात्मक कथन है, अतः उनके उपयोग में इतिहासोचित सावधानी अपेक्षित है। गुरुमुखी लिपि में निबद्ध हिंदी कवियों के ग्रंथों ने हिंदी साहित्य के इतिहास के निर्माण में काफी उपयोगी सामग्री जुटाई है।

(2) **विविध कवियों से संबद्ध काव्य संग्रह**—इस प्रकार के अनेक काव्य संग्रह मिलते हैं—‘कविमाला’ में 75 कवियों की कविताओं का संकलन है। ‘कालिदास हजारा’ में 292 कवियों की एक हजार कविताओं का संग्रह है। भिखारीदास के ‘काव्य निर्णय’ में जहाँ एक ओर काव्य के आदर्शों का उल्लेख है, वहाँ उसमें कुछ कवियों का संक्षिप्त निर्देश भी कर दिया गया है। ‘सत्कवि गिरा विलास’ में केशव, चिंतामणी, मतिराम और बिहारी आदि 17 कवियों की कविताओं का संग्रह है। ‘कवि नामावली’ में लेखक ने दस कवियों का नाम गिनाकर उन्हें प्रणाम अर्पित किया है। ‘विद्वान मोदतरंगिणी’ में 15 कवियों का काव्य संग्रह है। सरदार कवि के ‘शृंगार संग्रह’ में काव्य के विविध अंगों के निरूपण के साथ-साथ 125 कवियों की कविताओं के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। हरिश्चंद्र के ‘सुंदरोत्तिलक’ में 69 कवियों के सवैयों का संग्रह है। ‘काव्य-संग्रह’ में अनेक कवियों का काव्य संग्रह है। मातादीन मिश्र के ‘कवित्त रत्नाकर’ में 20 कवियों का काव्य संग्रह है। शिवसिंह सेंगर के ‘शिवसिंह सरोज’ में एक हजार कवियों का जीवनवृत्त और उनकी कविताओं के उदाहरण जुटाए गए हैं। इतिहास की सामग्री की दृष्टि से यह ग्रंथ काफी उपादेय है। ‘विचित्रोपदेश’ नामक ग्रंथ में अनेक कवियों की कविताएँ हैं। ‘कवि रत्नमाला’ में राजपूताने के 108 कवियों की कविताएँ जीवनी सहित दी गई हैं। ‘हफीजुल्ला खां हजारा’ के दो भागों में अनेक कवियों के कवित्त और सवैयों का संग्रह है। लाला सीता राम के ‘सलेक्शन फ्रॉम हिंदी लिटरेचर’ (Selection from Hindi Literature) में अनेक कवियों की आलोचनाएँ और कविताएँ हैं। लाला भगवानदीन के ‘सूक्ति सरोवर’ में ब्रज भाषा के अनेक कवियों की साहित्यिक विषयों पर सूक्तियाँ हैं। कृष्णानंद व्यासदेव रचित ‘राग सागरोद्भव राग कल्पद्रुम’ में अनेक राग-रागणियों के उल्लेख के साथ कृष्णोपासक दो सौ से अधिक कवियों के काव्य संग्रह हैं। ‘दिग्विजय भूखन’ में 192 कवियों का काव्य-संग्रह है। ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी के ‘रस चंद्रोदय’ में 242 कवियों की कविताओं का संकलन है। उपर्युक्त काव्य-संग्रहों की विषय-वस्तु से स्पष्ट है कि इनमें अनेक कवियों की मूल्यवान कविताएँ हैं जिनके आधार पर संबद्ध कवियों की साहित्यगत प्रवृत्तियाँ निर्धारित की जा सकती हैं। इन ग्रंथों से मध्ययुगीन हिंदी कवियों और उनके काव्यों के विषय में काफी तथ्यों का पता चलता है।

(ख) बाह्य साक्ष्य

(1) **साहित्यिक सामग्री**—इसके अंतर्गत टाड का ‘राजस्थान’ नागरी प्रचारिणी सभा की खोजक रिपोर्टें, मोतीलाल मेनारिया की ‘राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज’, बिहार में हस्तलिखित ग्रंथ, हिंदूइज्म एंड ब्राह्मणनिज्म, कबीर एंड दि कबीर पंथ, हिस्ट्री ऑफ सिख रिलीजन, इंडियन थोइज्म, ए डिस्क्रिप्टिव केटेलॉग ऑफ वार्डिक एंड हिस्टारिकल मैन्युस्क्रिप्ट, एन आउट लाइन ऑफ दि रिलीजस लिटरेचर ऑफ इंडिया, गोरखनाथ एंड दि कनफटा योगीज आदि ग्रंथ आते हैं।

टाड रचित 'राजस्थान' में राजस्थान के चारण कवियों की चर्चा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टों में अनेक अज्ञात कवियों और लेखकों का परिचय एवं उनकी रचनाओं के उदाहरण हैं। मोतीलाल मेनारिया ने अपने ग्रंथ में राजस्थान के अनेक ज्ञात व अज्ञात कवियों एवं लेखकों का परिचय और उनकी रचनाओं के उदाहरण जुटाये हैं। ऊपर अंग्रेजी भाषा में लिखित ग्रंथों की चर्चा की गई है उनमें हिंदू धर्म और दर्शन के सिद्धांतों के निरूपण के साथ-साथ हिंदी के अनेकों कवियों और आचार्यों के विचारों की भी समीक्षा कर दी गई है। इन ग्रंथों में अधिकतर साहित्य के धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। एल.पी. टैसीटरी के 'ए डिस्क्रेटिव केटलॉग ऑफ वार्डिक एंड हिस्टोरिकल मैनुस्क्रिप्ट' राजस्थान में रचित डिंगल काव्य के अनेक विवरण हैं।



क्या आप जानते हैं? आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधिक निकट माना जाता है।

(2) प्राचीन ऐतिहासिक स्थान व शिलालेख—शिलालेख प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होते हैं। चंदेल राजा परमाल (परमार्दिदेव) के समय के जैन-शिलालेख तथा आबू पर्वत के राजा जेत और शलख के शिलालेख तत्कालीन इतिहास पर प्रकाश डालते हैं।

ऐतिहासिक स्थानों के अंतर्गत काशी में कबीर चौरा, अस्सी घाट, कबीर की समाधि, बस्ती जिले में आमी नदी का तट, अमेठी में जायसी की समाधि, राजापुर में तुलसी की प्रस्तर मूर्ति, सोरो में तुलसीदास के स्थान का अवशेष तथा नरसिंह जी का मंदिर, केशवदास का स्थान टीकमगढ़ और सागर आदि आते हैं।

(3) जनश्रुतियाँ—उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त कवियों की जीवनीयों और उनकी साधना से संबद्ध अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं। निःसंदेह जनश्रुतियाँ विशेष प्रामाणिक नहीं होतीं किंतु उनमें सत्य की ओर कुछ संकेत अवश्य मिल जाते हैं। जनश्रुतियाँ शताब्दियों से जन जिह्वा की सवारी करती आ रही होती हैं अतः इनमें अतिरंजना का योग आवश्यक है। फिर भी एक कृति इतिहास की मनीषा उनके ग्राहणीय अंशों का सार्थक उपयोग कर लेती है।

(4) विभिन्न युगों की परिस्थितियों की बोधक सामग्री में विभिन्न युगों के इतिहास आदि ग्रंथ आते हैं।

ऊपर हमने हिंदी-साहित्य के इतिहास की जिस आधारभूत सामग्री अथवा मूल स्रोतों की चर्चा की है, वह इतनी अपर्याप्त है कि उसके आधार पर हिंदी साहित्य का एक सुनिश्चित व प्रामाणिक इतिहास तैयार हो पाना कठिन है। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों द्वारा गत 40-50 वर्षों में इस दिशा में किये गये महत्वपूर्ण अनुसंधानों और शोध प्रबंधों की सामग्री का सावधानीपूर्वक उपयोग आवश्यक है। इन अनुसंधानों से काफी महत्वपूर्ण तथ्य आलोक में आए हैं। आधुनिक काल के इतिहास के लिए डॉ. माताप्रसाद गुप्त तथा डॉ. प्रेमनारायण टंडन आदि अनेक लेखकों द्वारा समकालीन लेखकों और उनकी रचनाओं के वृत्तसंग्रह निर्देशिकाओं के रूप में पर्याप्त सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. टाड रचित में राजस्थान के चारण कवियों की चर्चा है।
2. नाभादास द्वारा रचित काव्य हैं।
3. गोकुलनाथ द्वारा रचित है।
4. 'गुरु ग्रंथ साहब' में कबीर, रैदास और का संग्रह है।

3.2 'इतिहास-दर्शन' की रूपरेखा

जैसा कि पीछे संकेत दिया जा चुका है, इतिहास के अध्ययन में विभिन्न विद्वान विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों का प्रयोग करते रहे हैं तथा ये दृष्टिकोण भी समय-समय पर बदलते रहे हैं—इसी तथ्य के आधार पर

नोट

‘इतिहास-दर्शन’ विषय की स्थापना हुई है जिसमें इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों धारणाओं व विचारों का अध्ययन किया जाता है। अस्तु, इतिहास संबंधी इन्हीं विचार या धारणाओं को समूह-रूप में ‘इतिहास-दर्शन’ की संज्ञा दी जाती है।

वैसे, पश्चिम के कुछ विद्वानों ने ‘इतिहास-दर्शन’ (Philosophy of History) का प्रयोग संकीर्ण व सीमित अर्थ में करते हुए अपने-अपने दृष्टिकोणों को ही उस पर आरोपित करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम वोल्तेर ने इस संज्ञा का प्रयोग करते हुए इसके अर्थ को केवल ‘आलोचनात्मक या वैज्ञानिक इतिहास’ तक सीमित रखने का प्रयास किया। हीगल ने इसका प्रयोग विश्व-इतिहास के अर्थ में तथा परवर्ती युग के कुछ विद्वानों ने केवल परीक्षाणात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण के लिए किया। किंतु, आज ‘इतिहास-दर्शन’ के नाम से उपलब्ध पुस्तकों में पूर्व से पश्चिम तक तथा प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के उन सभी दृष्टिकोणों व विचारों का प्रतिपादन किया जाता है जो इतिहास के अध्ययन से प्रयुक्त हुए हैं। ऐसी स्थिति में, यदि हम एकांगी और एकपक्षीय धारणाओं से बचते हुए ‘इतिहास-दर्शन’ का सर्वांगीण व सर्वपक्षीय बोध प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें उसे उसी व्यापक एवं समन्वित अर्थ में ग्रहण करना होगा जिसके अनुसार ‘इतिहास-दर्शन’ उन दृष्टिकोणों विचारों व अध्ययन-पद्धतियों के समूह का सूचक है, जिनका प्रयोग इतिहास के अध्ययन से संभव है।

इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण: इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण प्रायः आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है, इसीलिए उसमें भौतिक जगत की स्थूल घटनाओं में भी आध्यात्मिक तत्वों व प्रवृत्तियों के अनुसंधान की प्रवृत्ति रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्रायः सामयिक तत्वों की अपेक्षा चिरन्तन मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है, अतः यहाँ के प्राचीन इतिहासकारों ने अतीत की व्याख्या भी इसी दृष्टिकोण से की; अर्थात् वे परिवर्तनशील अतीत में से भी उन प्रवृत्तियों का अनुसंधान करते रहे जो मनुष्य को स्थायी एवं अमर बनाती हैं। उन्होंने घटनाओं एवं क्रिया-कलापों की व्यवस्था भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से कम करके समष्टि हित की दृष्टि से अधिक की। इसीलिए महाभारतकार ने जहाँ इतिहास को एक ऐसा पूर्ववृत्त माना जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके, तो पौराणिकों ने ऋषियों एवं महापुरुषों के चरित गान को ‘इतिहास’ के रूप में स्वीकार करते हुए घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व प्रदान किया।

यद्यपि आगे चलकर बाण, कल्हण आदि इतिहासकारों ने इससे भिन्न दृष्टि को अपनाते हुए आध्यात्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक तत्वों की अपेक्षा यथार्थपरक वस्तु एवं तथ्यों को अधिक महत्त्व प्रदान किया, किंतु काव्यात्मकता एवं अलंकरण का मोह वे भी न त्याग सके। इसीलिए जहाँ प्राचीन युग में भारतीय इतिहासकारों की रचनाएँ चारित्रिक, मूल्यों, नैतिक उपदेशों व आध्यात्मिक रूपकों से युक्त होकर पौराणिक रूप में परिणत हो गईं, वहाँ परवर्ती इतिहासकारों की रचनाएँ शुद्ध इतिहास की अपेक्षा ‘काव्यात्मक इतिहास’ या ‘ऐतिहासिक काव्य’ के रूप में विकसित हुईं। वस्तुतः भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्य-शोधन तक ही सीमित नहीं रहा, वह ‘शिव’ और ‘सुंदरम्’ के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा। इसे व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ उसका ‘गुण’ कहा जा सकता है, वहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से यह उसका सबसे बड़ा ‘दोष’ भी माना जा सकता है, क्योंकि उसने इतिहास के कलेवर में कला और नीति को स्थान देकर उसे शुद्ध ऐतिहासिकता से वंचित रखा। फिर भी, यदि इतिहास के कलात्मक या काव्यात्मक रूप का किसी भी दृष्टि से कोई महत्त्व है तो उस दृष्टि से भारतीय इतिहासकार को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है। वास्तव में भारतीय इतिहासकार ने अपनी संस्कृति एवं जीवन के आदर्शों के अनुरूप ही इतिहास के क्षेत्र में भी संश्लेषणात्मक व समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उसमें सत्य, शिव व सुंदरम् के समन्वय का प्रयास किया, जो उसकी परम्पराओं को देखते हुए उचित व स्वाभाविक कहा जा सकता है।

इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण : जहाँ भारतीय इतिहासकारों के दृष्टिकोण में आदर्शवादिता की प्रमुखता रही, वहाँ पाश्चात्य इतिहासकार प्रायः यथार्थवादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित रहे हैं। ‘इतिहास’ (History) के प्रथम व्याख्याता यूनानी विद्वान हिरोदोटस (456-545 ई.पू.) ने इसे ‘खोज’, ‘गवेषणा’ या ‘अनुसंधान’ के अर्थ में ग्रहण करते हुए इसके चार लक्षण निर्धारित किये थे—एक तो यह कि इतिहास वैज्ञानिक विद्या है, अतः इसकी पद्धति आलोचनात्मक होती है। दूसरे, यह मानव जाति से संबंधित होने के कारण मानवीय विद्या (मानविकी) है। तीसरे, यह तर्कसंगत विद्या है, अतः इसमें तथ्य और निष्कर्ष प्रमाण पर आधारित होते हैं। चौथे, यह अतीत के आलोक में भविष्य पर प्रकाश डालता है, अतः यह शिक्षाप्रद विद्या है। इसके अतिरिक्त हिरोदोटस ने यह भी स्पष्ट किया कि इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या करना है।

प्राचीन युग में सामान्यतः हिरोदोटस का ही दृष्टिकोण मान्य रहा, किन्तु आधुनिक युग के विभिन्न विद्वानों ने इसके संबंध में नये दृष्टिकोण से विचार किया। इटैलियन विद्वान विको (1668-1744) ने इतिहास का संबंध न केवल अतीत से, अपितु वर्तमान से भी स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि इतिहास का निर्माता स्वयं मनुष्य है और मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियाँ सदा समान रहती हैं, अतः विभिन्न युगों के इतिहास में भी समान प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है। इतिहास-लेखन की पद्धति के संबंध में भी विको ने अनेक सुझाव देते हुए इतिहासकारों को अतिरंजना व अतिशयोक्ति से बचने और अतीत को अधिक महत्त्व न देने बात कही।

जर्मन दार्शनिक कांत (1724-1804) ने इतिहास की नयी व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आंतरिक विकास-प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब-मात्र है, अतः इतिहास को भी इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए, अर्थात् ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे प्राकृतिक नियमों की प्रवृत्ति को समझने का प्रयास किया जाना चाहिए। हीगल (1770-1831) ने कांत की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए स्पष्ट किया कि इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण एवं संकलन-मात्र नहीं है, अपितु उसके भीतर कारण-कार्य की शृंखला विद्यमान है। हीगल के मतानुसार विश्व इतिहास की प्रक्रिया का मूल लक्ष्य मानव चेतना का विकास है जो द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आधारित है। इस द्वन्द्वात्मक पद्धति या प्रक्रिया के अनुसार वाद (thesis) एवं प्रतिवाद (anti-thesis) के द्वंद्व से समवाद (synthesis) का विकास होता है। इतिहास की व्याख्या भी इसी द्वन्द्वात्मक पद्धति के आधार पर होनी चाहिए।

उन्नीसवीं शती में डारविन ने अपने विकासवादी सिद्धांत की स्थापना के द्वारा इतिहास को एक नूतन दृष्टि, शक्ति व गति प्रदान की। डारविन परवर्ती युग में विभिन्न चिन्तकों ने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में विभिन्न विकासवादी सिद्धांतों की स्थापना करते हुए प्रमाणित किया कि सृष्टि का कोई अंग या तत्व एकाएक घटित या रचित न होकर क्रमशः विकसित है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ 'घटना-समूह' का संकलन न होकर 'विकास-क्रम' का विवेचन है। कार्ल-मार्क्स, एंजिल्स, मारगन, हक्सले प्रभृति ने विकासवाद के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि से करते हुए उसे विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। बीसवीं शती के अनेक इतिहासकारों-स्पेंगलर, ट्वायनबी, टर्नर आदि ने विश्व संस्कृति और सभ्यता के इतिहास की व्याख्या विकासवादी नियमों व प्रवृत्तियों के आधार पर करने की चेष्टा की है।

अस्तु, आज पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक विकसित दृष्टिकोण के रूप में विकासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा सकता है, किंतु अनेक दृष्टियों से यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। एक तो अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले विकासवादी चिन्तकों के सिद्धांतों में भी परस्पर अन्विति एवं एकरूपता का अभाव है, जहाँ डारविन का विकासवाद प्राणिशास्त्र में लागू होता है, वहाँ मार्क्स का अर्थशास्त्र में, स्पेन्सर का भौतिकविज्ञान में या बर्गसों का मनोविज्ञान में लागू होता है। दूसरे, विकासवादी सिद्धांतों के विरोध में भी प्रतिक्रिया हो रही है; विद्वानों का एक वर्ग इन्हें 'विधेयवादी' कहकर टुकराने का प्रयास कर रहा है। सार्त्र आदि के वे अनुयायी जो कि नियमबद्धता, पूर्व-निश्चिता एवं पूर्वनिर्धारण के विरोधी हैं, इतिहास को भी किसी नियम से आबद्ध करना कैसे स्वीकार कर सकते हैं! अस्तित्ववादियों के अनुसार जब प्रकृति एवं मनुष्य ही नियमों से मुक्त हैं तो उनके इतिहास को नियमबद्ध कैसे किया जा सकता है! किंतु हमारे विचार में नियम और अनुशासन का यह विरोध अवैज्ञानिकता एवं अराजकता का ही पोषक है। कदाचित् हीगल के शब्दों में यह भी वाद का प्रतिवाद मात्र है, जो संभवतः हमें किसी नये 'समवाद' की ओर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध हो सके।

3.3 साहित्य का इतिहास-दर्शन

सामान्यतः 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है, किंतु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से संबंध न हो। अतः साहित्य भी इतिहास से असंबद्ध नहीं है। साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रियाकलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। वैसे, देखा जाये तो साहित्यिक रचनाएँ भी मानवीय क्रियाकलापों से भिन्न नहीं हैं; अपितु वे विशेष वर्ग के मनुष्यों की विशिष्ट क्रियाओं की सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, साहित्यिक रचनाएँ साहित्यकारों की सृजनात्मक क्रियाओं और प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, अतः उनके इतिहास को समझने के लिए उनके रचयिताओं तथा उनसे संबंधित स्थितियों, परिस्थितियों और परंपराओं को समझना भी आवश्यक

नोट

है। प्रारंभ में जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में राजाओं के जीवन-चरित्र एवं राजनीतिक घटनाओं को संकलित कर देना पर्याप्त समझा जाता था, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी रचनाओं व रचयिताओं का स्थूल परिचय ही पर्याप्त होता था, किंतु ज्यों-ज्यों इतिहास के सामान्य दृष्टिकोण का विकास होता गया, त्यों-त्यों साहित्येतिहास के दृष्टिकोण में भी तदनुसार सूक्ष्मता व गंभीरता आती गयी। यद्यपि इतिहास के अन्य क्षेत्रों की तुलना में साहित्य का इतिहास-दर्शन एवं उसकी पद्धति अब भी बहुत पिछड़ी हुई है, किंतु फिर भी समय-समय पर इस प्रकार के अनेक प्रयास हुए हैं जिनका लक्ष्य साहित्येतिहास को भी सामान्य इतिहास के स्तर पर पहुँचाने का रहा है।

यद्यपि अंग्रेजी-साहित्य के विभिन्न इतिहासकारों द्वारा यह धारणा बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी कि किसी भी जाति के साहित्य का इतिहास उस जाति के सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण को ही प्रतिबिम्बित करता है या साहित्य की प्रवृत्तियाँ संबंधित समाज की प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, फिर भी इस धारणा को एक सुव्यवस्थित सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय फ्रेंच विद्वान तेन (Taine) को है जिन्होंने अपने अंग्रेजी-साहित्य के इतिहास में प्रतिपादित किया कि साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल में मुख्यतः तीन प्रकार के तत्व सक्रिय रहते हैं—जाति (race), वातावरण (milieu), क्षण-विशेष (moment)। तेन ने अपनी व्याख्या के द्वारा यह भलीभाँति स्पष्ट किया कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे संबंधित जातीय परंपराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक है। तेन के इस सिद्धांत की आलोचना करते हुए हडसन ने आक्षेप किया कि उन्होंने साहित्य की विकास-प्रक्रिया का सारा महत्त्व उपर्युक्त तीन तत्वों को ही दे दिया, जबकि साहित्यकार या काव्य-रचयिता के व्यक्तित्व एवं उसकी प्रतिभा की सर्वथा उपेक्षा कर दी। निश्चय ही, हडसन का यह आक्षेप तेन के सिद्धांत की एक महत्वपूर्ण न्यूनता या त्रुटि की ओर संकेत करता है, किंतु फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की तुलना में तेन ने अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, स्पष्ट एवं विकसित सिद्धांत प्रस्तुत किया था, जिसके आधार पर साहित्य की विकास-प्रक्रिया को बहुत कुछ स्पष्ट किया जा सकता है।

साहित्येतिहास की व्यवस्था में जर्मन चिन्तकों का भी कम योगदान नहीं है। वैसे तो उनके द्वारा कई सिद्धांत स्थापित हुए, किंतु उनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'युग-चेतना' (spirit of age) का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार, साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए। ए.एच. कॉफे ने महान कवि गेटे की साहित्यिक प्रवृत्तियों की व्याख्या युगीन चेतना के आधार पर करके इस सिद्धांत की महत्ता को प्रमाणित किया है। किंतु, हमारे विचार में यह सिद्धांत भी एकांगी ही है क्योंकि साहित्य के विकास में युगीन चेतना का ही नहीं, पूर्ववर्ती परंपराओं का भी न्यूनाधिक योगदान रहता है; अतः उनकी उपेक्षा करके सारा श्रेय युगीन चेतना को ही दे देना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

इधर मार्क्सवाद से प्रभावित आलोचकों ने द्वंद्वात्मक भौतिक विकासवाद, वर्ग-संघर्ष और आर्थिक परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य की विकास-प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए, सैक्युलिन ने रूसी साहित्य के इतिहास की व्याख्या करते हुए साहित्य की विभिन्न प्रक्रियाओं व प्रवृत्तियों का संबंध आर्थिक परिस्थितियों एवं वर्ग-संघर्ष की प्रतिक्रिया से स्थापित किया है। किंतु कई बार मार्क्सवादी आलोचक साहित्य की सभी प्रवृत्तियों के मूल में अर्थ को ही स्थापित करके एक ऐसा अनर्थ कर देते हैं जो एकांगिता व अतिवादिता का प्रमाण होता है।

मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और अर्थविज्ञान के आधार पर भी साहित्य के विभिन्न पक्षों की-विशेषतः शैलीपक्ष के-विकास की व्याख्या विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुई है, जिनमें आई.ए. रिचर्ड्स, विलियम एम्पसन, सी. एस. लेविस, डब्ल्यू. पी. कर, एफ. डब्ल्यू. बैटसन प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से शैलीगत प्रवृत्तियों के विश्लेषणों एवं उनके आधारभूत कारणों को खोजने का प्रयास हुआ है, जिससे आंशिक रूप में साहित्येतिहास को भी समझने में सहायता मिल सकती है। किंतु, इनके निष्कर्षों में पारम्परिक सामंजस्य, एकरूपता एवं अन्विति का अभाव होने के कारण वे अध्येता के मार्ग को प्रशस्त कम और कंटकाकीर्ण अधिक करते हैं।

अस्तु साहित्येतिहास की व्याख्या के लिए विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रयास होते रहे हैं जो हमें किसी निश्चित, स्पष्ट एवं समन्वित निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाते, किंतु फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता; उसकी विषयगत प्रवृत्तियों व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे संबंधित राष्ट्रीय परंपराओं, सामाजिक वातावरण,

आर्थिक परिस्थितियों, युगीन चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का विवेचन-विश्लेषण आवश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त सिद्धांत साहित्य की विकास-प्रक्रिया के विभिन्न अंगों, पक्षों व तत्वों के सूचक हैं। यद्यपि इनमें कोई भी सिद्धांत परिपूर्ण नहीं है, किंतु आंशिक सत्य से भी ये सर्वथा शून्य नहीं हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किसी भी साहित्य की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे संबंधित इन पांच तत्वों पर विचार किया जाना चाहिए—(1) सर्जन-शक्ति (साहित्यकार की प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व) (2) परंपरा (साहित्यिक व सांस्कृतिक परंपराएँ), (3) वातावरण, (4) द्वंद्व और (5) संतुलन। वस्तुतः यह सिद्धांत सृष्टि की सामान्य विकास-प्रक्रिया की दृष्टि से प्रतिपादित है, जिसे साहित्य पर लागू करते हुए संक्षेप में कहा जा सकता है—साहित्य के क्षेत्र में भी प्राकृतिक सर्जन-शक्ति अर्थात् साहित्यकार की नैसर्गिक प्रतिभा परंपरा (सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परंपरा) और वातावरण (युगीन परिस्थितियों, प्रवृत्तियों तथा चेतना) के द्वंद्व से प्रेरित होकर गतिशील होती है, जिसका चरम लक्ष्य द्वंद्व के दोनों पक्षों में संतुलन-स्थापन होता है। वस्तुतः यह द्वंद्व ही साहित्यकार की मूल प्रेरणा होता है, किंतु स्थिति-विशेष व व्यक्ति-विशेष के अंतर से द्वंद्व का क्षेत्र परिवर्तित होता रहता है; अतः कोई साहित्यकार अपने ही आन्तरिक या मानसिक द्वंद्व से परिचालित होता है, तो कोई पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक या अंतर्राष्ट्रीय से। एक क्षेत्र का द्वंद्व संतुलित या शांत हो जाने पर साहित्यकार या साहित्यकारों की सर्जन-शक्ति किसी अन्य क्षेत्र के द्वंद्व की ओर उन्मुख होती है। वस्तुतः परंपरा और युगीन वातावरण के अंतर्विरोध से उत्पन्न द्वंद्व ही साहित्य के विभिन्न आंदोलनों, उसकी धाराओं और प्रवृत्तियों को गति देता हुआ साहित्य की विकास-प्रक्रिया को संचालित करता है। अतः साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या के लिए उन सभी तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है जो साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं उससे संबंधित पूर्व-परंपरा, युगीन वातावरण, द्वंद्व के स्रोत, अभीष्ट लक्ष्य आदि पर प्रकाश डालते हैं।

साहित्य-विकास के उपर्युक्त सामान्य सिद्धांत के अतिरिक्त कुछ ऐसे सिद्धांत भी प्रतिपादित किये गये हैं जिनसे साहित्य के रूपात्मक, प्रवृत्त्यात्मक तथा गुणात्मक विकास के अध्ययन में सहायता मिल सकती है। किंतु, यहाँ इनका विस्तृत परिचय न देकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार सामान्य इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन विकासवाद के आधार पर ही संभव है, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास की भी वैज्ञानिक व्याख्या के लिए विकासवादी सिद्धांतों का आधार ग्रहण करना आवश्यक है, यह दूसरी बात है कि जो लोग इतिहास को भी कल्पना-विकास और भाव-सौंदर्य का क्षेत्र मानते हुए उसे कला की श्रेणी में स्थान देते हैं, वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति-दोनों को ही व्यर्थ समझें।

3.4 साहित्येतिहास और साहित्यालोचन

सामान्यतः साहित्य के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का तथा साहित्यालोचन में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उपयोग किया जाता है तथा इस दृष्टि से ये दोनों एक-दूसरे के पूरक व सहयोगी सिद्ध होते हैं, किंतु फिर भी हमें इस भ्रान्ति से बचना चाहिए कि दोनों मूलतः एक ही हैं। इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकास-क्रम को स्पष्ट करने का होता है जबकि आलोचना का लक्ष्य वस्तु के गुण-दोषों का अन्वेषण करते हुए उसका मूल्य निर्धारित करना होता है। इतिहासकार भी कृति के गुण-दोषों पर विचार कर सकता है, किंतु वहाँ भी उसका लक्ष्य उन्हें युगीन प्रवृत्तियों के संदर्भ में देखने का रहता है; स्वतंत्र रूप से मूल्यांकन का नहीं। दूसरे, देश (space) और काल (time) के महत्वपूर्ण आयामों में से जहाँ आलोचक देश या स्थान को दृष्टिगत रखते हुए उसके स्थिर या शाश्वत तत्वों के अनुसंधान पर बल देता है; वहाँ इतिहासकार कालक्रम और युगीन संदर्भ को सर्वाधिक महत्व प्रदान करते हुए परिवर्तनशील तत्वों के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। तीसरे, आलोचक व्यक्तिविशेष या कृतिविशेष का मूल्यांकन स्वतंत्र रूप में भी कर सकता है जबकि इतिहासकार व्यक्ति और कृति को सदा पूर्व-परंपरा और युगीन वातावरण के संदर्भ में रखकर ही उसके योगदान को स्पष्ट करता है। चौथे, आलोचक के लिए महत्वपूर्ण व्यक्तियों एवं रचनाओं का चयन भी पर्याप्त सिद्ध हो सकता है, किंतु इतिहासकार के लिए ऐसा संभव नहीं। इतिहास की संपूर्ण धारा को समझने के लिए सम्राट अकबर जितना महत्वपूर्ण है, हेमू वणिग भी उससे कम नहीं है; या महाकवि तुलसीदास का सर्वगुण-संपन्न महाकाव्य उसके लिए जितना महत्वपूर्ण है, अनेक दोषों से ग्रस्त केशव की 'रामचंद्रिका' भी उसके लिए उतनी ही उपयोगी है—वह इनमें से किसी एक को भी ठुकराकर इतिहास की विकास-प्रक्रिया के विश्लेषण में सफल नहीं हो सकता।

अस्तु, संक्षेप में कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहासकार जहाँ अतीत के सृजन-कार्य को विभिन्न

नोट

परंपराओं और धाराओं के रूप में ग्रहण करते हुए युगविशेष के संदर्भ में उनका विश्लेषण करता है, वहाँ आलोचक किन्हीं स्थापित मूल्यों के आधार पर या नये मूल्यों की स्थापना के उद्देश्य से विभिन्न कृतियों के मूल्यपरक तत्वों का उद्घाटन करता है। एक के द्वारा जहाँ 'ऐसा क्यों हुआ' का उत्तर दिया जाता है, वहाँ दूसरा 'इसमें क्या विशेषता है' की व्याख्या करता है। फिर भी, अनेक कारणों से आज साहित्येतिहास और साहित्यालोचन की सीमाएँ घुल-मिल-सी गई है जिसके अनेक कारण हैं। एक तो साहित्य-क्षेत्र में विशेषतः हिंदी-साहित्य में—इतिहासकार और आलोचक का कार्य कई बार एक ही व्यक्ति द्वारा संपन्न होता रहता है; इतना ही नहीं, अनेक बार 'इतिहास' संज्ञक रचनाओं में ऐतिहासिक विवेचन की अपेक्षा आलोचनात्मक अनुशीलन अधिक रहता है और आलोचनात्मक पुस्तकों में मूल्यांकन की अपेक्षा ऐतिहासिक व्याख्या अधिक उपलब्ध होती है। कदाचित इसी से इस धारणा का प्रचार हुआ कि अच्छे आलोचक के लिए अच्छा इतिहासकार या इसके विपरीत अच्छे इतिहासकार के लिए अच्छा आलोचक होना आवश्यक है; अवश्य ही आंशिक रूप में यह बात सही है किंतु अंततः दोनों के लिए दो भिन्न प्रकार की प्रतिभाएँ, दृष्टियाँ और पद्धतियाँ अपेक्षित हैं—इसे प्रायः भुला दिया गया है। इसके अतिरिक्त अधुनातन लेखन में कुछ वर्गों द्वारा आलोचना और इतिहास के भी मूल स्वरूप को विकृत करने की चेष्टा की जा रही है—आलोचना में जहाँ मूल्य और मूल्यांकन के स्थान पर आत्मप्रशंसा, वैयक्तिक प्रतिक्रिया, एकपक्षीय विवरण, समाचारपत्रीय परिचय को प्रस्तुत किया जा रहा है; वहाँ इतिहास में परंपराओं, धाराओं व युगीन प्रवृत्तियों के तटस्थ विश्लेषण के स्थान पर वर्गविशेष, वादविशेष या व्यक्तिविशेष की प्रतिष्ठा का प्रयास हो रहा है। ऐसी स्थिति में, यदि दोनों का पारस्परिक अंतर अस्पष्ट या लुप्त हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं।

3.5 हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा

यद्यपि उन्नीसवीं शती से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रंथों की रचना हो चुकी थी जिनमें हिंदी के विभिन्न कवियों के जीवन-वृत्त एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है, जैसे—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'कविमाला', 'कालिदास हजारा' आदि—किंतु इनमें काल-क्रम, सन्-संवत् आदि का अभाव होने के कारण इन्हें 'इतिहास' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वस्तुतः अब तक की जानकारी के अनुसार हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखन का सबसे पहला प्रयास एक फ्रेंच विद्वान **गार्सार् द तॉसी** का ही समझा जाता है जिन्होंने फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' ग्रंथ लिखा, जिसमें हिंदी और उर्दू के अनेक कवियों का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है। इसका प्रथम भाग 1839 में तथा द्वितीय 1847 ई. में प्रकाशित हुआ था। 1871 ई. में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें इसे तीन खंडों में विभक्त करते हुए पर्याप्त संशोधन-परिवर्तन किया गया। इस ग्रंथ का महत्त्व केवल इसी दृष्टि से है कि इसमें हिंदी-काव्य का सर्वप्रथम इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा कवियों के रचना-काल का भी निर्देश किया गया है; अन्यथा कवियों को काल-क्रम के स्थान पर अंग्रेजी-वर्णक्रम से प्रस्तुत करना, काल-विभाजन एवं युगीन प्रवृत्तियों के विवेचन का कोई प्रयास न करना, हिंदी के कवियों में इतर भाषाओं को घुला-मिला देना आदि ऐसी त्रुटियाँ हैं जिनके कारण इसे 'इतिहास' मानने में संकोच होता है। फिर भी, भारत से दूर बैठकर विदेशी भाषा में सर्वप्रथम इस प्रकार का प्रयास करना भी अपने-आपमें कम महत्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः किसी भी क्षेत्र में किये गये प्रारंभिक एवं प्राथमिक प्रयास का महत्त्व प्रायः उसकी उपलब्धियों की दृष्टि से नयी, अपितु नयी दिशा की ओर अग्रसर होने की दृष्टि से ही माना जाता है—यह बात तॉसी के प्रयास पर भी लागू होती है। अस्तु, उनके ग्रंथ में अनेक त्रुटियों व न्यूनताओं के होते हुए भी हम उन्हें हिंदी साहित्येतिहास लेखन की परंपरा में उसके प्रवर्तक के रूप में, गौरवपूर्ण स्थान देना उचित समझते हैं।

तॉसी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय शिवसिंह सेंगर को है, जिन्होंने 'शिवसिंह सरोज' (1883) में लगभग एक सहस्र भाषा-कवियों का जीवन-चरित उनकी कविताओं के उदाहरण सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कवियों के जन्म-काल, रचना-काल आदि के संकेत भी दिये गये हैं, यह दूसरी बात है कि वे बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। इतिहास के रूप में इस ग्रंथ का भी महत्त्व अधिक नहीं है, किंतु फिर भी इसमें उस समय तक उपलब्ध हिंदी कविता संबंधी ज्ञान को संकलित कर दिया गया है, जिससे परवर्ती इतिहासकार लाभ उठा सकते हैं—इसी दृष्टि से इसका महत्त्व है।

सन् 1888 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में **जार्ज ग्रियर्सन** द्वारा रचित 'द मॉडर्न वर्नेक्युलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान' का प्रकाशन हुआ, जो नाम से 'इतिहास' न होते हुए भी सच्चे

अर्थ में हिंदी-साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है। इसमें लेखक ने कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके काल-विभाजन संबंधी प्रयास के गुण-दोषों पर आगे अलग रूप में विचार किया जायेगा, किंतु यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा और हिंदी-साहित्य के स्वरूप एवं विकास के संबंध में जिस दृष्टिकोण का परिचय ग्रियर्सन ने दिया है, वह परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ। मुख्य बात यह है कि उन्होंने हिंदी-साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारित करते हुए स्पष्ट किया कि इसमें न तो संस्कृत-प्राकृत को सम्मिलित किया जा सकता है और न ही अरबी-फारसी मिश्रित उर्दू को। उन्होंने अपनी भाषा नीति को स्पष्ट करते हुए भूमिका में लिखा है: “....मैं आधुनिक भाषा-साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। अतः मैं संस्कृत में ग्रंथ-रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूँ। भले ही प्राकृत कभी बोलचाल की भाषा रही हो, पर आधुनिक भाषा के अंतर्गत नहीं आती। मैं न तो अरबी-फ़ारसी के भारतीय लेखकों का उल्लेख कर रहा हूँ और न ही विदेश से लायी गई साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही—मैंने इन अंतिम को, उर्दूवालों को, अपने इस विचार से जानबूझकर बहिष्कृत कर दिया है, क्योंकि इन पर पहले ही गार्सा द तॉसी ने पूर्णरूप से विचार कर लिया है।” इस प्रकार हिंदी भाषा के संबंध में जिस स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त दृष्टि का परिचय ग्रियर्सन ने दिया, वह निश्चय ही उस युग की भूमिका में महत्वपूर्ण प्रतीत होती है तथा यह भी कहा जा सकता है कि दृष्टि की इसी स्वच्छता के कारण वे अपने लक्ष्य में सफल हो सके। ग्रियर्सन की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने ग्रंथ के आधार-स्रोत के रूप में तॉसी एवं शिवसिंह सेंगर के ग्रंथों के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाई-चरित्र, हजारा, काव्य-संग्रह आदि सत्रह रचनाओं का उल्लेख करते हुए स्थान-स्थान पर मूलाधारों के संदर्भ-संकेत भी दिये हैं, जिससे उस तटस्थता, प्रामाणिकता और ईमानदारी का बोध होता है जो किसी भी इतिहासकार के लिए आवश्यक है। यह दुर्भाग्य की बात है कि परवर्ती-हिंदी-साहित्यकारों द्वारा इस परंपरा का निर्वाह सम्यक् रूप में नहीं हो सका।

अपनी दृष्टि एवं पद्धति पर प्रकाश डालते हुए ग्रियर्सन ने लिखा है कि उन्होंने सामग्री को यथासंभव कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ग्रंथ को कालखंडों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक अध्याय कालविशेष का सूचक है। प्रत्येक काल के गौण कवियों का अध्यायविशेष के अंत में उल्लेख किया गया है। विभिन्न युगों की काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए उनसे संबंधित सांस्कृतिक परिस्थितियों और प्रेरणास्रोतों के भी उद्घाटन का प्रयास उनके द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त हिंदी-साहित्य के विकास क्रम का निर्धारण चरण-काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम काव्य, दरबारी काव्य के रूप में करना तथा सोलहवीं-सत्रहवीं सदी के युग को (भक्तिकाल को) हिंदी काव्य का स्वर्ण-युग मानना ग्रियर्सन की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं जिन्हें किंचित् संशोधित एवं नूतन शब्दों में प्रस्तुत करके परवर्ती इतिहासकारों ने भारी श्रेय प्राप्त किया है। वस्तुतः उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में, जबकि हिंदी साहित्य क्षेत्र में आलोचना एवं अनुसंधान की परंपराओं का श्रीगणेश भी न हुआ था, हिंदी भाषा एवं उसके काव्य की ऐसी स्पष्ट, सूक्ष्म एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत कर देना ग्रियर्सन की अद्भुत प्रतिभा शक्ति एवं गहन अध्ययनशीलता को प्रमाणित करता है; यह दूसरी बात है कि उनका ग्रंथ अंग्रेजी में रचित होने के कारण हिंदी के अध्येताओं की दृष्टि का केंद्र नहीं बन सका जिससे परवर्ती युग के अनेक इतिहासकार, जो उनकी धारणाओं और स्थापनाओं को पल्लवित करके हिंदी-माध्यम से प्रस्तुत कर सके, उस यश के भागी बने जो वस्तुतः ग्रियर्सन का दाय था।

मिश्रबंधुओं द्वारा रचित ‘मिश्रबंधु-विनोद’ चार भागों में विभक्त है, जिसके प्रथम तीन भाग 1913 ई. में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग 1934 ई. में प्रकाशित हुआ। मिश्र-बंधुओं ने अपने ग्रंथ को ‘इतिहास’ की संज्ञा न देते हुए भी भरसक इस बात का यत्न किया कि यह एक आदर्श इतिहास सिद्ध हो। इसे परिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए उन्होंने एक ओर तो इसमें लगभग पांच हजार कवियों को स्थान दिया है तथा दूसरी ओर इसे आठ से भी अधिक कालखंडों में विभक्त किया है। इस क्षेत्र में उन्हें पूर्ववर्ती इतिहासकारों से अधिक सफलता मिली है। इतिहास के रूप में इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें कवियों के विवरणों के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा अनेक अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाते हुए उनके साहित्यिक महत्त्व को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। कवियों का सापेक्षिक महत्त्व निर्धारित करने के लिए उनकी श्रेणियाँ भी बनायी गई हैं। किंतु काव्य-समीक्षा में परंपरागत सिद्धांतों और पद्धति का ही अनुसरण मिलता है। अतः आधुनिक समीक्षा-दृष्टि से यह ग्रंथ भले ही बहुत संतोषजनक न कहा जा सके, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि इतिहास-लेखन की पूर्व-परंपरा को आगे बढ़ाने में इसका महत्वपूर्ण योगदान है, जैसा कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल

नोट

ने स्वयं स्वीकार किया है: “कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः ‘मिश्रबंधु-विनोद’ से ही लिये हैं।” परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी यह आधार-ग्रंथ रहा है।

हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा रचित ‘हिंदी-साहित्य का इतिहास’ (1929) को प्राप्त है। जो मूलतः नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित ‘हिंदी-शब्द-सागर’ की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत करके स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया। इसके आरंभ में ही आचार्य शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उद्घोषित किया है: “जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही ‘साहित्य का इतिहास’ कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।” इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने साहित्येतिहास के प्रति एक निश्चित व सुस्पष्ट दृष्टिकोण का परिचय देते हुए युगीन परिस्थितियों के संदर्भ में साहित्य के विकास-क्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उन्होंने साहित्येतिहास को साहित्यालोचन से पृथक् रूप में ग्रहण करते हुए विकासवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया। साथ ही उन्होंने इतिहास के मूल विषय को आरंभ करने से पूर्व ही ‘काल-विभाग’ के अंतर्गत हिंदी-साहित्य के 900 वर्षों के इतिहास को चार सुस्पष्ट कालखंडों में विभक्त करके अपनी योजना को एक ऐसे निश्चित रूप में प्रस्तुत कर दिया कि जिसमें पाठक के मन में शंका और संदेह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता—यह दूसरी बात है कि उन्होंने काल-विभाजन का आधार न देकर केवल तत्संबंधी निष्कर्षों की ही सूचना दी है। किंतु, इससे उस युग के उन पाठकों को अवश्य लाभ हुआ जो काल-विभाजन की सूक्ष्मताओं के पचड़े में पड़े बिना ही संपूर्ण हिंदी-साहित्य को एक दृष्टि से देख लेना चाहते थे। नवोपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के अनुसार अब यह काल-विभाजन त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो गया है, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि अपनी अति सरलता व स्पष्टता के कारण यह आज भी बहुप्रचलित और बहुमान्य है।

आचार्य शुक्ल के इतिहास की एक अन्य विशेषता है—पूरे भक्तिकाल को चार भागों या शाखाओं में बांटकर उसे शुद्ध दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देना। उन्होंने इस काल के समस्त साहित्य को पहले निर्गुण-धारा और सगुण-धारा में और फिर प्रत्येक को दो-दो शाखाओं—ज्ञानाश्रयी शाखा व प्रेमाश्रयी शाखा तथा रामभक्तिशाखा व कृष्णभक्तिशाखा में विभक्त करके न केवल साहित्यिक आलोचकों के लिए, अपितु दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से साहित्यानुसंधान करने वालों के लिए भी एक अत्यंत सरल एवं सीधा मार्ग तैयार कर दिया।

इतिहासकार के रूप में आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी विशेषता है—कवियों और साहित्यकारों के जीवन-चरित संबंधी इतिवृत्त के स्थान पर उनकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन को प्रमुखता देना। इस क्षेत्र में उन्होंने एक तो चुने हुए कवियों को ही लिया—जहाँ ‘मिश्रबंधु-विनोद’ में कवि संख्या पांच हजार तक पहुँच चुकी थी, वहाँ उन्होंने उनमें से लगभग एक हजार को ही अपने इतिहास में स्थान दिया; फिर उनके विवेचन में उनकी साहित्यिक महत्ता व लघुता का ध्यान रखते हुए उन्हें तदनुसार ही स्थान दिया। वस्तुतः इतिहास के इतने संक्षिप्त कलेवर में भी इतने कवियों का जैसा प्रामाणिक, सारगर्भित एवं सोदाहरण विवेचन वे प्रस्तुत कर पाये हैं, उससे इतिहासकार शुक्ल की महानता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार विभिन्न काव्यधाराओं और युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में भी उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। रीतिग्रंथकारों के आचार्यत्व एवं कवित्व का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उनकी उपलब्धियों तथा सीमाओं के संबंध में जो निर्णय आचार्य शुक्ल ने दिये, वे बहुत कुछ अंशों में आज भी मान्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी साहित्य-लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनका इतिहास ही कदाचित् अपने विषय का पहला ग्रंथ है जिसमें अत्यंत सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि, विकसित दृष्टिकोण, स्पष्ट विवेचन-विश्लेषण और प्रामाणिक निष्कर्षों का सन्निवेश मिलता है। किंतु फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि उनके द्वारा इतिहास की रचना उस समय हुई थी जबकि हिंदी का अधिकांश प्राचीन साहित्य अज्ञात, लुप्त एवं अप्रकाशित अवस्था में पड़ा था तथा उसका प्रामाणिक अध्ययन-विश्लेषण नहीं हो पाया था। वस्तुतः इतिहासकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह इतिहास की सहस्राधिक रचनाओं का स्वयं ही अनुसंधान, अध्ययन, विश्लेषण करके उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर इतिहास की रचना करे, अपितु वह अन्य अनुसंधानकर्ताओं द्वारा उपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में अपना कार्य-संपादन करता है; यह दूसरी बात है कि उन तथ्यों और निष्कर्षों की ऐतिहासिक व्याख्या वह अपने ढंग से स्वतंत्र रूप में करता है। किंतु आचार्य

शुक्ल के इतिहास-लेखन के समय तो हिंदी-अनुसंधान का आरंभ-मात्र ही हो पाया था—इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि सन् 1929 तक सारे हिंदी-जगत में लिखे गये शोध-प्रबंधों की संख्या तीन-चार से अधिक नहीं थी। ऐसी स्थिति में इतिहास के जिस पक्ष का संबंध उनकी स्वतंत्र चिन्तना एवं विवेचना-शक्ति से था, उसमें तो उन्हें सफलता मिली, किंतु जो पक्ष इतिहास की आधारभूत सामग्री से संबंध था, उसमें उन्हें अनुमान और कल्पना से काम लेना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस पक्ष से संबंधित उनके अनेक निष्कर्ष अब अप्रामाणिक सिद्ध हो गये हैं। इससे उनके इतिहास में अनेक ऐसी त्रुटियों तथा असंगतियों का प्रादुर्भाव हो गया है, जो आज की स्थिति में उनके इतिहास के दुर्बल पक्ष को सूचित करती हैं। इसी प्रकार वीरगाथा काल में उल्लिखित रचनाओं के अस्तित्वहीन, अप्रामाणिक, परवर्ती या अन्य भाषा में रचित सिद्ध हो जाने के कारण भी यह काल आज अत्यंत विवादग्रस्त हो गया है। भक्तिकाल के नामकरण और वर्गीकरण में एक कठिनाई यह हो जाती है कि धर्मनिरपेक्ष दृष्टि से राजाश्रय एवं लोकाश्रय में काव्य-रचना करने वाले कवियों के लिए या रामकृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य अवतार या देवी-देवता की उपासना करने वाले भक्त कवि के लिए उसमें समुचित स्थान नहीं है। फिर भी, यह नामकरण और वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से सरल, सुगम एवं मान्य सिद्ध हुआ।

भक्तिकाल की ही भांति रीतिकाल में भी नामकरण, सीमा-निर्धारण, परंपराओं व काव्यधाराओं का वर्गीकरण वर्गविशेष के एकपक्षीय बोध का सूचक है जिससे इस काल के रीतिमुक्त प्रेममार्गी कवियों, वीर रसात्मक काव्यों के रचयिताओं तथा राजनीति एवं वैराग्य संबंधी मुक्तकों के रचयिता कवियों के साथ न्याय नहीं हो पाता। केशवदास-जैसे आचार्य कवि को 'अलंकारवादी' तथा परवर्ती रीतिकवियों को 'रसवादी' घोषित करते हुए उन्हें रीति-परंपरा के प्रवर्तक के पद से वंचित करना भी संगत प्रीतत नहीं होता, क्योंकि जहाँ एक ओर केशव ने 'रसिकप्रिया' में रस-सिद्धांत का सांगोपांग निरूपण किया है, वहाँ दूसरी ओर रीतिकवियों ने प्रायः अलंकारों पर भी ग्रंथ लिखे हैं। वास्तविकता यह है कि रीति-प्रतिपादन के क्षेत्र में इस काल के प्रायः सभी रीतिबद्ध कवियों ने न केवल केशवदास द्वारा प्रस्तुत विषयों का, अपितु उनकी प्रतिपादन-शैली का भी पूरी तरह अनुसरण किया है। ऐसी स्थिति में तथाकथित 'रीतिकाल' (या रीति-परंपरा) का प्रवर्तन केशव से ही मानना ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक होगा।

विभिन्न काव्यधाराओं तथा परंपराओं के मूल उत्सों और स्रोतों के यथार्थ अनुसंधान में शुक्ल जी का युगवादी दृष्टिकोण भी बाधक सिद्ध हुआ। उन्होंने साहित्यिक परंपराओं और प्रवृत्तियों को युगविशेष की चित्तवृत्ति के प्रतिबिंब के रूप में ही ग्रहण किया, उन तत्त्वों तथा स्रोतों की उपेक्षा की जिनका संबंध पूर्व-परंपरा से है। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने पूरे मध्यकाल की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों को तद्युगीन मुस्लिम प्रभाव की देन के रूप में स्वीकार कर लिया—जैसे, भक्ति आंदोलन तद्युगीन निराशा की देन है, संत-मत इस्लाम के एकेश्वरवाद के प्रभाव का सूचक है, प्रेमाख्यान-परंपरा सूफी मसनवियों से अनुकृत है, आदि। इसमें कोई संदेह नहीं कि इन सब पर तद्युगीन वातावरण का भी आंशिक प्रभाव है, किंतु यही सबकुछ नहीं है; इनके विकास को सम्यक् रूप से स्पष्ट करने के लिए संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की उन परंपराओं पर भी विचार करना आवश्यक था जो हिंदी की विभिन्न मध्यकालीन काव्यधाराओं के मूल में आधारभूत तत्त्व की भांति विद्यमान हैं। वस्तुतः संस्कृत-साहित्य की पौराणिक परंपराओं, प्राकृत-अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों व मुक्तकों की धाराओं, सिद्धों व नाथपंथियों की गुह्य वाणियों की उपेक्षा करके मध्यकालीन हिंदीकाव्य की विभिन्न काव्यधाराओं के वर्तमान स्वरूप की आलोचना भले ही की जा सके, किंतु उसके आधार-स्रोतों का अनुसंधान और उनके विकास-क्रम की ऐतिहासिक व्याख्या संभव नहीं है।

आचार्य शुक्ल की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं प्रौढ़ विवेचना-शक्ति के महत्त्व के समक्ष नतमस्तक होते हुए भी हमें यह कटु सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि इतिहासकार शुक्ल की उपलब्धियां उसी सीमा तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे उनके आलोचक-रूप से संबंध हैं; किंतु जहाँ वे आलोचक से पृथक् होकर शुद्ध इतिहासकार के रूप में अवतरित होते हैं, वहीं उनकी अनेक सीमाएं स्पष्ट होने लगती हैं। अवश्य ही ये उनकी अपनी सीमाएँ न होकर इतिहास की सीमाएँ हैं, अर्थात् जिस काल-सीमा में उन्होंने कार्य किया था, उसमें कदाचित् यह संभव नहीं था कि इतिहास को वह रूप दिया जा सकता जो परवर्ती अनुसंधान से उपलब्ध नूतन तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में संभव है। वस्तुतः उस युग की सीमित ज्ञानराशि को लेकर भी उन्होंने उसे जैसा रूप दिया, वह निश्चय ही उनके-जैसे व्यक्ति के लिए ही संभव था। इतिहास-लेखन की परंपरा में आचार्य शुक्ल का महत्त्व सदा अक्षुण्ण रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के लगभग एक शताब्दी बाद आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र में

नोट

अवतरित हुए। उनकी 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' क्रम और पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं है, किंतु उसमें प्रस्तुत विभिन्न स्वतंत्र लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है जो हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखन के लिए नयी दृष्टि, नयी सामग्री और नयी व्याख्या प्रदान करते हैं। जहाँ आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक दृष्टि 'युग की परिस्थितियों को प्रमुखता प्रदान करती थी, वहाँ आचार्य द्विवेदी ने परंपरा का महत्त्व प्रतिष्ठित करते हुए उन धारणाओं को खंडित किया जो युगीन प्रभाव के एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित थीं। उन्होंने अत्यंत सशक्त स्वरों में उद्घोषित किया कि भक्ति-आंदोलन न तो तद्युगीन पराजित हिंदू जाति की निराशा से उद्बलित है और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है; इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सातवीं-आठवीं शती में, जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी, दक्षिण के वैष्णव भक्तों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी। इस प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस्लाम के प्रभाव का खंडन करते हुए लिखा है, "मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आना वैसा ही होता जैसा आज है।"

इसी प्रकार उन्होंने संत-काव्य-परंपरा के स्रोतों का अनुसंधान करते हुए सिद्धों और नाथपंथियों की वाणियों, विचार-सरणियों, पद्धतियों व काव्य-शैलियों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार कबीर आदि इनसे प्रभावित हैं। वस्तुतः भाव, विचार, तर्क-पद्धति, भाषा शैली आदि के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि हिंदी का संत-काव्य पूर्ववर्ती सिद्धों व नाथपंथियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है, अतः उसे केवल इस्लाम पर आधारित मानने की आवश्यकता नहीं। हिंदी के प्रेमाख्यानों के भी मूल स्रोतों का अनुसंधान करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि इनकी कथावस्तु, कथानक-रूढ़ियाँ, रचना-शैली, छंद-योजना आदि संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश की काव्य-परंपराओं पर आश्रित हैं।

मध्यकालीन हिंदी-काव्य के विविध स्रोतों के अनुसंधान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने संत-साहित्य और वैष्णव-भक्तिकाव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया। शास्त्रीय परंपरा के संरक्षक महाकवि तुलसीदास के महत्त्व पर बल देते हुए प्रायः अनेक इतिहासकार संतों को अशिक्षित, असंस्कृत व अविकसित घोषित करके उनकी अवमानना करने का प्रयास करते हैं, जबकि आचार्य द्विवेदी ने वस्तुस्थिति की गहराई घोषित करते हुए लिखा है: "कभी-कभी हास्यास्पद भावे से कबीरदास को शास्त्र-ज्ञानहीन, सुनी-सुनायी बातों का गढ़ने वाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिये और अन्यान्य नीची कही जाने वाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था और कबीरदास आदि ने जान-बूझकर उसकी अवहेलना की थी। सच पूछा जाए तो शास्त्र-ज्ञान तत्व-ज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता; और कभी-कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्क-जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।"

'हिंदी-साहित्य की भूमिका' के अनन्तर आचार्य द्विवेदी की इतिहास संबंधी कुछ और रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं—'हिंदी-साहित्य : उद्भव और विकास', 'हिंदी-साहित्य का आदिकाल' आदि। इनमें उन्होंने अपने तद्विषयक विचारों को अधिक व्यवस्थित एवं पुष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी-साहित्य के इतिहास की-विशेषतः मध्यकालीन काव्य के स्रोतों व पूर्व-परंपराओं के अनुसंधान तथा उनकी अधिक सहानुभूति पूर्ण व यथातथ्य व्याख्या करने की-दृष्टि से आचार्य द्विवेदी का योगदान अप्रतिम है। वस्तुतः वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आचार्य शुक्ल की अनेक धारणाओं और स्थापनाओं को चुनौती देते हुए उन्हें सबल प्रमाणों के आधार पर खंडित किया। साथ ही उनके युग-रुचिवादी एकांगी दृष्टिकोण के समानान्तर अपने परंपरापरक दृष्टिकोण को स्थापित करके उन्होंने हिंदी-साहित्य के अध्येताओं के लिए एक व्यापक एवं संतुलित इतिहास-दर्शन की भूमिका तैयार की। वैसे, वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये तो किसी भी घटना, रचना या धारा की शुद्ध विकासवादी व्याख्या करने के लिए परंपरा और युग-स्थिति—दोनों पक्ष ही विचारणीय हैं। आचार्य द्विवेदी ने जहाँ परंपरा पर बल दिया, वहाँ आचार्य शुक्ल ने युग-स्थिति पर; अतः कहा जा सकता है कि दोनों के मत इस दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक हैं।

जहाँ ऐतिहासिक चेतना व पूर्व परंपरा के बोध की बात है, निश्चय ही आचार्य द्विवेदी हिंदी के सबसे अधिक सशक्त इतिहासकार हैं। पूर्ववर्ती सांस्कृतिक धाराओं, सरणियों और पद्धतियों का जैसा गंभीर अनुशीलन उन्होंने किया तथा मध्यकालीन जनमानस की भाव-धाराओं में जैसी गहरी डुबकी उन्होंने लगायी है, वह किसी और के लिए संभव नहीं। किंतु फिर भी, उन्होंने अपना लक्ष्य आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित इतिहास के स्थूल ढांचे में ही अपनी धारणाओं को समेट देने तक का रखा है जबकि उसे आमूलचूल परिवर्तित कर देने की शक्ति का भी उनमें अभाव

नहीं था। शुक्ल जी द्वारा स्थापित प्रथम तीन कालखंडों को बाह्य रूप व भीतरी आधारों की दृष्टि से पूर्णतः झकझोर देने के बाद भी उन्होंने उसे उन्मूलित कर देने का कार्य अपने हाथों से संपादित नहीं किया। शायद यह उनकी अहिंसक दृष्टि का परिणाम है कि वे पूर्व-व्यवस्था के सारे दोषों व अवगुणों का उद्घाटन करने के बाद भी अपनी ओर से उसमें परिवर्तन का कोई प्रयास नहीं करते। कदाचित् यही कारण है कि उनके इतिहास की रूपरेखा, काल-विभाजन-पद्धति व काव्यधारा की नियोजना बहुत कुछ आचार्य शुक्ल के इतिहास के अनुरूप हैं।

आचार्य द्विवेदी के ही साथ-साथ इस क्षेत्र में अवतरित होनेवाले का अन्य विद्वान **डॉ. रामकुमार वर्मा** ने 'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (1938) में 693 ई. से 1693 ई. तक की कालावधि को ही लिया है। संपूर्ण ग्रंथ को सात प्रकरणों में विभक्त करते हुए सामान्यतः रामचंद्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया गया है। इतना अवश्य है कि युगों व धाराओं के नामकरण में किंचित परिवर्तन कर उन्हें सरल रूप दे दिया गया है, यथा—'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', 'निर्गुण प्रेममार्गी (सूफी) शाखा' जैसे लंबे-लंबे नामों के स्थान पर 'संतकाव्य', 'प्रेमकाव्य' आदि का प्रयोग किया गया है जो अधिक सुविधाजनक है। 'वीरगाथा-काल' को 'चारणकाल' की संज्ञा देने के अतिरिक्त उससे पूर्व एक 'संधिकाल' और जोड़ दिया गया है। यद्यपि इस समय तक अपभ्रंश और हिंदी का भेद भलीभांति स्पष्ट हो चुका था तथा स्वयं डॉ. वर्मा ने भी दोनों को भिन्न-भिन्न माना है। फिर भी अपभ्रंश के सिद्ध, जैन व नाथपंथी कवियों की वाणी को हिंदी-साहित्य में स्थान देने का लोभ वे भी संवरण नहीं कर पाये। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयंभू को, जो कि अपभ्रंश के सबसे पहले कवि हैं, हिंदी का पहला कवि मानते हुए हिंदी-साहित्य का आरंभ 693 ई. से स्वीकार किया है। ऐतिहासिक व्याख्या की दृष्टि से यह इतिहास आचार्य शुक्ल के गुण-दोषों का ही विस्तार है, कवियों के मूल्यांकन में अवश्य लेखक ने अधिक सहृदयता और कलात्मकता का परिचय दिया है। अनेक कवियों के काव्य-सौंदर्य का आख्यान करते समय लेखक की लेखनी काव्यमय हो उठी है, जो कि डॉ. वर्मा के कवि-पक्ष का संकेत देती है। शैली की इसी सरसता और प्रवाहपूर्णता के कारण उनका इतिहास पर्याप्त लोकप्रिय हुआ है तथा पाठकों को इस बात का अभाव प्रायः खलता रहा है कि यह भक्तिकाल तक ही सीमित है, इसका शेष भाग अभी तक अलिखित है।

इधर **नागरी प्रचारिणी सभा** द्वारा भी 'हिंदी-साहित्य का बृहत इतिहास' प्रकाशित करने की विशाल योजना क्रियान्वित हो रही है, जिसके अंतर्गत समस्त हिंदी-साहित्य को सोलह भाषाओं में प्रस्तुत किया जायेगा। यद्यपि इस ग्रंथ के लेखन के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्तों और पद्धतियों का निर्धारण कर लिया गया है, फिर भी प्रत्येक खंड अलग-अलग विद्वानों के संपादन में तथा विभिन्न लेखकों के सहयोग से निर्मित हो रहा है तथा संपूर्ण ग्रंथ के लेखन में शताधिक लेखकों का सहयोग अपेक्षित है; ऐसी स्थिति में इसकी उपलब्धियों और सीमाओं के बारे में सामान्य रूप में कुछ कहना कठिन है। वस्तुतः प्रत्येक खंड की सफलता-असफलता बहुत कुछ उसके संपादक व सहयोगी मंडल पर निर्भर है। इस दृष्टि से अब तक प्रकाशित खंडों में से कुछ बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं, यथा—इसका षष्ठ भाग (रीतिकाल : रीतिबद्ध काव्य) अपने विषय का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। समग्र रूप में यह योजना हिंदी-साहित्येतिहास की बिखरी हुई सामग्री को सूत्रबद्ध कर सकेगी, इसमें संदेह नहीं। इतिहास के स्थूल ढांचे के रूप में इसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल के इतिहास को ही किंचित संशोधित करके अपनाया गया है। अतः मूल ढांचे के गुण-दोष इसमें भी अधिक व्यापक, विस्तृत एवं सबल रूप में विद्यमान रहेंगे। यदि सभी क्षेत्रों के शताधिक लेखकों के स्वतंत्र सहयोग की अपेक्षा कुछ चुने हुए अधिकारी विद्वानों के सामूहिक योग से इसका निर्माण होता तो निस्संदेह इसमें अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता, अन्विति एवं सजीवता आ पाती।

विभिन्न विद्वानों के सामूहिक सहयोग के आधार पर लिखित इतिहास-ग्रंथों में 'हिंदी-साहित्य' भी उल्लेखनीय है, जिसका संपादन **डॉ. धीरेंद्र वर्मा** ने किया है। इसमें संपूर्ण हिंदी-साहित्य को तीन कालों—आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिककाल—में विभक्त करते हुए प्रत्येक काल की काव्य-परंपराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। जहाँ नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित इतिहास में आचार्य शुक्ल के इतिहास की रूपरेखा को अधिक ध्यान में रखा गया है, वहाँ इसमें यत्र-तत्र अधिक स्वतंत्रता से काम लिया गया है—यही कारण है कि इसमें हम 'रासोकाव्य-परंपरा' जैसी नयी काव्य-परंपराओं को भी स्थापित देखते हैं। पर साथ ही इसमें कुछ दोष भी हैं—विभिन्न अध्यायों में विभिन्न लेखकों ने इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियों और पद्धतियों का उपयोग किया है जिससे इसमें एकरूपता, अन्विति एवं संश्लेषण का अभाव परिलक्षित होता है। फिर भी, हिंदी-साहित्य की इतिहास-लेखन की परंपरा में इसका विशिष्ट स्थान है।

उपर्युक्त इतिहास-ग्रंथों के अतिरिक्त भी अनेक शोध-प्रबंध और समीक्षात्मक ग्रंथ लिखे गये हैं जो हिंदी-साहित्य के संपूर्ण इतिहास को तो नहीं, किंतु उसके किसी एक पक्ष, अंग या काल को नूतन ऐतिहासिक

नोट

दृष्टि और नयी वस्तु प्रदान करते हैं। इन सबका विवेचन तो यहां संभव नहीं, किंतु इनका संकेत अवश्य किया जा सकता है, यथा-डॉ. भगीरथ मिश्र का 'हिंदी-काव्यशास्त्र का इतिहास', डॉ. नगेंद्र की 'रीतिकाव्य की भूमिका', श्री परशुराम चतुर्वेदी का 'उत्तरी भारत की संत-परंपरा', श्री प्रभुदयाल मीतल का 'चैतन्य-संप्रदाय और उसका साहित्य', डॉ. विजयेंद्र स्नातक का 'राधावल्लभ-संप्रदाय: सिद्धांत और साहित्य', श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'हिंदी-साहित्य का अतीत', श्री चंद्रकांत बाली का 'पंजाब-प्रान्तीय हिंदी-साहित्य का इतिहास', डॉ. टीकमसिंह तोमर का 'हिंदी-वीरकाव्य', डॉ. मोतीलाल मेनारिया-कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' व 'राजस्थानी पिंगल साहित्य'; डॉ. केसरीनारायण शुक्ल, डॉ. श्रीकृष्णलाल और डॉ. लक्ष्मीसागर वाष्णोय के आधुनिक काल संबंधी विभिन्न शोध-प्रबंध, डॉ. नलिनविलोचन शर्मा का 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', डॉ. सियाराम तिवारी का 'मध्यकालीन खंडकाव्य', डॉ. सरला शुक्ल, डॉ. हरिकांत श्रीवास्तव, डॉ. ओमप्रकाश शर्मा प्रभृति के प्रेमाख्यानक काव्य संबंधी शोध-प्रबंध आदि ऐसे शताधिक ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं जिनके द्वारा हिंदी-साहित्य के विभिन्न कालखंडों, काव्य-रूपों, काव्य-धाराओं, उपभाषाओं के साहित्य आदि पर प्रकाश पड़ता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन शोध-प्रबंधों में उपलब्ध नूतन निष्कर्षों के आधार पर अद्यतन सामग्री का उपयोग करते हुए नये सिरे से हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखा जाये। ऐसा करने के लिए आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित ढांचे में आमूलचूल परिवर्तन करना पड़ेगा क्योंकि वह उस सामग्री पर आधारित है जो आज से 40-50 वर्ष पूर्व उपलब्ध थी, जबकि इस बीच बहुत-सी नयी सामग्री प्रकाश में आ गयी है। इस लक्ष्य की पूर्ति का एक प्रयास 'हिंदी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में हुआ है, जिसमें साहित्येतिहास के विकासवादी सिद्धांतों की प्रतिष्ठा करते हुए उनके आलोक में हिंदी-साहित्य की नूतन व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

इस प्रकार गार्सा द तॉसी से लेकर अब तक की परंपरा के संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि लगभग एक शताब्दी की ही अवधि में हिंदी-साहित्य का इतिहास-लेखन अनेक दृष्टियों, रूपों और पद्धतियों का आकलन और समन्वय करता हुआ संतोषजनक प्रगति कर गया है। इतना ही नहीं हमारे लेखकों ने न केवल विश्व-इतिहास-दर्शन के बहुमान्य सिद्धांतों और प्रयोगों को अंगीकृत किया है, अपितु उन्होंने ऐसे नये सिद्धांत भी प्रस्तुत किये हैं जिनका सम्यक् मूल्यांकन होने पर अन्य भाषाओं के इतिहासकार भी उनका अनुसरण कर सकते हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. तॉसी की परंपरा को आगे बढ़ाने का श्रेय है—
 (क) शिवसिंह सेंगर (ख) डॉ. ओमप्रकाश शर्मा
 (ग) डॉ. श्रीकृष्णलाल (घ) आचार्य शुक्ल
6. 'कालिदास हजारा' में कवियों की एक हजार कविताओं का संग्रह है।
 (क) 292 (ख) 392
 (ग) 492 (घ) 592
7. 'विद्वान मोदतरंगिणी' में का काव्य-संग्रह है।
 (क) 5 कवियों (ख) 15 कवियों
 (ग) दो कवियों (घ) तीन कवियों
8. 'रस चंद्रोदय' में कवियों की कविताओं का संकलन है।
 (क) 240 (ख) 242
 (ग) 350 (घ) 352

3.6 हिंदी-साहित्येतिहास के आधार

अब उन स्रोतों व आधारों पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए जिनसे हिंदी-साहित्येतिहास के लेखन में सहायता

ली जाती है। इन्हें हम पांच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—(1) साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाएँ; (2) साहित्यकारों व साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने वाली कृतियाँ; (3) साहित्य के विभिन्न अंगों, रूपों, धाराओं व प्रवृत्तियों की व्याख्या से संबंधित आलोचनात्मक व अनुसंधानपरक ग्रंथ; (4) प्राचीन साहित्यकारों के काल-निर्धारण व रचना-काल के निर्णय में योग देने वाली ऐतिहासिक सामग्री, जैसे—शिलालेख, वंशावलियाँ, प्रामाणिक उल्लेख आदि; (5) विभिन्न युगों की आंतरिक और बाह्य परिस्थितियों व स्थितियों पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री।



टास्क

19वीं शती में डारविन ने किस सिद्धांत की स्थापना के द्वारा इतिहास को एक नूतन दृष्टि, शक्ति व गति प्रदान की?

उपर्युक्त वर्गों पर यहाँ क्रमशः विचार किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अंतर्गत आनेवाली प्रकाशित रचनाओं की उपलब्धि तो विशेष कठिन नहीं है, किंतु अप्रकाशित सामग्री की उपलब्धि अवश्य दुष्कर है। नागरी प्रचारिणी सभा तथा अन्य कई साहित्यिक संस्थाएँ इस कार्य में वर्षों से लगी हुई हैं और उनके द्वारा उपलब्ध रचनाओं का विवरण खोज-रिपोर्टों में प्रकाशित होता है। दुर्भाग्य से इस प्रकार की सहस्राधिक रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित पड़ी हैं। द्वितीय वर्ग की प्राचीन रचनाओं में ‘दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता’, ‘चौरासी वैष्णवन की वार्ता’, ‘भक्तमाल’, ‘गुरुग्रंथ साहब’ ‘भक्त नामावली’, ‘कविमाला’, ‘कालिदास-हजारा’, ‘सत्कवि गिरा-विलास’, ‘कवि नामावली’, ‘राग सागरोद्भव-राग कल्पद्रुम’, ‘शृंगार-संग्रह’ आदि उल्लेखनीय हैं। इनका रचना-काल सत्रहवीं शती से लेकर उन्नीसवीं शती के अंत तक का है तथा इनसे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों और काव्यों के संबंध में विभिन्न तथ्यों का पता चलता है। जहाँ तक आधुनिक काल के साहित्य का परिचय देने वाले ग्रंथों की बात है, डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. प्रेमनारायण टंडन व अन्य कई लेखकों द्वारा समकालीन लेखकों और उनकी रचनाओं के वृत्त-संग्रह निदेशिकाओं के रूप में प्रकाशित हुए हैं। जो इतिहास लेखक के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

3.7 सारांश (Summary)

- आज ‘इतिहास’ शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अंतर्गत, अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अतः संक्षेप में अतीत के किसी भी तथ्य, तत्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन, व विश्लेषण को—जो कि कालविशेष या कालक्रम की दृष्टि से किया गया हो—इतिहास कहा जा सकता है। लाक्षणिक अर्थ में ‘इतिहास’ का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीतकालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है।
- साहित्य के इतिहास के लेखन कार्य में बाह्य साक्ष्य की अपेक्षा अंतःसाक्ष्य अधिक विश्वसनीय और महत्वपूर्ण है क्योंकि एक समन्वित दृष्टिकोण संपन्न इतिहास लेखक अपनी विवेकमयी सारग्राहिणी बुद्धि से उस सामग्री से ग्राह्य व प्रामाणिक उपादानों को ग्रहण करता है। एक श्रेष्ठ इतिहास लेखक सर्वदा “सार-सार को गहि रहे, थोथा देय उड़ाय” के आदर्श का दृढ़ता से पालन करता है।
- इतिहास के अध्ययन में विभिन्न विद्वान विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों का प्रयोग करते रहे हैं तथा ये दृष्टिकोण भी समय-समय पर बदलते रहे हैं—इसी तथ्य के आधार पर ‘इतिहास-दर्शन’ विषय की स्थापना हुई है जिसमें इतिहास के संबंध में प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों धारणाओं व विचारों का अध्ययन किया जाता है। अस्तु, इतिहास संबंधी इन्हीं विचार या धारणाओं को समूह-रूप में ‘इतिहास-दर्शन’ की संज्ञा दी जाती है।
- भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्य-शोधन तक ही सीमित नहीं रहा, वह ‘शिव’ और ‘सुंदरम्’ के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा। इसे व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ उसका ‘गुण’ कहा जा सकता है, वहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से यह उसका सबसे बड़ा ‘दोष’ भी माना जा सकता है, क्योंकि उसने इतिहास के कलेवर में कला और नीति को स्थान देकर उसे शुद्ध ऐतिहासिकता से वंचित रखा।
- जर्मन दार्शनिक कांत (1724-1804) ने इतिहास की नयी व्याख्या करते हुए प्रतिपादित किया कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आंतरिक विकास-प्रक्रिया का प्रतिबिम्ब-मात्र है, अतः इतिहास को भी इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए, अर्थात् ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे प्राकृतिक नियमों की प्रवृत्ति को समझने का प्रयास किया जाना चाहिए।

नोट

- साहित्येतिहास की व्याख्या के लिए विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रयास होते रहे हैं जो हमें किसी निश्चित, स्पष्ट एवं समन्वित निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाते, किंतु फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता; उसकी विषयगत प्रवृत्तियों व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे संबंधित राष्ट्रीय परंपराओं, सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का विवेचन-विश्लेषण आवश्यक है।
- सामान्यतः साहित्य के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्टिकोण का तथा साहित्यालोचन में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उपयोग किया जाता है तथा इस दृष्टि से ये दोनों एक-दूसरे के पूरक व सहयोगी सिद्ध होते हैं, किंतु फिर भी हमें इस भ्रान्ति से बचना चाहिए कि दोनों मूलतः एक ही हैं। इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकास-क्रम को स्पष्ट करने का होता है जबकि आलोचना का लक्ष्य वस्तु के गुण-दोषों का अन्वेषण करते हुए उसका मूल्य निर्धारित करना होता है।
- हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा में सर्वोच्च स्थान **आचार्य रामचंद्र शुक्ल** द्वारा रचित 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (1929) को प्राप्त है। जो मूलतः नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिंदी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत करके स्वतंत्र पुस्तक का रूप दे दिया गया।
- मध्यकालीन हिंदी-काव्य के विविध स्रोतों के अनुसंधान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने संत-साहित्य और वैष्णव-भक्तिकाव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया। शास्त्रीय परंपरा के संरक्षक महाकवि तुलसीदास के महत्त्व पर बल देते हुए प्रायः अनेक इतिहासकार संतों को अशिक्षित, असंस्कृत व अविकसित घोषित करके उनकी अवमानना करने का प्रयास करते हैं, जबकि आचार्य द्विवेदी ने वस्तुस्थिति की गहराई घोषित करते हुए लिखा है: "कभी-कभी हास्यास्पद भावे से कबीरदास को शास्त्र-ज्ञानहीन, सुनी-सुनायी बातों का गढ़ने वाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनिये और अन्यान्य नीची कही जाने वाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाजा खुला था और कबीरदास आदि ने जान-बूझकर उसकी अवहेलना की थी। सच पूछा जाए तो शास्त्र-ज्ञान तत्व-ज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता; और कभी-कभी तो युग की तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्क-जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान पड़ता है।"

3.8 शब्दकोश (Keywords)

शताधिक	— सौ से अधिक
अतीत	— बीता हुआ, भूतकाल
मूल्यांकन	— मूल्य का अनुमान करना गुण-दोष व लाभ-हानि के आधार पर आकलन

3.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

- हिंदी साहित्य के इतिहास का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
- 'इतिहास-दर्शन' की रूपरेखा का विश्लेषण कीजिए।
- हिंदी-साहित्येतिहास की परंपरा का उल्लेख कीजिए।
- हिंदी-साहित्येतिहास के आधार को कितने वर्गों में विभाजित किया गया है? वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

1. 'राजस्थान'
2. भक्तमाल
3. 'चौरासी और दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ताएँ'
4. नाभादास की वाणियाँ
5. (क)
6. (क)
7. (ख)
8. (ख)

3.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



1. हिंदी साहित्य का इतिहास - श्यामचन्द्र कपूर, प्रभात प्रकाशन।

पुस्तकें

इकाई-4: हिंदी साहित्य का इतिहास : नामकरण

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 4.1 ऐतिहासिक कालक्रम
- 4.2 हिंदी साहित्य का संपूर्ण इतिहास
- 4.3 नामकरण की समस्याएँ
- 4.4 हिंदी साहित्य का काल विभाजन
- 4.5 सारांश (Summary)
- 4.6 शब्दकोश (Keywords)
- 4.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 4.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- ऐतिहासिक कालक्रम को जानने में।
- हिंदी साहित्य के काल-विभाजन को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

आज की स्थितियाँ पर्याप्त भिन्न हैं। विगत के चार-पाँच दशकों से हिंदी जगत में पुष्कल अनुसंधान सामग्री आलोक में आई है और उस पर नवीन दृष्टिकोण से चिंतन-मनन हुआ है, जिसे ध्यान में रखते हुए आचार्य शुक्ल के प्रवृत्तात्मक काल-विभाजन को सर्वथा निरापद और त्रुटि रहित नहीं कहा जा सकता है विशेषतः वीरगाथा काल के नामकरण को। किसी काल में साहित्य की विभिन्न परंपराओं के अंतर्गत प्रणीत साहित्य को धर्मोपदेशपरक, दार्शनिक अथवा सृजनात्मक साहित्येतर कहने मात्र से तत्कालीन विपुल साहित्य-राशि की महिमा को इतना व्याघात नहीं पहुँचता जितनी हानि उस काल में रचित समग्र साहित्य को पहुँचती है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल के कुछ पूर्व तक, साहित्य सृजन की प्रक्रिया धर्माश्रय, राजाश्रय और लोकाश्रय में चलती रही है।

4.1 ऐतिहासिक कालक्रम

काल विभाजन का नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्वपूर्ण समस्याएँ हैं। इनके आधार सामान्यतः इस प्रकार माने गये हैं—

1. ऐतिहासिक कालक्रम के अनुसार : आदिकाल, मध्यकाल, संक्रांति-काल, आधुनिक काल आदि।
2. शासक और उसके शासनकाल के अनुसार : एलिजाबेथ युग, विक्टोरिया युग, मराठाकाल आदि।
3. लोकनायक और उसके प्रभाव-काल के अनुसार : चैतन्य-काल (बांग्ला), गाँधी-युग (गुजराती) आदि।
4. साहित्य नेता एवं उसकी प्रभाव-परिधि के आधार पर : रवींद्र युग, भारतेन्दु युग आदि।

नोट

5. राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आंदोलन के आधार पर : भक्तिकाल, पुनर्जागरण काल, सुधार काल, युद्धोत्तर काल (प्रथम महायुद्ध के बाद का कालखंड), स्वातन्त्र्योत्तर काल आदि।
6. साहित्यिक प्रवृत्ति के नाम पर : रोमानी युग, रीतिकाल, छायावाद युग आदि।

इस प्रसंग में पहला प्रश्न तो यही है कि इस प्रकार के विभाजन की आवश्यकता क्या है? इसका उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि वस्तु के समग्र रूप का दर्शन करने के लिए भी उसके अंगों का ही निरीक्षण करना पड़ता है : हमारी दृष्टि शरीर के विभिन्न अवयवों का अवलोकन करती हुई सम्पूर्ण व्यक्तित्व का दर्शन करती है। अवयवों को पृथक् मानकर उनका निरीक्षण करना खंड-दर्शन है, किंतु उनको व्यक्तित्व के अंग मानकर देखना समग्र दर्शन है। और यही सहज विधि है क्योंकि निरवयव रूप का दर्शन अपने आप में कठिन है। इसके अतिरिक्त जीवन या साहित्य को अखंड प्रवाह-रूप मानने पर भी इस बात से तो इंकार नहीं किया जा सकता कि उसमें समय-समय पर दिशा-परिवर्तन और रूप-परिवर्तन होता रहता है। दृष्टि की अपनी सीमाएँ होती हैं। वह सभी कुछ एक साथ नहीं देख सकती, इसलिए अंगों पर होती हुई ही अंगों का अवलोकन करती है। अतः यह बात बराबर ध्यान में रखते हुए कि साहित्य की अखंड परम्परा का निरूपण ही इतिहास का लक्ष्य है, समय-समय पर उपस्थित दिशा-परिवर्तनों और रूप-परिवर्तनों के अनुसार विकास-क्रम का अध्ययन करना न सिर्फ गलत नहीं है, बल्कि जरूरी भी है।

यहाँ दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि काल-विभाजन का सही आधार क्या हो सकता है? वर्ग-विभाजन प्रायः समान प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है। समान प्रकृति के अनेक पदार्थ मिलकर एक वर्ग बनाते हैं और इस प्रकार समप्रकृति के आधार पर अनेक वर्गों में विभक्त होकर अस्त-व्यस्त समूह व्यवस्थित रूप धारण कर लेता है। जिस प्रकार प्रवाह के अंदर अनेक धाराएँ होती हैं, उसी प्रकार साहित्य में अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं; और इन प्रवृत्तियों का आदि-अंत या उतार-चढ़ाव ही इतिहास का काल-विभाजन अर्थात् विभिन्न युगों की सीमाओं का निर्धारण करता है। यह वर्ग-विभाजन परिपूर्ण नहीं हो सकता, इसका रूप प्रायः स्थूल और आनुमानित होता है, फिर भी समूह का पर्यवेक्षण करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। काल-विभाजन का आधार भी समान प्रकृति और प्रवृत्ति ही होती है। जन-जीवन की प्रवृत्तियों व रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर सामाजिक इतिहास का काल-विभाजन होता है और राजनीतिक परिस्थितियों की समानता राजनीतिक इतिहास के काल-विभाजन का आधार बनती है। इसी प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों का साम्य-वैषम्य ही साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन का आधार हो सकता है। समान प्रकृति और प्रवृत्तियों की रचनाओं का कालक्रम से, वर्गीकृत अध्ययन कर साहित्य का इतिहासकार सम्पूर्ण साहित्य-सृष्टि का समवेत अध्ययन करने का प्रयत्न करता है।

इसी प्रकार नामकरण के पीछे भी कुछ-न-कुछ तर्क अवश्य रहता है अथवा रहना चाहिए। नाम की सार्थकता इसमें है कि वह पदार्थ के गुण अथवा धर्म का मुख्यतया द्योतन कर सके। इस तर्क से किसी कालखंड का नाम ऐसा होना चाहिए जो उसकी मूल साहित्य-चेतना को प्रतिबिम्बित कर सके। शासक के नाम पर भी कालखंड का नामकरण तभी मान्य हो सकता है या हुआ है जब उस शासक-विशेष के व्यक्तित्व ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए, एलिजाबेथ और विक्टोरिया-दोनों के राजनीतिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व एवं शासन-तंत्र ने अपने युग-जीवन को प्रभावित करते हुए साहित्य की गतिविधि पर भी गहरा प्रभाव डाला था। यही तर्क लोकनायक के विषय में है। चैतन्य या गाँधी का अपने युग के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव था जो साहित्य में व्यापक रूप से मुखरित होता रहा। उधर साहित्यिक नेता भी युग-विशेष की साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधि होने पर ही इस गौरव का अधिकारी होता है। शेक्सपियर, रवींद्रनाथ या भारतेन्दु व्यक्ति न होकर संस्था थे-युग निर्माता थे, जिनके कृतित्व ने अपने-अपने युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों को प्रभावित किया था। राष्ट्रीय महत्त्व की घटना जैसे-महायुद्ध, भारतीय स्वतंत्रता की घोषणा-अथवा किसी व्यापक आंदोलन या प्रवृत्ति के अनुसार नाम की सार्थकता और भी अधिक स्पष्ट है: भक्ति, पुनर्जागरण अथवा राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव जितना समाज पर था उतना साहित्य पर भी और अंत में साहित्यिक प्रवृत्ति के विषय में तो कहना ही क्या? उसके अनुसार नामकरण की सार्थकता स्वतःसिद्ध है। कहने का अभिप्राय यह है कि साहित्य के इतिहास में नामकरण का मूल आधार है-काल-विशेष की साहित्यिक चेतना का प्रतिफलन जिसका माध्यम सामान्यतः उस युग की सर्वप्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति ही हो सकती है, लेकिन यह अनिवार्य नहीं है और इस प्रसंग में एक सीमा से आगे एकरूपता का प्रयत्न करना भी अधिक संगत नहीं है। यह

आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कालखंड में कोई एक प्रवृत्ति समग्र साहित्य-चेतना का प्रतिनिधित्व कर सके। जहाँ ऐसा होता है वहाँ नामकरण का प्रश्न आसानी से हल हो जाता है जैसे-रीतिकाल में या रोमानी युग में या छायावाद युग में, लेकिन ऐसा सदा नहीं होता। कभी-कभी कोई राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति इतनी बलवती होती है कि वह समाज और साहित्य को एक साथ और समान रूप से प्रभावित करती है जैसे-भक्ति, पुनर्जागरण या सुधार-आंदोलन। ऐसी स्थिति में नामकरण का आधार सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही होगी, क्योंकि साहित्य चेतना की प्रेरक वही है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी किसी लोकनायक या साहित्य-नेता का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होता है कि वह सम्पूर्ण युग की चेतना को व्याप्त कर लेता है: चैतन्य महाप्रभु, गाँधी और रवींद्रनाथ का व्यक्तित्व ऐसा ही था। अतः यहाँ भी साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार नामकरण उचित नहीं होगा। किसी-किसी युग में ऐसा भी होता है कि किसी एक प्रवृत्ति को प्रमुख या प्रतिनिधि प्रवृत्ति मानना सम्भव नहीं होता। वहाँ सायास किसी प्रवृत्ति को आधार मानकर नामकरण अनुचित होता है : 'वीरगाथा-काल' नाम इसका प्रमाण है;—अतः ऐसी स्थिति में 'आदिकाल' जैसा निर्विशेष नाम ही अधिक उपयोगी होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि काल-विभाजन और नामकरण में एकरूपता अनिवार्य नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि काल-विभाजन विवेक-सम्मत हो, जो साहित्य की परम्परा को सही रूप में समझने में सहायक हो। साथ ही, नाम भी ऐसा होना चाहिए जो युग की साहित्य-चेतना का सही ढंग से प्रतिफलन करता हो; यदि साहित्यिक नामकरण से भ्रांति उत्पन्न होती हो तो अन्य उचित आधार ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए: नाम के लिए रूप का बलिदान नहीं करना चाहिए।



नोट्स जन-जीवन की प्रवृत्तियों व रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर सामाजिक इतिहास का काल-विभाजन होता है।

रैने वैलक ने अपने निबंध में इस मिश्रित पद्धति की आलोचना की है : “फिर भी, प्रचलित नामों का यह मिश्रित आधार कुछ-न-कुछ परेशानी अवश्य पैदा करता है। ‘सुधारवाद’ चर्च के इतिहास से आया है; ‘मानववाद’ मुख्यतः प्राचीन मानविकी विद्याओं के इतिहास से; ‘पुनर्जागरण’ कला के इतिहास से; ‘प्रजाधिपत्य’ और ‘पुनःस्थापन’ का सम्बंध विशेष राजनीतिक घटनाओं के साथ है। ‘अठारहवीं शती’ पुराना संख्यावाचक पद है जिससे ‘ऑमस्टन’, ‘नव्यशास्त्रवाद’, ‘पूर्व-स्वच्छंदतावाद’ आदि साहित्यिक शब्दों का अर्थ-बोध होने लगा है। ‘पूर्व-स्वच्छंदतावाद’ और ‘स्वच्छंदतावाद’ मुख्यतः साहित्यिक शब्द हैं, जबकि ‘विक्टोरिया-युग’, ‘एडवर्ड-युग’ और ‘जार्ज-युग’ नाम-पद राजाओं के शासन-काल से ग्रहण किये गये हैं। इसका अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि नामावली राजनीति, साहित्य और कला के शब्दों का गोरखधंधा-मात्र है, जिसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।” हमारे विचार से यह मंतव्य एक सीमा से आगे मान्य नहीं हो सकता। कम-से-कम व्यवहार में अभी तक, केवल साहित्य-चेतना के आधार पर, काल-विभाजन तथा नामकरण के आधार की एकरूपता का निर्वाह संभव नहीं हुआ और उसको सायास सिद्ध कर देने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अंग्रेजी-साहित्य के सभी कालखंडों के नाम ठीक हैं—एडवर्ड, जार्ज आदि राजाओं अथवा प्रजाधिपत्य, पुनःस्थापन आदि राजनीतिक घटनाओं के नाम पर साहित्य के इतिहास का नामकरण तो एकदम असंगत है क्योंकि ये नाम-पद किसी प्रकार की साहित्य-चेतना की व्यंजना नहीं करते। किंतु, ‘विक्टोरियन’ शब्द व्यक्तिवाचक न रहकर एक विशेष जीवन-दृष्टि और साहित्य-चेतना का वाचक बन गया है और अब वह इतना अधिक अर्थगर्भित हो गया है कि उसके स्थान पर किसी दूसरे शब्द का प्रयोग करने से अनावश्यक भ्रांति ही हो सकती है। इसी प्रकार सांस्कृतिक नाम-पदों की भी अपनी सार्थकता है। वैलक द्वारा साहित्य-चेतना पर बल दिया जाना ठीक ही है। नामकरण के लिए प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति का आधार ग्रहण करना अधिक संगत है; किंतु प्रत्येक स्थिति में किसी युग की साहित्य-चेतना का द्योतन केवल साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा ही संभव है—यह मानना कम-से-कम व्यवहार में कठिन हो सकता है, और है। इसलिए आधार को लचीला रखना होगा और यह मानकर चलना होगा कि कोई नाम पदार्थ के संपूर्ण व्यक्तित्व का वाचक नहीं हो सकता। सामान्यतः नाम संकेत-मात्र होता है, विशेष परिस्थिति में प्रतीक हो सकता है, किंतु पूर्ण बिंब तो वह नहीं हो सकता। इतिहास में नाम का प्रयोग प्रतीक के रूप में करना ही अधिक संगत है, और जहाँ यह संभावना न हो वहाँ संकेत-मात्र से काम चल सकता है : नाम में अशुद्ध या अस्पष्ट प्रतीकार्थ भरने या उसे बिंब का रूप प्रदान करने की चेष्टा व्यर्थ है।

नोट

उक्त विवेचन का सारांश यह है—

1. काल-विभाजन साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर होना चाहिए।
2. युगों का नामकरण यथासंभव मूल साहित्य-चेतना को आधार मानकर साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार करना चाहिए; किंतु जहाँ ऐसा नहीं हो सकता वहाँ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जा सकता है या फिर कभी-कभी विकल्प न होने पर निर्विशेष कालवाचक नाम को भी स्वीकार किया जा सकता है। नामकरण में एकरूपता काम्य है, किंतु उसे सायास सिद्ध करने के लिए भ्रांतिपूर्ण नामकरण उचित नहीं है।
3. युगों का सीमांकन मूल प्रवृत्तियों के आरंभ और अवसान के अनुसार होना चाहिए। जहाँ साहित्य के मूल स्वर अथवा उसकी मूल चेतना में परिवर्तन लक्षित हो और नये स्वर एवं चेतना का उदय हो, वहाँ युग की पूर्व-सीमा और जहाँ वह समाप्त होने लगे, वहाँ उत्तर सीमा माननी चाहिए।

4.2 हिंदी साहित्य का संपूर्ण इतिहास

हिंदी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में काल-विभाजन के लिए प्रायः चार पद्धतियों का अवलंब लिया गया है। पहली पद्धति के अनुसार, संपूर्ण इतिहास का विभाजन चार युगों अथवा कालखंडों में किया गया है—

1. आदिकाल, 2. भक्तिकाल, 3. रीतिकाल, 4. आधुनिक काल।

आचार्य शुक्ल द्वारा और उनके अनुसरण पर नागरी प्रचारिणी सभा के इतिहासों में, इसी को ग्रहण किया गया है। दूसरे क्रम के अनुसार, केवल तीन युगों की कल्पना ही विवेक सम्मत है—1. आदिकाल, 2. मध्यकाल और 3. आधुनिक काल। भारतीय हिंदी परिषद् के इतिहास में इसे ही स्वीकार किया गया है और डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त ने अपने वैज्ञानिक इतिहास में इसी का अनुमोदन किया है। इसके पीछे तर्क यह है कि मध्यकालीन साहित्य की चेतना प्रायः एक है : उन्नीसवीं सदी के मध्य में या उसके आगे-पीछे उसमें कोई ऐसा मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ जिसके आधार पर युग-परिवर्तन की मान्यता सिद्ध की जा सके। संतकाव्य, प्रेमाख्यान काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, वीरकाव्य नीतिकाव्य, रीतिकाव्य आदि की धाराएँ पूरे मध्यकाल में पाँच शताब्दियों तक अखंड रूप से प्रवाहित होती रहीं—उनमें उतार-चढ़ाव अवश्य आये, किंतु मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। हिंदी-साहित्य के रसज्ञ, प्रसिद्ध इतिहासकार, डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी का आरंभ से यही मत रहा है। तीसरी पद्धति साहित्य का विभाजन विधा-क्रम से करती है। इसका आधार यह है कि समस्त साहित्य-राशि का एकत्र अध्ययन करने की अपेक्षा कविता तथा गद्य-साहित्य की विविध विधाओं के इतिहास का वर्गीकृत अध्ययन साहित्यशास्त्र के अधिक अनुकूल है। इस प्रकार के अनेक इतिहास या खंड-इतिहास हिंदी में उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक और ऋजु पद्धति है, जो शुद्ध कालक्रम के अनुसार वस्तुगत विभाजन को ही अधिक यथार्थ मानती है। इसके प्रवक्ताओं का तर्क है कि किसी विचारधारा अथवा साहित्यिक दृष्टिकोण का आरोपण करने से परिदृश्य विकृत हो जाता है और यथार्थ-दर्शन में बाधा पड़ती है—अतः स्वाभाविक कालक्रम के अनुसार ही सामग्री का विभाजन करना समीचीन है। इस पद्धति का अवलंबन आरंभ में विदेशी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कुछ एक इतिहासों में ही आंशिक रूप से किया गया है।



क्या आप जानते हैं?

पहली पद्धति के अनुसार, संपूर्ण इतिहास का विभाजन चार कालखंडों में किया गया है—आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल।

इन सभी पद्धतियों के अपने गुण-दोष हैं, परंतु यहाँ भी समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही श्रेयस्कर है। जैसा कि हमने पूर्व-विवेचन में स्पष्ट किया है, साहित्य के इतिहास में युग-चेतना और साहित्य-चेतना का अनिवार्य योग रहता है। अतः साहित्य के विभाजन में भी ऐतिहासिक कालक्रम और साहित्य-विधा दोनों का आधार ग्रहण करना होगा। साहित्य के कथ्य, अर्थात् संवेद्य तत्त्व के विकास का निरूपण करने के लिए संपूर्ण युगों का आधार मानकर चलना होगा और उसके रूप का विकास-क्रम समझने के लिए अलग-अलग विधाओं को। इस समन्वित पद्धति को स्वीकार कर लेने पर हिंदी-साहित्य के काल-विभाजन की समस्या बहुत-कुछ हल हो जाती है। सातवीं सदी से ग्यारहवीं सदी के बीच रचित ऐसी कृतियाँ मिलती हैं जिनकी भाषा प्रमुख रूप से हिंदी (अर्थात् हिंदी की कोई

उपभाषा) है और ग्यारहवीं शती तक हिंदी अपभ्रंश के प्रभाव से प्रायः मुक्त हो चुकी थी। उस समय से लेकर चौदहवीं शती के मध्य तक हिंदी-भूभाग के सांस्कृतिक इतिहास का प्रवाह दो परस्पर विरोधी-सामन्तीय और धार्मिक-काव्यधाराओं को लेकर एक नयी भाषा की अनगढ़ भूमि पर बहता रहा। इसके बाद भक्ति का व्यापक आंदोलन संपूर्ण देश में प्रारंभ हो गया और हिंदी भाषी प्रदेश में नयी भाषा 'हिंदी' के विविध रूपों के माध्यम से उसकी प्रचुर अभिव्यक्ति होने लगी। यह निश्चय ही एक नये युग का उदय था जिससे सांस्कृतिक चेतना और उसके फलस्वरूप साहित्यिक चेतना में एक नया मोड़ आया। अतः यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि यहाँ से, यानी चौदहवीं सदी के मध्य से साहित्य के इतिहास का दूसरा युग आरंभ होता है।

इस युग के विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार संपूर्ण मध्यकाल उन्नीसवीं सदी के मध्य तक चलता है और दूसरे के अनुसार इसके दो खंड हैं: एक-चौदहवीं सदी के मध्य से सत्रहवीं सदी के मध्य तक और दूसरा-सत्रहवीं सदी के मध्य से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक। इनमें दूसरा मत ही अधिक मान्य है। यह ठीक ही है कि संतकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, नीतिकाव्य तथा वीरकाव्य की धाराएँ पूरे मध्य युग में प्रवाहित रहीं और रीतिकाव्य की रचना पूर्वाद्ध में भी हो रही थी, परंतु मुगल-वैभव का आरंभ होते-होते, अर्थात् सत्रहवीं सदी के मध्य तक आते-आते, मुख्य प्रवृत्ति बदल चुकी थी। भक्ति-भावना का प्राधान्य समाप्त हो चुका था और अलंकरण तथा शृंगार-विलास की प्रवृत्ति प्रमुख बन गयी थी। यहाँ तक कि भक्तिकाव्य में भी भक्तिभावना के क्षीण पड़ जाने से विलास तथा अलंकार-रीति का समावेश हो गया था; और इससे काव्य की चेतना तथा काव्य के रूप, दोनों में स्पष्ट अंतर आ गया था। अतः शुक्ल जी अथवा उनके पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने मध्य युग को दो कालखंडों में बाँट दिया है और यही ठीक है। इसके बाद उन्नीसवीं सदी के मध्य में भारत के इतिहास में एक बहुत बड़ी घटना घटी, और वह थी सन् 1857 की क्रांति। राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक जागरण का यह आंदोलन वास्तव में मध्य युग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का पहला उद्घोष था। भारतीय चेतना में व्याप्त मध्ययुगीन संस्कार सहसा विक्षुब्ध हो उठे; भाग्यवाद पर आश्रित अकर्मण्यता की भावना, जो हर प्रकार के परिवर्तन के प्रति सशंक थी, नवीन परिस्थितियों के आघात से आंदोलित हो उठी और जन-मानस में अपने राजनीतिक-सामाजिक स्वत्व को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी। इसके बाद ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई।

खंडों में विभक्त भारत एक संगठित राज्य बनकर विदेशी साम्राज्य का प्रमुख अंग बन गया। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान तथा सभ्यता-संस्कृति से भारतीय मानस का संपर्क और संघर्ष हुआ जिसके फलस्वरूप आधुनिक युग का जन्म हुआ। अतः आधुनिक युग की पूर्व-सीमा सन् 1857 या उन्नीसवीं सदी का मध्य ठीक ही है। यह युग आज एक शताब्दी पार कर चुका है। पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा इसमें परिवर्तन बड़ी तेजी से हुए हैं और आधुनिकता का रूप भी बदलता गया है। अतः इसके पूरे कलेवर को एक ही वृत्त में समेट लेना उचित नहीं होगा। आधुनिक युग का आरंभ होने पर देश के राजनीतिक-सामाजिक जीवन और उसके प्रभाव-स्वरूप साहित्य में पुनर्जागरण की जो चेतना उत्पन्न हुई थी, वह प्रायः शताब्दी के अंत तक, यानी 1900 ई. तक चलती रही। उस समय स्थिति में फिर कुछ परिवर्तन हुआ : राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट हुआ; देश को स्वराज्य ही चाहिए, यह भावना स्थिर हुई; सामाजिक, आर्थिक और नैतिक स्थिति में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार का समय था जब देश में 'अपने घर को ठीक करने' की भावना सर्वप्रमुख थी और उसका प्रतिफलन साहित्य में भी हो रहा था। उक्त स्थिति बीसवीं सदी के दूसरे दशक के अंत-सन् 1918-1919 तक चलती रही, तब राजनीतिक-सामाजिक जीवन में गाँधी तथा साहित्य में गाँधी व रवींद्र दोनों के प्रभाव से एक मोड़ फिर आया और अंतर्मुख आदर्शवाद की एक नवीन चेतना का उदय हुआ। यह चेतना भी चौथे दशक के अंत में 1938-39 के आसपास गाँधी के प्रभाव के साथ क्षीण हो गयी और इसके स्थान पर एक अत्यंत भिन्न यथार्थवादी सामाजिक चेतना का आविर्भाव हुआ, जिसमें देश में बढ़ते हुए समाजवादी प्रभाव का गहरा रंग था। तब से अब तक तीन दशाब्द और बीत चुके हैं : इस अवधि में भी नया लेखक दो-तीन बार (सन् 53 और 60 में) युग-परिवर्तन की घोषणा कर चुका है, परंतु अत्यधिक सामीप्य के कारण इस विषय में अभी कुछ निर्णय देना कठिन होगा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. प्रायः समान प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है।
2. युगों का सीमांकन मूल प्रवृत्तियों के आरंभ और के अनुसार होना चाहिए।

नोट

3. तीसरी पद्धति साहित्य का विभाजन से करती है।
4. 7वीं सदी से के बीच रचित ऐसी कृतियाँ मिलती हैं जिनकी भाषा प्रमुख रूप से हिंदी है।

4.3 नामकरण की समस्याएँ

इस संदर्भ में अंतिम प्रश्न है युगों के नामकरण का। आचार्य शुक्ल ने हिंदी-साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर उनका नामकरण क्रमशः इस प्रकार किया है : 1. वीरगाथा-काल, 2. भक्तिकाल, 3. रीतिकाल और 4. आधुनिक काल। उन्होंने जॉर्ज ग्रियर्सन और मिश्रबंधुओं से कुछ संकेत अवश्य ग्रहण किये हैं, परंतु काल-विभाजन और नामकरण की अंतिम तर्कपुष्ट व्याख्या उनकी अपनी है। इनमें से भक्तिकाल और आधुनिक काल को तो यथावत् स्वीकार कर लिया गया है, परंतु वीरगाथा-काल और रीतिकाल के विषय में विवाद रहा है। 'वीरगाथा-काल' नाम के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ की गयी हैं जिनमें प्रमुख यह है कि जिन वीरगाथाओं के आधार पर शुक्ल जी ने यह नामकरण किया है, उसमें से कुछ अप्राप्य हैं और कुछ परवर्ती काल की रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त जो साहित्य इस कालावधि में लिखा गया है, उसमें सामन्तीय और धार्मिक तत्वों का प्राधान्य होने पर भी कथ्य और माध्यम के रूपों की ऐसी विविधता और अव्यवस्था है कि किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर उसका सही नामकरण नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में आदिकाल-जैसा निर्विशेष नाम, जो भाषा और साहित्य की आरंभिक अवस्था-मात्र का द्योतन करता है, विद्वानों को अधिक मान्य है और मैं समझता हूँ कि इसका कोई विकल्प नहीं है। 'रीतिकाल' के विषय में मतभेद की परिधि सीमित है। वहाँ विवाद का विषय इतना ही है कि उस युग के साहित्य में रीति-तत्त्व प्रमुख है या शृंगार-तत्त्व? प्राचुर्य दोनों का ही है, पर इन दोनों में भी अधिक महत्त्व किसका है? हमारा विचार है कि जिस युग में रीति-तत्त्व का समावेश केवल शृंगार में ही नहीं, भक्तिकाव्य और वीरकाव्य में भी हो गया था, अथवा यह कहें कि जीवन का स्वरूप ही बहुत कुछ रीतिबद्ध हो गया था, उसका नाम 'रीतिकाल' ही अधिक समीचीन है। इसके विकल्प 'शृंगारकाल' में अतिव्याप्त है, क्योंकि शृंगार का प्राधान्य तो प्रायः सभी युगों में रहा है : वह काव्य का एक प्रकार से सार्वभौम तत्व है, अतः उसके आधार पर नामकरण अधिक संगत नहीं होगा। इस युग का शृंगार रीतिबद्ध था, अतः रीति ही यहाँ प्रमुख है।

आधुनिक काल को शुक्ल जी ने तीन चरणों में विभक्त किया है और उन्हें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान कहा है। प्रथम और द्वितीय उत्थान के विषय में उन्होंने यह संकेत भी कर दिया है कि इन्हें क्रमशः 'भारतेंदु-काल' और 'द्विवेदी-काल' भी कहा जा सकता है। तीसरे उत्थान को, कदाचित् उसके प्रवाहमय रूप के कारण, उन्होंने कोई नाम नहीं दिया। पहला कालखंड जीवन और साहित्य में पुनर्जागरण का युग था, जब अतीत की गौरव-भावना के परिप्रेक्ष्य में नवजागरण की चेतना विकसित हो रही थी; अतः इसे 'पुनर्जागरण-काल' नाम दिया जा सकता है और चूँकि भारतेंदु के व्यक्तित्व और कृतित्व में, जिन्होंने अपने जीवन-काल में इस युग का नेतृत्व किया और जिनका प्रभाव मरणोपरान्त भी बना रहा, यह चेतना सम्यक् प्रतिफलित हो रही थी, इसलिए इसका नामकरण उनके नाम पर भी करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। प्रायः इसी पद्धति और युक्ति से द्वितीय उत्थान का नामकरण भी किया जा सकता है : उसे हम औचित्यपूर्वक 'जागरण-सुधार-काल' या विकल्पतः 'द्विवेदी-युग' कह सकते हैं। तीसरे चरण की सर्वप्रमुख साहित्य-प्रवृत्ति है-छायावाद, अतः उसका उचित नाम 'छायावाद-काल' ही हो सकता है। उसका परवर्ती काल हमारे अत्यंत निकट है और उसकी मूल चेतना इतनी जल्दी-जल्दी बदल रही है कि किसी एक स्थिर आधार को लेकर उसका नामकरण नहीं किया जा सकता। आरंभ में प्रगतिवाद का दौर था जो कुछ ही वर्षों में समाप्त हो गया। इसके कुछ समय बाद प्रयोगवाद का आविर्भाव हुआ जो थोड़े समय तक इसके समानान्तर चलकर 1953 के आसपास नवलेखन में परिणत हो गया। अत्याधुनिक लेखन का दावा है कि नवलेखन का युग भी सन् 1960 के बाद खत्म हो गया है और इसके बाद की साहित्य-चेतना यथार्थ-बोध की प्रखरता के कारण अपनी पूर्ववर्ती साहित्य-चेतना से भिन्न है। अतः इस अस्थिर और त्वरित गति से बढ़ते हुए, साहित्य-प्रवाह को किसी एक नाम में बांधा जाये या नहीं?—यह प्रश्न है। कुछ आलोचक पूर्वार्द्ध को 'प्रगति-प्रयोग-काल' और उत्तरार्द्ध को 'नवलेखन-काल' कहना चाहते हैं और कुछ इस पूरे कालखंड को 'छायावादोत्तर काल' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें से पहले दोनों नाम कुछ अधिक निश्चित और भावात्मक और तीसरा नाम उतना ही अनिश्चित तथा अभावात्मक लगता है। पहले दोनों नामों में प्रमुख प्रवृत्तियों को रेखांकित किया गया है; जबकि दूसरा छायावाद के अवशिष्ट प्रभाव, विस्तार तथा विरोधी प्रतिक्रिया को अधिक महत्त्व देता है। स्वतंत्रता की प्राप्ति

इसी युग की घटना है, पर यह साहित्यिक चेतना को कोई नया मोड़ नहीं दे सकी, इसलिए नामकरण में उसकी कोई विशेष संगति नहीं है। अतः निर्णय उक्त दोनों विकल्पों के बीच ही करना है। सन् 1938-39 से आरंभ होने वाले वर्तमान युग का उपविभाजन किया जाये या नहीं? यदि इस तर्क के आधार पर कि इतिहास को बहुत छोटे-छोटे खंडों में विभक्त करने से समग्र दर्शन में बाधा आती है अथवा यह मानकर कि समसामयिक साहित्य का स्वरूप स्थिर होने में कुछ देर लगती है, वर्तमान युग को एक नाम ही देना है तो 'छायावादोत्तर काल' नाम अभावात्मक होते हुए भी असंगत नहीं है।

4.4 हिन्दी साहित्य का काल विभाजन

हिंदी-साहित्य का काल-विभाजन तथा नामकरण सामान्यतः इस प्रकार किया जा सकता है—

आदिकाल—सातवीं सदी के मध्य से चौदहवीं सदी के मध्य तक।

भक्तिकाल—चौदहवीं सदी के मध्य से सत्रहवीं सदी के मध्य तक।

रीतिकाल—सत्रहवीं सदी के मध्य से उन्नीसवीं सदी के मध्य तक।

आधुनिक काल—उन्नीसवीं सदी के मध्य से अब तक—

- | | |
|------------------------------------|------------------|
| (1) पुनर्जागरण-काल (भारतेंदु-काल) | 1857-1900 ई. |
| (2) जागरण-सुधार-काल (द्विवेदी-काल) | 1900-1918 ई. |
| (3) छायावाद-काल | 1918-1938 ई. |
| (4) छायावादोत्तर-काल | |
| (क) प्रगति-प्रयोग-काल | 1938-1953 ई. |
| (ख) नवलेखन-काल | 1953 ई. से अब तक |

आचार्य शुक्ल एक समर्थ समीक्षक व इतिहासकार थे। इतिहास लेखन काल में, उनके समक्ष काफी परिसीमाएँ थीं—उनके सामने आज जैसी विशाल गवेषणात्मक राशि का अभाव था। इसके अतिरिक्त उस काल की बहुत प्रक्षेपात्मक अप्रामाणिक सामग्री थी जो आज तक भी संदिग्ध और प्रश्नचिह्नों से घिरी हुई है। आचार्य शुक्ल तत्कालीन विविध संप्रदायों के धार्मिक व उपदेशात्मक साहित्य को सृजनात्मक साहित्य की परिधि से बाहर रखने के आग्रह पर अड़े रहे, हालाँकि प्रस्तुत साहित्य में साहित्यिक-रचनात्मकता की भी पर्याप्त मात्रा थी। इस विशाल साहित्य को अलग-अलग कर देने पर आचार्य जी के सामने नामकरण के अवसर पर, केवल वीरगाथात्मक साहित्य बचा था, जिसकी बहुत सी रचनाएँ संदिग्ध और अप्रामाणिक थीं। परिणामतः शुक्ल जी को द्विविधा की स्थिति का सामना करना पड़ा तथा प्रस्तुत काल का दोहरण नामकरण कर दिया—वीरगाथा काल या आदिकाल। हमारा अनुमान है कि आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाओं के शौर्य और वीररसात्मकता का तो नामकरण के काल में ध्यान रखा होगा, किंतु इस तथाकथित शिवेलरी की तो परिकल्पना भी नहीं की होगी। इसके अतिरिक्त बीसलदेव रासो, संदेश रासक तथा फामू रासो आदि रासोनामधारी ग्रंथों में शिवेलरी की छाया तक भी दिखाई नहीं पड़ती है। हम उक्त तथ्य को फिर दोहराना चाहते हैं कि आचार्य शुक्ल ने जिस अल्प सामग्री के आधार पर जिन दुष्कर परिस्थितियों में इतिहास लेखन का अत्यंत दायित्वपूर्ण कार्य संपन्न किया, तदनुसार वह ठीक था। आचार्य शुक्ल की अपनी कतिपय परिसीमाएँ थीं। सर्वाधिक यह कि उनके काल में एक दोषरहित इतिहास ग्रंथ लिखने के लिए अपेक्षित पर्याप्त सामग्री प्रकाश में नहीं आई थी, अतः उन्हें सीमित सामग्री से काम चलाना पड़ा, परिणामतः उनके काल-विभाजन के प्रयास का एकांगी रह जाना स्वाभाविक था।

आज की स्थितियाँ पर्याप्त भिन्न हैं। विगत के चार-पाँच दशकों से हिंदी जगत में पुष्कल अनुसंधान सामग्री आलोक में आई है और उस पर नवीन दृष्टिकोण से चिंतन-मनन हुआ है, जिसे ध्यान में रखते हुए आचार्य शुक्ल के प्रवृत्तात्मक काल-विभाजन को सर्वथा निरापद और त्रुटि रहित नहीं कहा जा सकता है विशेषतः वीरगाथा काल के नामकरण को। किसी काल में साहित्य की विभिन्न परंपराओं के अंतर्गत प्रणीत साहित्य को धर्मोपदेश-परक, दार्शनिक अथवा सृजनात्मक साहित्येतर कहने मात्र से तत्कालीन विपुल साहित्य-राशि की महिमा को इतना व्याघात नहीं पहुँचता जितनी हानि उस काल में रचित समग्र साहित्य को पहुँचती है। भारतवर्ष में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल के कुछ पूर्व तक, साहित्य सृजन की प्रक्रिया धर्माश्रय, राजाश्रय और लोकाश्रय में चलती रही है। तथाकथित 'वीरगाथा-काल' के नामकरण से धर्माश्रित एवं लोकाश्रित साहित्य की घोर उपेक्षा हो जाती है। नाथों,

नोट

सिद्धों व जैनों के साहित्य को उपदेशात्मक, धर्मपरक, दार्शनिक, सिद्धांतपरक कहने मात्र से उक्त काल की इस महती साहित्यिक समस्या का हल नहीं निकल सकता है। सबसे पहली बात तो यह है कि संप्रदायों के साहित्य में मात्र धर्मोपदेश दर्शन-शिक्षण अथवा सिद्धांतांकन के अतिरिक्त सृजनात्मकता का भी अपेक्षित मिश्रण है। इन्हें 'ब्रह्मसूत्र' मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति जैसे शास्त्रपरक ग्रंथों की कोटि में रखना महान् भूल होगी। वस्तुस्थिति तो यही है कि धर्मप्राण भारत देश में रचित साहित्य सदा धर्मानुप्रेरित रहा है। भारतीय जीवन के चारों पुरुषार्थ अनगिनत सदियों तक सर्वदा व्यापक धर्मानुप्राणित रहे हैं—भगवान् व्यासदेव के अनुसार—

ऊर्ध्व-बाहुः वृणोमि एषः नहि कश्चित् शृणोति मे।

धर्मादर्थः च कामः च किन्तु धर्मः न सेव्यते॥

मैं ऊर्ध्व-भुज, पुनः पुनः उद्धोषित करता हूँ किंतु कोई मेरी बात सुनता ही नहीं। धर्मानुकूल-आचरण से अर्थ संचय एवं धर्मानुप्रेरित कामानंद संपन्न होते हैं। फिर भी न जाने लोग धर्मानुसेवन क्यों नहीं करते अतः भ्रामक धर्मनिरपेक्षता व सांप्रदायिकता की डिमडिमा पीटने वाले वितंडावादी कतिपय लोग धर्म व संप्रदाय जैसे निरीह शब्दों के सुनने मात्र से ही त्योंरियाँ चढ़ाने के आदी हो गये हैं। धर्म को उसकी व्यापक उपादेयता के परिप्रेक्ष्य में देखना हितकर होगा। अन्यथा हमें वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, सूरदास, नानक, तुलसीदास, स्वामी हरिदास, हितहरिवंश और मीराबाई आदि की अमूल्य साहित्यिक धरोहर से वंचित होना पड़ेगा।

वैसे भी आजकल (सेक्युलेरिज्म) धर्मनिरपेक्षता के नाम पर उसे बिंबायमान करने वाले तथा सांप्रदायिकता की सहज पारदर्शिता को प्रतिबिंबित करने वाले चश्मे काफी आसानी से उपलब्ध हो जाते हैं, जिन्हें लगाकर कोई भी कट्टर जातिवादी, दलों की दलदल में आकंठ मग्न घोर निहित स्वार्थी जन प्रतिनिधित्व के नाम पर उच्च स्वर से परदोषारोपण की कला में जन्म से ही दक्ष, संसद भवन तक में निर्भीक भाव से सेक्युलेरिज्म (धर्मनिरपेक्षता) की ऊँची से ऊँची दुहाई लगा सकता है।

(क) प्रो. आर.एस. चतुर्वेदी की आचार्य शुक्ल के प्रति अनन्य आस्था नितान्त प्रशंस्य है किंतु काल-विभाजन के प्रकरण में, विशेषतः 'वीरगाथा-काल' के पक्ष-पोषणार्थ प्रस्तुत की गई विशिष्ट टिप्पणी उद्धरणीय है—“फिर आचार्य शुक्ल के नामकरण में **वीर** शब्द ही नहीं **गाथा** का भी विशिष्ट अर्थ है। गाथा के साथ शौर्य और शिवेलरी के तत्व जुड़े हुए हैं, जहाँ वीर का प्रेरक भाव अनिवार्य रूप से शृंगार है। यों, वीरगाथा में वीर और शृंगार एक युग्म के रूप में चित्रित होते हैं। धर्म और ऐहिकता फिर ऐहिकता में वीर और शृंगार का अंतर्भाव—लगता है ईश्वर की परिकल्पना में मनुष्य को सिरजा जा रहा है—महान उदात्त वीर और तेजस्वी।” निश्चयतः यह एक सटीक टिप्पणी है और उसमें व्याख्येय शब्द हैं वीरगाथा के साथ शौर्य और शिवेलरी का संयोजन, वीर और शृंगार रसों की एक युग्मता व पारस्परिक अंतर्भाव, ईश्वरीय परिकल्पना में महान उदात्त वीर और तेजस्वी मनुष्य का सृजन। गाथा, आख्यायिका कथा व गल्प आदि शब्द भारतीय काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में बहुधा चर्चित हैं और आचार्य वर्ग ने इन शब्दों के पारस्परिक अर्थ-भेद का मार्मिक विश्लेषण किया है, किंतु उन्होंने गाथा शब्द को प्रो. चतुर्वेदी द्वारा संदर्भित अर्थ में स्वीकार नहीं किया है। हाल की गाथा सप्तशती (गाथा सप्तशती) में निरूपित विषयों की विविधता को देखते हुए गाथा-शब्द में संकेतित अर्थ का ध्वनन नहीं होता। वस्तुस्थिति यह है कि प्राकृत साहित्य में गाथा के स्थान पर गाहा शब्द के प्रयोग का प्रचलन रहा। इसी प्रकार अपभ्रंश साहित्य में दोहा व दूहा का प्रचलन रहा है। तब समझ में नहीं आता कि 'वीर गाथा' शब्द का विशिष्ट अभिधेय या ध्वनित अर्थ क्या है? संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश परंपरा में वीरचरितात्मक ग्रंथों में प्रायः कोई भी ऐसा ग्रंथ नहीं है जहाँ वीर और शृंगार रस परस्पर अंतर्भुक्त न हुए हों। शिवेलरी का शब्दकोशिक अर्थ है—शूरवीर के गुण, वीरता आदि। प्राचीन साहित्य के चरितात्मक काव्यों में उक्त सभी कुछ सहज-सुलभ है। मध्यकालीन ऐतिहासिक युग में भारतीय नरेशों को देवता के प्रतिनिधि के रूप में दिव्य-गुणों से संपन्न, महिमामंडित व प्रतिष्ठित समझा जाता था—“महती हि एषः देवतारूपेण तिष्ठति” अतः चरितात्मक काव्यों के शौर्य-संपन्न वीर नायकों में महत्ता, उदात्तता, वीरता और तेजस्विता आदि के ऐश्वर्य संपन्न गुणों का आरोप कोई अपरिक्ल्पनीय वस्तु नहीं है।



टास्क

डॉ. जय भगवान गोयल ने पंजाब और हरियाणा में प्राप्त गुरुमुखी लिपि में निबद्ध कितने वीर काव्यों की सूचना दी है?

इसके अतिरिक्त प्रकृति ने भारत को प्राकृतिक संपदा की दृष्टि से संपन्न बनाया है। गीता का कथन है—“यद् यद् विभूतियत् सत्त्वं तन्मय तेजोऽंशं समुद्भवम्—विश्व का कोई भी विभूतिमय पदार्थ मेरे तैजस-अंश से संवलित है। अतः राजा की दैवी-गुणों से संपन्नता की धारणा भारतीय समाज के लिए कोई परिचित वस्तु नहीं है। राजा को देवता के रूप में मानने की बात कोई अचरज की नहीं है। अतः प्रारंभिक काल में आश्रयदाता की देवता के रूप में परिकल्पना, तत्कालीन परिवेश के अनुकूल है—“महती हि देवता एषा नररूपेण तिष्ठति”। शेष रही प्रो. चतुर्वेदी जी द्वारा ‘गाथा’ शब्द के साथ शिवेलरी का संयोजन, इस संदर्भ में तुलसी की यह पंक्ति द्रष्टव्य है—“स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुवीर गाथा” में शिवेलरी जैसा कोई भी विशिष्ट अर्थ सन्निहित नहीं है। वीरगाथा जैसे एकांगी नामकरण को स्वीकार कर लेने से, उस काल में, लोकाश्रय और धर्माश्रय में रचित साहित्य सर्वथा उपेक्षित रह जायेगा। अत्यधिक प्रक्षेपों से भरी हुई वीरगाथाओं का प्रामाणिक अस्तित्व अभी तक अनेक संशयों से घिरा हुआ है। इस काल के नामकरण के संदर्भ में प्रारंभिक काल अथवा आदिकाल के नाम के औचित्य की स्वीकृति से साहित्य का व्यापक हित संपन्न होगा।

(ख) आचार्य शुक्ल ने पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल की संज्ञा से अभिहित किया है जो कि एक ही प्रवृत्ति को सूचित करता है जबकि उस काल में भक्ति धारा के साथ-साथ साहित्य की अन्य धाराएँ भी पर्याप्त सक्रिय रहीं। शुक्ल जी ने भक्तिकाल की केवल चार काव्य परम्पराओं—निर्गुण ज्ञानाश्रयी, निर्गुण प्रेमाश्रयी, कृष्णभक्ति और रामभक्ति संबंधी काव्य परंपराओं का उल्लेख किया है किंतु इनके अतिरिक्त उक्त काल में काव्य की अन्य अनेक परंपराएँ चलती रहीं। समूचे मध्यकाल अर्थात् पूर्व मध्य तथा उत्तर मध्यकाल में प्रारंभिक काल के समान धर्म, राज्य तथा लोकाश्रयों में साहित्य सृजन बराबर चलता रहा, अतः पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल को परस्पर सर्वथा विभिन्न समझना भ्रम होगा। डॉ. गणपति चंद्र गुप्त ने मध्यकालीन हिंदी साहित्य की काव्य परंपराओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—

1. धर्माश्रय में—(क) संत काव्य परंपरा, (ख) पौराणिक गीति परंपरा, (ग) पौराणिक प्रबंध काव्य परंपरा, (घ) रसिक भक्ति काव्य परम्परा।

2. राज्याश्रय में—(क) मैथिली गीति परंपरा, (ख) ऐतिहासिक रास काव्य परंपरा, (ग) ऐतिहासिक चरित काव्य परंपरा, (घ) ऐतिहासिक मुक्तक परंपरा, (ङ) शास्त्रीय मुक्तक परंपरा।

3. लोकाश्रय में—(क) रोमांटिक कथाकाव्य परंपरा, (ख) स्वच्छंद प्रेमकाव्य परंपरा।

इससे स्पष्ट है कि आधुनिक अनुसंधानों के द्वारा पर्याप्त नवीन सामग्री के आलोक में आ जाने पर पूर्व मध्यकाल को भक्तिकाल के नाम से सूचित करना उसके एकांगीपन का द्योतक है।

(ग) आचार्य शुक्ल ने उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल तथा अन्य कतिपय इतिहास लेखकों ने इसे शृंगार काल तथा कला काल और अलंकृत काल के नामों से अभिहित किया। हम पहले लिख चुके हैं कि पूर्व मध्यकाल में प्रवाहित काव्य परंपराएँ उत्तर मध्यकाल में भी निरविच्छिन्न गति से चलती रही हैं, अतः तथाकथित रीति पद्धति की प्रमुखता के आधार पर उक्त काल को रीतिकाल की संज्ञा से अभिहित करना न्यायसंगत नहीं है। यही दशा शृंगार काल और कला काल आदि के नामों की हैं। निःसंदेह रीति के माध्यम से नायक-नायिकाओं का रसिकता प्रधान शृंगार निरूपण इस काल में हुआ है। किंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उस समय काव्य की अन्य परंपराएँ सर्वथा विलुप्त हो गई थीं। रीति पद्धति की प्रमुखता की स्वीकृति का कारण कदाचित् यह रहा है कि रीति कविता बहुधा अवध, बुंदेलखंड और राजस्थान के राजदरबारों में पली, अतः उसमें रीति-रचना, शृंगारिकता एवं अलंकरण की प्रवृत्तियों की प्रमुखता है। किंतु इसके विपरीत आधुनिक अनुसंधानों द्वारा कई महत्वपूर्ण नवीन तथ्य प्रकाश में आये हैं। उक्त काल में साहित्य की रचना केवल राजाश्रय में ही नहीं हुई बल्कि धर्माश्रय और लोकाश्रयों में भी प्रभूत साहित्य का प्रणयन हुआ जिसे किसी भी दशा में रीति पद्धति पर रचे साहित्य में गौण नहीं कहा जा सकता है। कुछ वर्ष पूर्व गुजरात, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा मिथिला जनपद में सैकड़ों भक्त संत काफी सूफी तथा जैन कवियों की असंख्य शुद्ध भक्ति भाव से संवलित रचनाओं का पता चला है जिनके आधार पर निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि उक्त काल में उपलब्ध भक्ति काव्य परिमाण और साहित्यिक उत्कृष्टता की दृष्टि से यदि रीति पद्धति पर रचे साहित्य से बढ़कर नहीं है तो कम भी नहीं है। इसके अतिरिक्त उत्तर मध्य काल में राज्याश्रय में प्रणीत साहित्य में जहाँ शृंगार रस का चित्रण प्रधान विषय बना रहा, वहाँ वीर रस का निरूपण भी उससे गौण नहीं था। डॉ. टीकम सिंह तोमर ने अपने शोध प्रबंध में 1700 से 1900 में रचित 90 वीर काव्यों की सूची प्रस्तुत की। डॉ. जय भगवान गोयल ने पंजाब और हरियाणा में प्राप्त गुरुमुखी

नोट

लिपि में निबद्ध 25 वीर काव्यों की सूचना दी है। इसके अतिरिक्त उक्त काल में रासो, रायस अथवा रास नामधारी ग्रंथों तथा बात, बेल अथवा वचनिका नामधारी रचनाओं का पता चला है, जिनमें वीर रस का अतीव कलात्मक चित्रण उपलब्ध होता है। उपरिचर्चित वीर काव्यों में तत्कालीन राजनीतिक चेतना तथा युग-बोध पर्याप्त मात्रा में है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस काल में काव्य की किसी एक प्रवृत्ति की प्रधानता नहीं रही है प्रत्युत कई सशक्त धाराएँ समानान्तर रूप से समान वेग से चलती रही हैं, अतः विवेचित काल को उत्तर मध्य काल के नाम से अभिहित करना उचित प्रतीत होता है। डॉ. जय भगवान गोयल के शब्दों में, “क्षेत्र विस्तार, सृजन की व्यापक आधार भूमि, नई सामग्री एवं नई कवि दृष्टि इस काल के साहित्य के पुनर्मूल्यांकन का पर्याप्त औचित्य प्रस्तुत करती है।”

(घ) परंपरागत दृष्टिकोण के अनुसार प्रायः आधुनिक काल के साहित्य को विभिन्न युगों—भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद युग, प्रगतिवाद युग, प्रयोगवाद युग तथा प्रयोगोत्तर युग में विभक्त कर दिया जाता है जो कि असंगत है। उपर्युक्त वर्गीकरण से युग विशेष की कविता का ही बोध संभव है जबकि तत्कालीन विपुल गद्य साहित्य उपेक्षित रह जाता है। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। आधुनिक काल के साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त काल गद्य के लिए जितना अनुकूल है उतना कविता के लिए नहीं। अस्तु! आधुनिक काल की साहित्य सामग्री को कालखंडों की अपेक्षा उसे साहित्य रूपों और काव्य परंपराओं में विभक्त करके उसका अध्ययन करना अधिक श्रेयस्कर है। उदाहरणार्थ आधुनिक काल के साहित्य को निम्नस्थ काव्य परंपराओं में विभक्त किया जा सकता है—(1) स्वच्छंदतावादी काव्य परंपरा (छायावादी), (2) समाजपरक यथार्थवादी काव्य परंपरा (प्रगतिवादी), (3) व्यक्तिपरक यथार्थवादी काव्य परंपरा (प्रयोगवादी) आदि।

इस प्रकार हम हिंदी साहित्य का काल-विभाजन निम्नलिखित रूप में कर सकते हैं—

1. प्रारंभिक काल (आदिकाल)	वि.	1241-1375
2. पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल)	वि.	1375-1700
3. उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल)	वि.	1700-1900
4. आधुनिक काल	वि.	1900 से अद्यावधि

ऊपर हमने आचार्य शुक्ल के काल-विभाजन के औचित्य की समीक्षा की है, हालाँकि शुक्ल जी के पश्चात् अनेक इतिहास ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं जिनमें प्रायः काल विभाजन की दिशा में शुक्ल जी का अनुकरण किया गया है। इस दिशा में डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त का प्रयास नितांत अभिनन्दनीय है। उन्होंने अपने महत्वपूर्ण ग्रंथ ‘हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास’ में पर्याप्त छानबीन और गहन अध्ययन के फलस्वरूप एक नवीन दृष्टिकोण से हिंदी साहित्य के काल-विभाजन को सुस्पष्ट वैज्ञानिक आधार पर खड़ा किया है।

इस विषय में ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त विवेचन का तात्पर्य आचार्य शुक्ल जैसे कृति विद्वान के प्रति अवज्ञा के भाव का प्रदर्शन करना नहीं है किंतु नवीन तथ्यों के आलोक में अपना विनम्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। यदि आचार्य शुक्ल के सामने आज तक के अनुसंधानों से प्राप्त नवीन विपुल सामग्री होती तो निश्चयतः उनके काल-विभाजन का रूप कुछ और होता। आचार्य शुक्ल द्वारा साहित्यिक इतिहास-लेखन का प्रयास एक ऐसी नींव का पत्थर है जिसके बिना हिंदी साहित्य के इतिहास के भव्य महल का निर्माण अकल्पनीय है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. हिंदी साहित्य का प्रारंभिक काल है—

- | | |
|---------------------|---------------------|
| (क) वि.1241-1375 तक | (ख) वि.1141-1275 तक |
| (ग) वि.1341-1475 तक | (घ) वि.1541-1675 तक |

6. डॉ. टीकम सिंह तोमर ने अपने शोध प्रबंध में 1700 से 1900 में रचित की सूची प्रस्तुत की।

- | | |
|---------------------|--------------------|
| (क) 190 वीर काव्यों | (ख) 90 वीर काव्यों |
| (ग) 9 वीर काव्यों | (घ) 99 वीर काव्यों |

7. आचार्य शुक्ल एक समर्थ समीक्षक व थे।

नोट

- (क) लेखक (ख) कवि
(ग) इतिहासकार (घ) वैज्ञानिक

8. पुनर्जागरण-काल को कहते हैं—

- (क) द्विवेदी-काल (ख) छायावाद-काल
(ग) नवलेखन-काल (घ) भारतेंदु-काल

4.5 सारांश (Summary)

- नामकरण के पीछे भी कुछ-न-कुछ तर्क अवश्य रहता है अथवा रहना भी चाहिए। नाम की सार्थकता इसमें है कि वह पदार्थ के गुण अथवा धर्म का मुख्यतया द्योतन कर सके। इस तर्क से किसी कालखंड का नाम ऐसा होना चाहिए जो उसकी मूल साहित्य-चेतना को प्रतिबिम्बित कर सके। शासक के नाम पर भी कालखंड का नामकरण तभी मान्य हो सकता है या हुआ है जब उस शासक-विशेष के व्यक्तित्व ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया है।
- आधुनिक काल को शुक्ल जी ने तीन चरणों में विभक्त किया है और उन्हें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय उत्थान कहा है। प्रथम और द्वितीय उत्थान के विषय में उन्होंने यह संकेत भी कर दिया है कि इन्हें क्रमशः 'भारतेंदु-काल' और 'द्विवेदी-काल' भी कहा जा सकता है। तीसरे उत्थान को, कदाचित् उसके प्रवाहमय रूप के कारण, उन्होंने कोई नाम नहीं दिया। पहला कालखंड जीवन और साहित्य में पुनर्जागरण का युग था, जब अतीत की गौरव-भावना के परिप्रेक्ष्य में नवजागरण की चेतना विकसित हो रही थी; अतः इसे 'पुनर्जागरण-काल' नाम दिया जा सकता है।
- किसी काल में साहित्य की विभिन्न परंपराओं के अंतर्गत प्रणीत साहित्य को धर्मोपदेश-परक, दार्शनिक अथवा सृजनात्मक साहित्येतर कहने मात्र से तत्कालीन विपुल साहित्य-राशि की महिमा को इतना व्याघात नहीं पहुँचता जितनी हानि उस काल में रचित समग्र साहित्य को पहुँचती है।

4.6 शब्दकोश (Keywords)

- औचित्य — उपयुक्तता
राजाश्रय — राजा के आश्रय में
वीरगाथा — वीरों की गाथा, वीरता का वर्णन

4.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

- संपूर्ण इतिहास का विभाजन कितने कालखंडों में किया गया है।
- 'आचार्य शुक्ल एक समर्थ समीक्षक व इतिहासकार थे।' इस कथन का विवेचन कीजिए।
- डॉ. गणपति चंद्र गुप्त ने मध्यकालीन हिंदी साहित्य की काव्य परंपराओं का उल्लेख किस प्रकार किया है?
- 10वीं सदी के मध्य से अब तक के आधुनिक काल का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- वर्ग-विभाजन
- अवसान
- विधा-क्रम
- 11वीं सदी
- (क)
- (ख)
- (ग)
- (घ)

4.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

- हिंदी साहित्य का सरल इतिहास - विश्वनाथ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन।
- हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - बाबू गुलाबराय, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन।

इकाई-5: हिंदी साहित्य का इतिहास : आदिकाल का नामकरण

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 5.1 वीरगाथा काल का नामकरण और पूर्वापर सीमा निर्धारण
- 5.2 आचार्य शुक्ल का वीरगाथा काल
- 5.3 देशी भाषा काव्य
- 5.4 सारांश (Summary)
- 5.5 शब्दकोश (Keywords)
- 5.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 5.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- वीरगाथा का को जानने में।
- देशी भाषा काव्य को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

काल की अविच्छिन्न धारा के समान साहित्यिक परम्पराएँ और प्रवृत्तियाँ निरंतर गतिशील रहा करती हैं। साहित्य में एक बार जो प्रवृत्ति उद्बुद्ध हो जाती है, उसमें अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण तीव्रता और मन्दता की प्रक्रिया का होना तो सहज विश्वसनीय है, किंतु उसका सर्वथा विलुप्त होना नितांत अकल्पनीय है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ विकास और ह्रास की प्रक्रिया से अनिवार्यतः संबद्ध है। उदाहरणार्थ, हिंदी साहित्य में रासो तथा वीरगाथात्मक रचनाएँ, भक्ति की विविध धाराओं से संबद्ध नाना कृतियाँ, रीतिपरक रचनाएँ, नीति तथा सूक्तिमयी उक्तियाँ और आधुनिक हिंदी साहित्य की विविधमुखी प्रवृत्तियाँ आदि किसी विशिष्ट काल में उद्भूत होकर काल के करालगर्त में सर्वथा निःशेष नहीं हो गई, बल्कि कालक्रमानुसार उनकी वृद्धि और क्षीणता की क्रिया सतत् बनी रही।

यद्यपि ज्ञान एक अद्वितीय और अखंड वस्तु है और उसका विभाजन कृत्रिम तथा अवैज्ञानिक व्यापार है, किंतु बोध सुकरता के लिए उसे कतिपय निश्चित खंडों, उपखंडों, शाखाओं एवं प्रशाखाओं में विभक्त कर लेने से अध्ययन में सरलता आ जाती है। किंतु यह स्मरण रखना होगा कि काल एवं खंड-विभाजन आदि स्वाभाविक और तर्कसंगत होना चाहिए जिससे साहित्य की समग्र प्रवृत्तियों के अवबोध के लिए यथेष्ट सहायता मिल सके। मनमाने कटघरों में, साहित्यिक ज्ञान एवं सामग्री को बरबस फिट करना साधक न होकर बाधक होगा।

आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य की सामग्री के अध्ययन के लिए इसे वीरगाथा काल (आदिकाल) सं. 1050-1375, भक्तिकाल (पूर्व मध्यकाल) सं. 1375-1700, रीतिकाल (उत्तर मध्यकाल) सं. 1700-1900 तथा आधुनिक काल (गद्य काल) सं. 1900 से अब तक चार कालों में विभक्त किया है। यद्यपि शुक्ल जी का उक्त काल-विभाजन विद्वानों के जगत में प्रायः मान्य है, किंतु हमारे विचारानुसार उक्त विभाजन पुनः समीक्ष्य है।

5.1 वीरगाथा काल का नामकरण और पूर्वापर सीमा निर्धारण

इसके नामकरण और पूर्वापर सीमा निर्धारण का प्रश्न हिंदी साहित्य के इतिहास के विवादास्पद प्रश्नों में एक प्रमुख प्रश्न है। हिंदी साहित्य के इतिहास के अनेक अधिकारी लेखक विद्वानों ने इस संबंध में अपने-अपने भिन्न मत दिये हैं। यहाँ हम विविध मतों के औचित्य और अनौचित्य का पर्यवेक्षण करके समस्या के समाधान को खोजने का प्रयास करेंगे।

सर्वप्रथम मिश्रबंधुविनोद ने अपने 'मिश्रबंधुविनोद' नामक ग्रंथ में विवेच्य काल को आदिकाल के नाम से पुकारा किंतु आचार्य शुक्ल ने इस युग में वीरगाथाओं की प्रमुखता को ध्यान में रखकर इसे 'वीरगाथा काल' के नाम से अभिहित किया। शुक्ल जी के नामकरण के संबंध में तीन प्रमुख बातों पर ध्यान देना आवश्यक होगा। पहली यह कि इस काल में वीरगाथात्मक ग्रंथों की प्रचुरता, दूसरी, जैनाचार्यों द्वारा विरचित प्राचीन ग्रंथों को धार्मिक साहित्य घोषित करके उसे रचनात्मक साहित्य की परिधि से निकाल देना और इसी प्रकार नाथों और सिद्धों की रचनाओं को शुद्ध साहित्य में स्थान न देना, तीसरी मुख्य बात उन रचनाओं की है जिनमें भिन्न-भिन्न विषयों पर फुटकर दोहे मिलते हैं, किंतु उनसे किसी विशेष प्रवृत्ति का निर्मित न हो सकना। आचार्य शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में वीरगाथाकाल का नामकरण करते समय निम्न रचनाओं का उल्लेख किया है—

- | | |
|------------------|--------------------------|
| 1. विजय पाल रासो | (नल्लसिंह कृत सं. 1350) |
| 2. हम्मीर रासो | (शार्ङ्गधर कृत सं. 1357) |
| 3. कीर्तिलता | (विद्यापति कृत सं. 1460) |
| 4. कीर्तिपताका | (विद्यापति कृत सं. 1460) |

(उपर्युक्त चारों पुस्तकें अपभ्रंश भाषा में हैं।)

देशी भाषा काव्य की आठ पुस्तकों का नाम निम्न हैं—

- | | |
|---------------------------|-----------------------------------|
| 5. खुमान रासो | (दलपति विजय सं. 1180-1205) |
| 6. बीसलदेव रासो | (नरपति नाल्ह सं. 1292) |
| 7. पृथ्वीराज रासो | (चंदबरदाई सं. 1225-1249) |
| 8. जयचंद्र प्रकाश | (भट्ट केदार कृत सं. 1225) |
| 9. जयमयंक जसचंद्रिका | (मधुर कवि कृत सं. 1240) |
| 10. परमाल रासो | (आल्हा का मूल जगनिक कृत सं. 1230) |
| 11. खुसरो की पहेलियाँ आदि | (अमीर खुसरो सं. 1230) |
| 12. विद्यापति पदावली | (विद्यापति कृत सं. 1460) |



नोट्स आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाओं की प्रमुखता को ध्यान में रखकर ही 'वीरगाथा काल' नाम दिया।

आचार्य शुक्ल का वीरगाथात्मक प्रवृत्ति की स्थापना के लिए उल्लिखित अपभ्रंश की प्रथम चार रचनाओं को परिगणित कर लेना असंगत है। कदाचित् शुक्ल की इस असंगति का कारण हिंदी और अपभ्रंश को अभिन्न रूप से ग्रहण करना है। वे अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखते हैं—“अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर मिलता है। मुंज और भोज के समय सं. 1050 के लगभग तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिंदी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में पाया जाता है।” इस प्रसंग में विचारणीय प्रश्न यह है कि यदि हमें अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहना ही है तो फिर सं. 700 में रचित अपभ्रंश काव्यों को हिंदी साहित्य क्यों न मान लिया जाए और फिर कालिदास की रचनाओं में जहाँ छुटपुट रूप में अपभ्रंश प्रयुक्त हुआ है, उसमें भी हिंदी साहित्य का अस्तित्व क्यों न स्वीकार कर लिया जाये। 'देशी भाषा' और पुरानी हिंदी की आड़ में समस्त अपभ्रंश साहित्य को हिंदी में समाविष्ट करने की मनोवृत्ति कदापि स्वस्थ नहीं कही जा सकती है। अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के समान हिंदी भाषा और उनके साहित्य का

नोट

प्रादुर्भाव भी ईसा की तेरहवीं शताब्दी में हुआ। आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकासक्रम तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से ऐसा मानना संगत भी है। यदि हम हिंदी के प्रति अनन्य मोह का प्रदर्शन करते हुए इसे आठवीं या ग्यारहवीं शताब्दियों में उद्भूत और विकसित मानते हैं तो इस संबंध में एक जटिल प्रश्न का उपस्थित होना स्वाभाविक है जब अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रादुर्भाव तेरहवीं शताब्दी में हुआ तो हिंदी का उदय आठवीं या ग्यारहवीं शताब्दी में कैसे और क्यों हुआ? संभवतः इस प्रश्न का उत्तर हमारे पास मीनमेख करने के सिवा और कुछ नहीं।

हिंदी के पूर्वरूपों की कल्पना के आधार पर अपभ्रंश साहित्य को बलात् हिंदी में समेट लेना हितकर नहीं है। हिंदी के इस प्रकार के पूर्वरूपों का आभास हमें प्राकृत लौकिक संस्कृत तथा वैदिक संस्कृत तक में मिल सकता है (विशेषतः हिंदी की तत्सम शब्दावली का)। कोई भी प्रचलित भाषा अपने समय में देशी भाषा या लोकभाषा हो सकती है। हाल की प्राकृत में प्रणीत गाथा सतसई तत्कालीन देशी भाषा में लिखी गई। अब्दुरहमान का संदेश रासक भी देशी भाषा या लोक-भाषा का काव्य है। गाथा सतसई की भाषा प्राकृत है और संदेशरासक की भाषा असंदिग्ध रूप से अपभ्रंश है। इस काल में रचित सिद्धों और जैनों के चरित काव्यों, रासो ग्रंथों, लोकप्रेम संबंधी खंड काव्य, संदेशरासक तथा नीति और उपदेशपरक नाथों की वाणियों की भाषा निश्चित रूप से अपभ्रंश है। अपभ्रंश के संक्रमण काल में उपलब्ध होने वाले क्वचित् हिंदी के पूर्व रूपों के आधार पर अपभ्रंश साहित्य को हिंदी या पुरानी हिंदी के अंतर्गत रखना नितांत अवैज्ञानिक है। अंग्रेजों के शासनकाल में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हमारे प्रयत्न सतत गति से चलते रहे किंतु भारत की वास्तविक स्वतंत्रता 1947 में ही मानी जायेगी। निःसंदेह स्वतंत्रता-प्राप्ति के निमित्त किये गये राष्ट्रीय आंदोलनों का अपना महत्त्व है किंतु वे आंदोलन स्वतंत्रता नहीं कहे जा सकते। हाँ, उन आंदोलनों ने स्वतंत्रता की पृष्ठभूमि अवश्य प्रस्तुत कर दी।

इसी प्रकार वस्तु स्थिति यह है कि अपभ्रंश और हिंदी दो भिन्न-भिन्न भाषाएँ हैं। इसके अतिरिक्त जिन रचनाओं में आचार्य शुक्ल को पुरानी हिंदी का रूप आभासित हुआ है, वे भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से शुद्ध अपभ्रंश की रचनाएँ हैं। दूसरे, आचार्य शुक्ल ने बीसलदेव रासो और खुमान रासो आदि ग्रंथों को पहले का रचित मान लिया है, जबकि वे 15वीं शताब्दी के बाद रचित सिद्ध हो चुके हैं। हमीर रासो और विजयपाल रासो की प्रामाणिकता संदिग्ध है। मोतीलाल मेनारिया का कहना है कि खुमान रासो के रचयिता को रावल खुमान (सं. 870) का समकालीन मानना गलत है। बीसलदेव रासो के रचयिता नरपति नाल्ह को मेनारिया ने गुजरात के नरपति नामक कवि से अभिन्न माना है जिसका समय सं. 1545 है। अपभ्रंशों ने हिंदी भाषा और साहित्य की पार्श्वभूमि अवश्य तैयार कर दी किंतु वे स्वयं हिंदी नहीं हैं। शार्द्धर कवि के हमीर रासो की रचना का आधार प्राकृत पैंगलम् में आये हुए कुछ पद्य हैं। यह ग्रंथ अभी तक आधा प्राप्य है। विजयपाल रासो को मिश्रबंधुओं ने सं. 1355 का ग्रंथ स्वीकार किया है। भाषा और शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ भी परवर्ती सिद्ध होता है। इसी प्रकार भट्ट केदार का जयचंद प्रकाश सं. 1225 और मधुकर कवि कृत 'जयमयंक जस चंद्रिका' (सं. 1240) ग्रंथ नोटिस मात्र है। 'राठोडों की ख्यात' नामक ग्रंथ में केवल उनका नामोल्लेख है, आज तक ये ग्रंथ उपलब्ध भी नहीं हुए। शिवसिंह सरोज में इन दोनों को शहाबुद्दीन गोरी के दरबार का कवि माना गया है। वस्तुतः जब तक ये दोनों पुस्तकें प्राप्त नहीं हो जातीं तब तक इनके संबंध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।



क्या आप जानते हैं? अब्दुरहमान का संदेश रासक भी देशी भाषा या लोकभाषा का काव्य है।

पृथ्वीराज रासो अर्द्ध-ऐतिहासिक रचना है। शुक्ल जी के अनुसार तो वह अप्रामाणिक ही है। जगनिक भट्ट का परमार रासो या आल्हाखंड अपने मूल रूप से बहुत दूर हो गया है। खयाल है कि यह ग्रंथ महाकवि तुलसी के समय में नहीं था अन्यथा अपने पूर्ववर्ती साहित्य की शैलियों के कुशल समन्वयकर्ता तुलसी इसकी सरस और रोचक शैली का कहीं-न-कहीं अवश्य अनुकरण करते। अस्तु! अधिक-से-अधिक हम इसे अर्द्ध-ऐतिहासिक या अर्द्ध-प्रामाणिक रचनाओं की कोटि में रख सकते हैं।

खुसरो की पहेलियों में प्रारंभिक हिंदी का स्वरूप अवश्य मिल जाता है परंतु उसमें वीरगाथाओं की कोई भी प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती।

रहे विद्यापति और उनके ग्रंथ कीर्तिलता, कीर्तिपताका और विद्यापति पदावली। आचार्य शुक्ल ने उनका रचना काल सं. 1460 स्वीकार किया है। बड़ा ही आश्चर्य है कि 83 वर्ष पूर्व समाप्त होने वाले वीरगाथा काल

में बेचारे विद्यापति को जबरदस्ती बिठा दिया गया। शुक्ल जी ने इसका कारण उनका अपभ्रंश में काव्य निर्माण करना बताया है, पर केवल इस आधार पर उन्हें पीछे धकेल देना असंगत है और यदि वह अभीष्ट था तो विद्यापति के परवर्ती अपभ्रंश भाषा में लिखने वाले कवियों को भी इस स्वनिर्मित कठघरे में बंद क्यों नहीं कर दिया गया। इसके अतिरिक्त विद्यापति के काव्य की प्रवृत्तियाँ वीरगाथा काल की अपेक्षा भक्ति और रीतिकालीन काव्य से अधिक साम्य रखती हैं। बीसलदेव रासो के शृंगार प्रधान प्रेमकाव्य की भाव धारा वीर रस को नहीं अपितु भक्ति और शृंगार को पुष्ट करती है, विषय उनका राधा कृष्ण है और शैली मुक्तक गीति की है। उनमें आश्रयदाता का शौर्य गान इतना अधिक नहीं उभर पाया है जितना कि राधाकृष्ण का शृंगारी चित्र। इससे सिद्ध होता है कि विद्यापति चंदबरदायी के साथी नहीं, प्रत्युत सूर और तुलसी, बिहारी की कक्षा में आते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शुक्ल जी ने जिन 12 ग्रंथों को आदिकाल के लक्षण-निरूपण एवं नामकरण के लिए चुना उनमें अधिकांश ग्रंथ संदिग्ध एवं अप्रामाणिक हैं, कुछ नोटिस मात्र हैं, और कुछ ग्रंथों को हठात् सम्मिलित करके भानमती का कुनबा जोड़ने का विफल प्रयास किया है। आचार्य शुक्ल ने जिन ग्रंथों के आधार पर वीरगाथात्मक प्रवृत्ति की जो मूल भित्ति तैयार की थी वह आज के नवीन अनुसंधानों के सामने बिलकुल खिसक चली है। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी पुस्तक 'हिंदी काव्यधारा' में बौद्ध; नाथ, सिद्धों और जैनियों की अनेक रचनाओं का संकलन किया है जो उपदेशमूलक और हठयोग की महिमा एवं क्रिया का विस्तार से प्रचार करने वाली रहस्यमूलक रचनाएँ हैं। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध सिद्धों की जिनमें सहजयान और वज्रयान के अनुयायियों की रचनाएँ आती हैं, का एक वृहद् प्रकाशन कराया है। इसके अतिरिक्त हिंदी में गोरखनाथ के नाम से प्रचलित अनेक रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। बहुत-सी रचनाएँ संस्कृत की हैं। इन पुस्तकों के अतिरिक्त हिंदी में भी गोरखनाथ की कई पुस्तकें पाई जाती हैं। स्वर्गीय डॉ. पीताम्बरदत्त बड़धवाल ने इन सबका प्रकाशन हिंदी साहित्य सम्मेलन से कराया था। यदि ये नवीन अनुसंधानों के फलस्वरूप उपलब्ध पुस्तकें आचार्य शुक्ल के सामने होतीं तो निश्चय था कि उन 12 तथाकथित वीरता-प्रवृत्तिमूलक रचनाओं के आधार पर वीरगाथाकाल के नामकरण की मान्यता न बनाते क्योंकि ये बारह रचनाएँ आज भी उपलब्ध आदिकालीन साहित्यिक सामग्री के सम्मुख आटे में नमक के बराबर भी नहीं हैं।

शुक्ल जी ने मिश्रबंधुओं द्वारा गिनाई गई दस पुस्तकों 'भगवद्गीता' तथा वृद्धनवकारादि धर्म को जैन धर्म से संबंधित कहकर उन्हें साहित्य की कोटि में नहीं रखा है। यहाँ पर भी शुक्ल कुछ भ्रांत ही रह गए हैं। ये पुस्तकें धार्मिक होते हुए भी साहित्यिक उदारता से शून्य नहीं हैं। आचार्य हजारीप्रसाद का इस संबंध में कहना है कि, "धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्य का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए, अन्यथा हमें संस्कृत की रामायण, महाभारत, भागवत एवं हिंदी के रामचरितमानस, सूरसागर आदि साहित्यिक सौंदर्य संवलित अनुपम ग्रंथ रत्नों को भी साहित्य की परिधि से बाहर रखना पड़ जायेगा।"

इन पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ अन्य अपभ्रंश भाषा की पुस्तकें प्राप्त हुई हैं जिनमें उच्च कोटि का उत्कृष्ट साहित्य उपलब्ध होता है। इनमें कुछ धर्म से संबद्ध हैं और कुछ लौकिक विषय प्रेमादि से। ये पुस्तकें संख्या में बहुत अधिक हैं जिनमें प्रमुख हैं—'संदेशरासक', 'भविष्यत कथा', 'पउम चरित', 'हरिवंश पुराण', 'जसहर चरित', 'पाहुड़ दोहा' आदि। ये पुस्तकें भी शुक्ल जी की दृष्टि में नहीं आई थीं अन्यथा वे एकान्तिक रूप से इस काल का नाम वीरगाथा काल न रखते। सच तो यह है कि आदिकालीन साहित्य को देखते हुए हम निश्चित और अंतिम रूप से किसी प्रवृत्ति की प्रधानता की ओर संकेत नहीं कर सकते। शायद ही भारत के इतिहास में इतने विरोधी व्याघातों का युग कभी आया होगा। इस काल में एक तरफ तो संस्कृत के बड़े-बड़े कवि उत्पन्न हुए जिनकी रचनाएँ अलंकृत काव्य परंपरा की चरम सीमा पर पहुँच गई थीं। दूसरी ओर, अपभ्रंश के कवि हुए जो अत्यंत सहज-सरल भाषा में अत्यंत संक्षिप्त शब्दों में अपने मार्मिक मनोभाव प्रकट करते थे। श्रीहर्ष के नैषधचरित के अलंकृत श्लोकों के साथ हेमचंद्र के व्याकरण में आये हुए अपभ्रंशों के दोहों की तुलना करने में यह बात अत्यंत स्पष्ट हो जायेगी कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी महान् प्रतिभाशाली आचार्यों का उद्भव इसी काल में हुआ और दूसरी तरफ निरक्षर संतों के ज्ञान प्रचार का बीज भी इस काल में बोया गया। यह काल भारतीय विचारों का मंथन काल है और इसलिए अत्यंत महत्वपूर्ण है।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. आचार्य शुक्ल ने विद्यापति का रचनाकाल स्वीकार किया है।
2. के शृंगार प्रधान प्रेमकाव्य की भावधारा वीररस को नहीं अपितु भक्ति और शृंगार को पुष्ट करती है।
3. पृथ्वीराजरासो रचना है।
4. की भाषा असंदिग्ध रूप से अपभ्रंश है।

5.2 आचार्य शुक्ल का वीरगाथा काल

आचार्य शुक्ल के इस वीरगाथा काल नामकरण पर उनके निजी असंतोष का आभास इनकी निम्न पंक्तियों में मिल जाता है—“इसी संक्षिप्त सामग्री को लेकर जो थोड़ा-बहुत विचार हो सकता है उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है।” वस्तुतः इस संदिग्ध सामग्री के आधार पर किया गया विवेचन कई जगह असंगत एवं दोषपूर्ण बन गया है, जिस पर अर्वाचीन शोध कार्य से प्राप्त नवीन तथ्यों के प्रकाश में पुनर्विचार करने की महती आवश्यकता है।

आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाओं का परिचय देते हुए कहा है कि इस काल के अधिकांश कवि चारण थे। संभव है, डॉ. रामकुमार वर्मा ने वीरगाथा काल को इसी आधार पर चारणकाल कहा। पर उनकी यह धारणा संगत नहीं कही जा सकती। इस विषय में डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त के विचार अवलोकनीय हैं। “पर आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं डॉ. वर्मा के इतिहास के नवीनतम संस्करण तक में इस काल की सीमाओं के अंतर्गत लिखी गई एक भी प्रामाणिक चारण कृति का उल्लेख नहीं है और साथ ही सं. 1715 तथा 1895 तक की रचनाओं को भी इस काल में सम्मिलित कर लिया गया है जबकि वह उसकी उच्चतम सीमा सं. 1375 ही स्वीकार करते हैं। यदि इन्हीं चारणों को साहित्य में विशेषता देनी ही थी तो चारणकाल के स्थान पर चारण काव्य शीर्षक दे देते तो भी ये असंगतियाँ नहीं आतीं।” अर्वाचीन अनुसंधानों से उपलब्ध आदिकाल की साहित्यिक सामग्री के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तत्कालीन साहित्य में चारण प्रवृत्ति आंशिक रूप से भले ही हो, किंतु उसकी प्रमुखता नहीं है जिसके आधार पर इस युग के साहित्य का नामकरण किया जा सके। हमारा विवेच्य काल अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियों के संक्रमण का युग है जिनका उल्लेख हम डॉ. हजारीप्रसाद के शब्दों में ऊपर कर चुके हैं।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने प्रस्तुत काल को ‘सिद्ध सामन्त युग’ के नाम से अभिहित किया है और उन्होंने उसकी पूर्वापर सीमाएँ 8वीं सदी से 13वीं तक निर्धारित की है। उन्हें इस काल के साहित्य में दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हुई हैं—सिद्धों की वाणी और सामंतों की स्तुति। सिद्धों की वाणी के अंतर्गत बौद्ध तथा नाथ सिद्धों की तथा जैन मुनियों की रूक्ष एवं उपदेशमूलक और हठयोग महिमा एवं क्रिया का विस्तार से प्रचार करने वाली रहस्यमूल रचनाएँ आती हैं। इसके अंतर्गत धार्मिक और आध्यात्मिक भाव-धारा से स्पंदित कुछ उत्कृष्ट जैन मतावलंबी कवियों की रचनाएँ नहीं आतीं। राहुल जी की सामन्तों की स्तुति नामक प्रवृत्ति में चारण कवियों के चरित काव्य आते हैं, जिनमें कवियों ने अपने आश्रयदाताओं का यशोगान किया है। इन काव्यों में युद्ध, विवाह आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। राहुल जी के इस नामकरण से लौकिक रस से अनुप्राणित अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचनाओं का कुछ भी आभास नहीं मिलता है। इस नामकरण से विवेच्य काल के साहित्य की समूची प्रवृत्तियों का भी बोध नहीं हो सकता। संदेशरासक, विद्यापति की पदावली, पउम चरित (रामायण) इत्यादि अनेक रचनाएँ जिनकी प्रवृत्तियों का परवर्ती साहित्य में विकास हुआ, उपेक्षित रह जाती हैं। सांकृत्यायन जी का यह नामकरण भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी असंगत है। उस काल को अपभ्रंश भाषा का पूर्ण यौवन काल कहा जा सकता है। इसमें हिंदी का कोई निश्चित रूप नहीं मिलता है। राहुल जी ने पुरानी हिंदी और अपभ्रंश को एक ही कह दिया है जो कि भ्रांति के सिवा और कुछ नहीं। राहुल जी अपनी पुस्तक ‘हिंदी काव्यधारा’ में एक स्थान पर लिखते हैं—“जब हम पुराने कवियों की भाषा को हिंदी कहते हैं तो उस पर मराठी, उड़िया, बंगला, आसामी, गोरखाली, पंजाबी, गुजराती भाषाभाषियों को आपत्ति हो सकती है। उन्हें भी उसे अपना कहने का उतना ही अधिकार है जितना हिंदी भाषाभाषियों को। वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में अपभ्रंशों से अलग होती दिखती हैं। वस्तुतः इन सिद्ध सामन्त युगीन कवियों की रचनाएँ उपर्युक्त सारी भाषाओं की सम्मिलित निधि हैं।”

राहुल जी के उक्त कथन में एक बड़ी आश्चर्यजनक असंगति है। एक ओर वे अपभ्रंश को सभी अन्य

भाषाओं की सम्मिलित निधि बताते हैं जो दूसरी ओर हिंदी का एक ऐसा आधिपत्य स्वीकार करते हैं कि उसे पुरानी हिंदी तक कह डालते हैं। हिंदी-प्रेम और भावुकता की दृष्टि से राहुल जी की पुरानी हिंदी संबंधी मान्यता एवं विश्वास भले ही ठीक हों परंतु भाषाशास्त्र की दृष्टि से इसे नितान्त असंगत ही कहना होगा।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत काल को 'बीजवपन काल' के नाम से अभिहित किया है परंतु यह नाम समीचीन दिखाई नहीं पड़ता। साहित्यिक प्रवृत्तियों की दृष्टि से इसे उक्त नाम से पुकारना असंगत है क्योंकि इस काल में प्रायः अपने पूर्ववर्ती साहित्य की सभी काव्य-रूढ़ियों और परंपराओं का सफलतापूर्वक निर्वाह हुआ है। साथ-साथ कुछ नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियों का भी उद्भव हुआ है जो अपने समुचित विकास रूप में हैं। उस काल के साहित्य पर Literature infancy or infancy in literature की उक्ति लागू नहीं हो सकती। उस समय का कलाकार अत्यंत सजग और उद्बुद्ध था।

इस दिशा में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का प्रयास कुछ सफल कहा जा सकता है। उन्होंने प्रस्तुत काल के साहित्य को अंतर्विरोधों का साहित्य कहा है। उन्होंने किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर इस काल के नामकरण को अनुपयुक्त ठहराया है और अंततः घूम-फिरकर इस काल को आदिकाल के नाम से पुकारा है जो इसी रूप में मिश्रबंधुओं द्वारा पहले ही प्रतिपादित हो चुका था, पर साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि “वस्तुतः हिंदी साहित्य का आदिकाल शब्द एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावापन्न, परम्पराविनिमुक्त काव्यरूढ़ियों से अछूते साहित्य का काल है। यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परंपरा प्रेमी, रूढ़िग्रस्त, सजग, सचेत कवियों का काल है।....यदि पाठक इस धारणा से सावधान रहे तो यह नाम बुरा नहीं है।” आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपर्युक्त शब्दों से स्पष्ट है कि ‘आदिकाल’ नाम भी उस समूह के साहित्य के लिए सर्वथा निर्भ्रांत एवं नितान्त उपयुक्त नहीं है। उनके ‘बुरी नहीं है’ शब्दों में अर्द्ध-स्वीकृति ही ध्वनित होती है। उनके ‘आदिकाल’ के नाम के साथ पाठक या श्रोता को चेतावनी के रूप में अपने मस्तिष्क में सदैव एक लंबा-चौड़ा वाक्य “वस्तुतः.....बुरा नहीं है।” वहन करना पड़ेगा अन्यथा भ्रांति की संभावना ज्यों की त्यों बनी रहेगी। इससे तो ‘हिंदी साहित्य का प्रारंभिक काल’ नामक शब्द उपयुक्त रहेगा जिससे किसी भ्रांत धारणा के फैलने की आशंका तो न होगी क्योंकि प्रत्येक प्रकार का साहित्य अपनी प्रारंभिक अवस्था में से गुजरकर आगे बढ़ा करता है। वस्तुतः सच तो यह है कि निरंतर कई वर्षों अथक परिश्रम के पश्चात् भी प्रस्तुत काल के नामकरण की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। इस संबंध में गहरी छानबीन और अनुसंधान कार्य की महती आवश्यकता है।

प्रस्तुत काल के साहित्य की पूर्वापर सीमा को निर्धारित करने का प्रश्न भी कुछ कम विवादास्पद नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इस काल का आरंभ सं. 1050 और अंत सं. 1375 है। शुक्ल जी की इस मान्यता का आधार कदाचित् उनका प्राकृताभास, अपभ्रंश एवं देशी भाषा को हिंदी मान लेना है। शुक्ल के बाद के इतिहास लेखकों ने अत्यंत श्रद्धा के साथ अनुकरण किया है। उन्होंने भी देशी भाषा काव्य को हिंदी भाषा काव्य के रूप में ग्रहण करके इस काल की सीमाएँ निर्धारित की हैं। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने तो 8वीं सदी के अपभ्रंशों को पुरानी हिंदी कहकर अपने सिद्ध सामन्त युग का आरंभ इसी काल से मान लिया और इस काल की अपर सीमा 13वीं सदी मानी। राहुल जी को यदि यही अभीष्ट है तो 8वीं सदी से पूर्व की शताब्दियों में रचित अपभ्रंश काव्यों को भी उन्हें हिंदी साहित्य में सम्मिलित कर लेना चाहिए था। इसके साथ-साथ उन्हें अपने काल की अपर सीमा भी 16वीं सदी तक खींचकर ले जानी चाहिए थी क्योंकि उस समय तक अपभ्रंश में किसी-न-किसी रूप में ग्रंथों का प्रणयन होता ही रहा है। इस संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपेक्षित सतर्कता और दक्षता से काम लिया है। उन्होंने अपभ्रंश और हिंदी को भिन्न रूप में समझा है और इन दोनों भिन्न भाषाओं को एक मानने वाले विद्वानों को सावधान भी किया है। उनका कहना है कि “यह विचार (अपभ्रंशों को पुरानी हिंदी कहना) भाषाशास्त्रीय और वैज्ञानिक नहीं है।” द्विवेदी जी आगे चलकर कहते हैं, “जहाँ तक नाम का प्रश्न है गुलेरी जी का सुझाव पंडितों को मान्य नहीं हुआ है। अपभ्रंश को अब कोई पुरानी हिंदी नहीं कहता परंतु जहाँ तक परंपरा का प्रश्न है निःसंदेह हिंदी का परवर्ती साहित्य अपभ्रंश साहित्य से क्रमशः विकसित हुआ है।” आचार्य द्विवेदी ने हिंदी का विकास लगभग 13वीं शताब्दी में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि “हेमचंद्र ने दो प्रकार की अपभ्रंश भाषाओं की चर्चा की है। दूसरी श्रेणी को हेमचंद्र ने ग्राम्य कहा है। वस्तुतः यह भाषा आगे चलकर आधुनिक देशी भाषाओं के रूप में विकसित हुई है।” द्विवेदी जी ने यहाँ आगे चलकर उस काल का परित्राण नहीं दिया है किंतु इसका तात्पर्य कम से कम एक शताब्दी भी लें तो हिंदी का विकास द्विवेदी जी की मान्यता के अनुसार हेमचंद्र

नोट

(1088 से 1172 ई.) के एक सौ वर्ष बाद अर्थात् लगभग 13वीं सदी ई. सिद्ध होता है। उपर्युक्त तथ्य का समर्थन अनेक प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों और विद्वानों द्वारा हो चुका है।

(क) **सुनीति कुमार**—“यह मालूम नहीं पड़ता कि यह हिंदी ठीक-ठीक कौन सी बोली थी परंतु संभव है कि यह ब्रजभाषा या पश्चात्कालीन हिंदुस्तानी के सदृश न होकर 13वीं सदी में प्रचलित सर्वसाधारण की साहित्यिक अपभ्रंश ही रही हो, क्योंकि 13वीं या 14वीं सदी ईस्वी तक हमें हिंदी या हिंदुस्तानी का दर्शन नहीं होता।”

—भारतीय आर्य भाषा और हिंदी, प्रथम सं., पृ. 190

(ख) **राहुल सांकृत्यायन**—“वस्तुतः ये सारी आधुनिक भाषाएँ 12वीं-13वीं शताब्दी में अपभ्रंश से अलग होती दिख पड़ती हैं।”

—हिंदी काव्यधारा पृ. 11-12

(ग) **उदय नारायण तिवारी**—“आचार्य हेमचंद्र के पश्चात् 13वीं सदी के प्रारंभ में आधुनिक भारतीय भाषाओं के अभ्युदय के समय 15वीं सदी के पूर्व तक का काल संक्रांति काल था, जिसमें भारतीय आर्य भाषाएँ धीरे-धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थीं।”

—हिंदी भाषा का उद्भव और विकास, पृ. 140-141

(घ) **नामवर सिंह**—“यह देश भेद धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि 13वीं शताब्दी तक जाते-जाते अपभ्रंश के सहारे ही पूर्व और पश्चिम के देशों ने अपनी-अपनी बोलियों का स्वतंत्र रूप प्रकट कर दिया।”

—हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, द्वि. सं., पृ. 54

(ङ) **बाबूराम सक्सेना**—“विद्यापति के समय में आधुनिक भाषाओं का हिंदी, मैथिली आदि नाम अभी प्रचलित नहीं हुआ था। भाषाएँ अभी अपभ्रंश ही कहलाती थीं। नहीं तो विद्यापति एक ही वस्तु को देसिल बना या अवहट्टा नहीं कहते।” आगे डॉ. सक्सेना ने कहा है—“कीर्तिलता के अपभ्रंश को मैथिली अपभ्रंश कहना उचित होगा।”

—कीर्तिलता विद्यापति कृत-भूमिका डॉ. बाबूराम सक्सेना, पृ. 19-20

उपर्युक्त मतों के अवलोकन के पश्चात् हम सहज रूप से एक निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिंदी का विकास ग्राम्य या लौकिक अपभ्रंश से तेरहवीं शताब्दी के लगभग निश्चित होता है। इस तथ्य का समर्थन एक और बात से भी हो जाता है, वह यह है कि संदेशरासक के कर्ता अब्दुर्रहमान (11वीं सदी) ने अपनी रचना में स्पष्ट रूप से कहा है कि वह एक ऐसी भाषा में रचना कर रहा है जो सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य हो। संदेशरासक की भाषा परिनिष्ठित: अपभ्रंशों की कोटि में आती है। यदि अपभ्रंशों से निकली हुई हिंदी आविर्भाव में आई होगी तो कम से कम एक-डेढ़ सदी के बाद ही। अतः आधुनिक आर्य भाषा हिंदी का अस्तित्व 13वीं सदी में स्वीकार करना नितान्त समीचीन प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में 1050 सं. में हिंदी का अस्तित्व और हिंदी साहित्य का विकास मानना सर्वथा भ्रांत है।

एक और बात भी बड़ी आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। वह यह है कि एक ओर तो **आचार्य हजारीप्रसाद हिंदी को ग्राम्य अपभ्रंशों का विकसित रूप मानते हैं** और भक्तिकाल के निरूपण के समय उसके साहित्य को वास्तविक हिंदी का साहित्य कहते हैं और दूसरी ओर वे हिंदी साहित्य का आरंभ 1050 से और आदिकाल की समाप्ति 1375 तक मान बैठते हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं, “दसवीं सदी से चौदहवीं शताब्दी तक के समय में लोक भाषा में लिखित जो साहित्य उपलब्ध हुआ है उसमें परिनिष्ठित अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा का रूप दिखाई देता है। दसवीं शताब्दी की भाषा के गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था परंतु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का ही एकछत्र राज्य था। चौदहवीं शताब्दी तक के साहित्य में इसी प्रवृत्ति की प्रधानता मिलती है।” आगे चलकर वे लिखते हैं—“दसवीं से चौदहवीं शताब्दी के उपलब्ध लोकभाषा साहित्य को अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न भाषा का साहित्य कहा जा सकता है। वस्तुतः वह हिंदी की आधुनिक बोलियों में से किसी-किसी के पूर्वरूप के रूप में ही उपलब्ध होता है। यही कारण है कि हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखक दसवीं सदी से ही इस साहित्य का आरंभ स्वीकार करते हैं। इसी समय से हिंदी भाषा का आदिकाल माना जा सकता है।” उक्त कथनों के अध्ययन के अनंतर यहाँ कुछ प्रासंगिक बातों का विचार कर लेना आवश्यक है। सबसे पहली बात तो यह है कि 10वीं या 11वीं शताब्दी की अपभ्रंश की किस रचना की पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है? मेरे विचार में निश्चित रूप से किसी भी प्रामाणिक रचना की ओर संकेत नहीं किया जा सकता है। दूसरी

बात यह है कि प्रस्तुत काल (दसवीं, ग्यारहवीं सदी) की किस अपभ्रंश रचना में तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है? उदाहरणार्थ 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' का नाम लिया जा सकता है जिसमें ब्रह्मचारियों के परस्पर वार्तालाप की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है। द्विवेदी जी स्वयं इस बात को स्वीकार करते हैं कि संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों के लिए संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक ही है। उस समय के जनसाधारण के लिए लिखे गये किसी भी काव्य में भाषा की उक्त दोनों प्रवृत्तियों का दर्शन नहीं होता है और यदि किसी ग्रंथ में छिटपुट रूप से एक-दो शब्द उक्त दोनों प्रवृत्तियों के अनुरूप मिल ही जायें तो उससे किसी भाषा के विकास का व्यापक प्रश्न हल नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं पर 'तितउ' जैसे प्राकृत भाषा के शब्द आये हैं परंतु उनके आधार पर प्राकृत भाषा का विकास वैदिक भाषा का समकालीन नहीं माना जा सकता है। भाषाएँ एक वृत्ताकार में रहकर यथाकाल अपने विकास की दिशाओं को खोजा करती हैं। तथाकथित पुरानी हिंदी का छिटपुट रूप भले ही अपभ्रंश भाषाओं के प्रयोग में मिलने लगा हो, किंतु यह तो सर्वथा निश्चित है कि वह उस समय तक साहित्यिक स्तर की भाषा नहीं थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

- आचार्य द्विवेदी ने हिंदी का विकास लगभग शताब्दी में स्वीकार किया है।
 (क) 13वीं (ख) 14वीं
 (ग) 15वीं (घ) 16वीं
- आचार्य हजारीप्रसाद को ग्राम्य अपभ्रंशों का विकसित रूप मानते हैं।
 (क) हिंदी (ख) उर्दू
 (ग) पंजाबी (घ) इनमें से कोई नहीं
- पउम चरित है।
 (क) महाभारत (ख) रामायण
 (ग) गीता (घ) इनमें से कोई नहीं
- आचार्य शुक्ल ने का रचनाकाल सं. 1460 स्वीकार किया है।
 (क) प्रेमचंद्र (ख) विद्यापति
 (ग) तुलसी (घ) बिहारी

5.3 देशी भाषा काव्य

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि 'देशी भाषा काव्य' नामक शब्द से इस काल-निर्धारण संबंधी भ्रांति को काफी पुष्टि मिली है। देशी भाषा से हमें उस समय की अपभ्रंश भाषा के लोकप्रचलित रूप को ग्रहण करना होगा। प्रत्येक भाषा की दो स्थितियाँ हुआ करती हैं। पहली स्थिति उसका लोकप्रचलित रूप (Dialects) और दूसरी है, उसका साहित्यिक रूप। वैदिक, प्राकृत, अपभ्रंश और आज की हिंदी सबकी दोनों स्थितियाँ रही हैं। साहित्यिक हिंदी का रूप कुछ और है और हिंदी की ग्रामीण बोलियों का रूप कुछ और। प्रत्येक काल की भाषा के लोकप्रचलित रूप के लिए देशी भाषा का प्रयोग किया जा सकता है। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में उस समय की लोकप्रचलित भाषा के लिए 'देशी भाषा' शब्द का प्रयोग किया है। दंडी ने अपने काव्यादर्श में तत्कालीन अपभ्रंश भाषाओं को देशी भाषा के नाम से अभिहित किया है। **अतः देशी भाषा से हमें अपभ्रंश को ग्रहण करना होगा** न कि हिंदी का। साहित्य नष्ट हो जाने की मनगढ़ंत कहानियों से शायद ही काम चले।

इस तथ्य को सभी भाषा वैज्ञानिक स्वीकार करते हैं कि अपभ्रंशों से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का जन्म हुआ। यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि सं. 1050 के निश्चित मुहूर्त में हिंदी का जन्म तो हो गया जबकि मराठी, बंगाली और गुजराती आदि आधुनिक आर्य भाषाओं का उद्भव नहीं हुआ, हालाँकि इन सब भाषाओं का

नोट

उत्स समान ही था। यदि दुर्जन-तोष-न्याय के अनुसार मान भी लिया जाये कि हिंदी का उदय 1050 संवत् में हुआ, तब भी उस समय की ऐसी कोई प्रामाणिक रचना उपलब्ध नहीं होती है जिसके आधार पर इस तथ्य की पुष्टि हो सके।

हिंदी साहित्य के आदिकाल का लक्षण-निरूपण करने में जो पुस्तकें सहायक सिद्ध होती हैं, वे निम्न हैं—

- | | |
|---------------------------------|-------------------------------------|
| (1) पृथ्वीराज रासो। | (2) परमाल रासो। |
| (3) विद्यापति की पदावली। | (4) कीर्तिलता। |
| (5) कीर्तिपताका। | (6) संदेशरासक—अब्दुर्रहमान कृत। |
| (7) पउम चरित—स्वयंभूकृत रामायण। | (8) भविष्यत कथा—धनपालकृत 10वीं सदी। |
| (9) परमात्माप्रकाश—जोइन्दु कृत। | (10) बौद्ध गान और दोहा। |
| (11) स्वयंभू छंद | (12) प्राकृत पैंगलम् |

उपर्युक्त पुस्तकों में से प्रायः सभी पुस्तकें अपभ्रंश में रचित हैं। इनमें से दसवीं या ग्यारहवीं सदी की कोई ऐसी रचना नहीं है जिनके आधार पर हिंदी के उद्भव की कहानी को पूरे रूप से कहा जा सके। हाँ, शालिभद्र सूरि की 'भरतेश्वर बलिराम' (रचनाकाल 1241 वि.) में हिंदी के भावी रूप को देखा जा सकता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बारहवीं शती के अंत में हिंदी के चिह्न मिलने लग गये होंगे। इस प्रकार हिंदी साहित्य के आदिकाल की पूर्वापर सीमा-निर्धारण का प्रश्न भी साहित्य जगत में अभी तक प्रश्नवाचक चिह्न (?) से युक्त है।



टास्क

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत काल को किस नाम से अभिहित किया है?

आदिकाल की समस्या के संबंध में डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त के विचार विशेष अवलोकनीय हैं—“आदिकाल की समस्या सुलझाने का एक ही मार्ग है। हम अपने वैयक्तिक पूर्वाग्रहों या दूराग्रहों को त्यागकर शुद्ध भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से पहले इस बात का निर्णय करें कि हिन्दी भाषा का उद्भव कब से होता है तथा फिर वे कौन-कौन सी प्रामाणिक रचनाएँ हैं जो भाषा की दृष्टि से प्रारंभिक हिन्दी के अंतर्गत रखी जा सकती हैं। इन रचनाओं के रचना काल एवं उनकी प्रवृत्तियों के आधार पर ही इस काल की सीमा एवं नामकरण का निर्णय किया जा सकता है।”

5.4 सारांश (Summary)

- सर्वप्रथम मिश्रबंधुओं ने अपने 'मिश्रबंधुविनोद' नामक ग्रंथ में विवेच्य काल को आदिकाल के नाम से पुकारा किंतु आचार्य शुक्ल ने इस युग में वीरगाथाओं की प्रमुखता को ध्यान में रखकर इसे 'वीरगाथा काल' के नाम से अभिहित किया।
- आचार्य शुक्ल ने वीरगाथाओं का परिचय देते हुए कहा है कि इस काल के अधिकांश कवि चारण थे। संभव है, डॉ. रामकुमार वर्मा ने वीरगाथा काल को इसी आधार पर चारणकाल कहा। पर उनकी यह धारणा संगत नहीं कही जा सकती।
- इस विषय में डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त के विचार अवलोकनीय हैं। “पर आश्चर्य की बात यह है कि स्वयं डॉ. वर्मा के इतिहास के नवीनतम संस्करण तक में इस काल की सीमाओं के अंतर्गत लिखी गई एक भी प्रामाणिक चारण कृति का उल्लेख नहीं है और साथ ही सं. 1715 तथा 1895 तक की रचनाओं को भी इस काल में सम्मिलित कर लिया गया है जबकि वह उसकी उच्चतम सीमा सं. 1375 ही स्वीकार करते हैं। यदि इन्हीं चारणों को साहित्य में विशेषता देनी ही थी तो चारणकाल के स्थान पर चारण काव्य शीर्षक दे देते तो भी ये असंगतियाँ नहीं आतीं।”
- अर्वाचीन अनुसंधानों से उपलब्ध आदिकाल की साहित्यिक सामग्री के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तत्कालीन साहित्य में चारण प्रवृत्ति आंशिक रूप से भले ही हो, किंतु उसकी प्रमुखता नहीं है जिसके आधार पर इस युग के साहित्य का नामकरण किया जा सके। हमारा विवेच्य काल अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियों के संक्रमण का युग है जिसका उल्लेख डॉ. हजारीप्रसाद कर चुके हैं।

5.5 शब्दकोश (Keywords)

नोट

- अकल्पनीय – कल्पना से परे
समाविष्ट – सम्मिलित, शामिल
विचारणीय – विचार करने योग्य

5.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. आचार्य शुक्ल ने हिंदी साहित्य के इतिहास में वीरगाथा काल का नामकरण करते समय किन रचनाओं का उल्लेख किया है?
2. पृथ्वीराज रासो कौन-सी कोटि की रचना है? विवरण दीजिए।
3. वीरगाथा काल को चारणकाल क्यों कहा जाता है? स्पष्ट कीजिए।
4. 'देशी भाषा' से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|-------------|-----------------|--------------------|--------------|
| 1. सं. 1460 | 2. बीसलदेव रासो | 3. अर्द्ध-ऐतिहासिक | 4. संदेशरासक |
| 5. (क) | 6. (क) | 7. (ख) | 8. (ख) |

5.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. हिंदी साहित्य का इतिहास – विजेन्द्र स्नातक, साहित्य अकादमी।
2. हिंदी साहित्य का इतिहास – डॉ. ईश्वरदत्त शील, आभारानी।
3. हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।

इकाई-6: हिंदी साहित्य का इतिहास : आदिकाल की परिस्थितियाँ

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 6.1 आदिकाल : युग की पृष्ठभूमि
- 6.2 सारांश (Summary)
- 6.3 शब्दकोष (Keywords)
- 6.4 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 6.5 संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आदिकाल की पृष्ठभूमि जानने में।
- आदिकाल की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियाँ जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

साहित्य मानव-समाज की भावात्मक स्थिति और गतिशील चेतना की अभिव्यक्ति है। अतः उसके प्रेरक तत्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्त्व है। किसी भी काल के साहित्येतिहास को समझने के लिए उस परिवेश को ठीक प्रकार से समझना अत्यन्त आवश्यक होता है। इसी दृष्टि से आदिकालीन साहित्य के इतिहास के साथ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों को जानना अपेक्षित है।

आदिकाल हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के परस्पर मिलन का काल है। हर्षवर्धन के समय हिन्दू संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति के चरम शिखर पर आरूढ़ हो चुकी थी। उसे राष्ट्रव्यापी एकता तथा जातीय गौरव प्राप्त हो चुके थे। संगीत, चित्र, मूर्ति एवं भवन-निर्माण आदि कलाओं में जातीय गौरव सर्वत्र अभिव्यक्त हो रहा था। विशेषतः सभी ललित कलाएँ धर्म से अनुप्राणित थीं। भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो, सोमनाथ बेलोर, कांची, तंजौर तथा आबू के भव्य मंदिर आदिकाल की अद्भुत विभूतियाँ हैं। अरब इतिहासकार अलबरूनी तथा महमूद गजनवी इन मन्दिरों की भव्यता, विशालता तथा धर्मानुप्राणता को देखकर आश्चर्यचकित रह गये थे।

6.1 आदिकाल : युग की पृष्ठभूमि

राजनीतिक परिस्थिति—भारतीय इतिहास का यह युग राजनीति की दृष्टि से अव्यवस्था, गृह-कलह और पराजय का युग है। एक ओर तो इस युग का क्षितिज विदेशी आक्रमणों के भयावह मेघों से आच्छादित रहा दूसरी ओर रजवाड़ों की पारस्परिक भीतरी कलह घुन के समान इसे खोखला करती रही। सम्राट हर्षवर्धन (सन् 605 से 643) के निधन के पश्चात् मानो एक प्रकार से उत्तरी भारत से केन्द्रीय शक्ति का ह्रास हो गया और राजसत्ता डावांड़ोल हो गई। 9वीं शताब्दी में प्रतिहार मिहिर भोज ने उसे फिर समेटा और सुव्यवस्था का क्षेत्र बनाया। उधर दक्षिण को राष्ट्रकूटों के साम्राज्य ने सम्भाल रखा था। इधर अरब में नवोदित इस्लाम ने सुदूर पश्चिम एशिया और

पश्चिम और पूर्व में अपने पैर पसारने चाहे, भले ही उसने बात की बात में मध्य एशिया और पश्चिम को रौंद और कुचल डाला पर वह अफगानिस्तान से आगे न बढ़ सका। अफगानिस्तान तब भारत के अन्तर्गत था। अब मुसलमानों ने सिंध को प्रवेश-द्वार बनाना चाहा और सन् 710-11 में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में सिंध पर धावा किया। सिंध का राजा दाहिर और उसके पुत्र तिल-तिल भूमि के लिए लड़े परन्तु अंत में हार गये। इस पराजय का कारण स्पष्ट है, वहाँ के जाटों ने ब्राह्मण राजा दाहिर के व्यवहार से असंतुष्ट होकर उस युद्ध में केवल उदासीनता ही नहीं दिखाई प्रत्युत आक्रमणकारियों का साथ दिया और वैयक्तिक स्वार्थ के लिए निज देश के हित को न्योछावर कर दिया। इसी प्रकार, सिंध के बौद्धों का इस आक्रमण के समय अपने ब्राह्मण राजा का साथ न देना भी इसी मनोवृत्ति को सूचित करता है। इस घटना से जनता की शासन के प्रति उदासीनता और राजनीतिक चेतना के हास का पता चलता है। फिर 739 ई. में तत्कालीन अरब सेनापति ने सिंध से कच्छ, दक्खिनी मारवाड़, उज्जैन और उत्तरी गुजरात को ध्वस्त कर लाट (दक्षिण गुजरात) में प्रवेश किया। वहाँ चालुक्य सेनापति ने अरब सेना का पूर्णतया संहार किया। अरब सिंध तक ही सीमित रहे। 9वीं सदी में वहाँ उनके छोटे-मोटे सरदार ही रह गए। 9वीं सदी तक मुसलमान पश्चिमोत्तर भारत में प्रवेश न कर सके क्योंकि उस समय वहाँ शक्तिशाली राज्य थे। इनमें काश्मीर के सम्राट ललितादित्य का विशिष्ट स्थान है।

उत्तरी भारत में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों में प्रतिहारों का राज्य बना रहा फिर भी उसके दूर के प्रान्त स्वतंत्र हो गये। इन नये राज्यों में विशिष्ट थे चेदि (दक्षिणी बुंदेलखंड), जुझौती (उत्तरी बुंदेलखंड), मालवा, गुजरात सांभर और गौड़। 9वीं शताब्दी में बुखारा के तुर्क आक्रमणकारियों से डरकर हिन्दू राजाओं ने काबुल से हटकर अटक के समीप उदभांडपुर (ओहिंद) को अपनी राजधानी बनाया। कुछ समय के बाद शाहि इसके स्वामी हो गए। 10वीं शताब्दी के अंत में गजनी का राज्य महमूद गजनवी के हाथ आया। उसने उक्त शाहि राज्य को बड़ी कठिनाता से जीता। फिर पंजाब और कांगड़ा को लिया और अन्तर्वेद पर चढ़ाई करके मथुरा और कन्नौज लूटे तथा कन्नौज को करद राज्य बनाकर ग्वालियर और कालिंजर को लूटा। इसके अनन्तर सौराष्ट्र पर चढ़ाई करके सोमनाथ मन्दिर से अपार धनराशि लूटी। जिन दिनों में महमूद के उत्तरी भारत में आक्रमण पर आक्रमण हो रहे थे, उन्हीं दिनों दक्षिण का चोल राजा राजेन्द्र पूर्व में अपने राज्य का विस्तार करने में व्यस्त था। उसने उड़ीसा, छत्तीसगढ़ और बंगाल तक को जीत लिया। महमूद के बाद मालवा के भोज और वेदि के कर्ण का प्रताप भी कम न था। उन्होंने कुरुक्षेत्र और कांगड़ा से तुर्क आधिपत्य का अंत कर दिया। यदि चोल राजा राजेन्द्र विदेशी आक्रांता महमूद गजनवी के प्रति अपनी शक्ति का प्रयोग करता तो निश्चय था वह इंच-भर भी भारत भूमि में न बढ़ पाता।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में दिल्ली में तोमर, अजमेर में चौहान और कन्नौज में गाहड़वालों के शक्तिशाली राज्य थे। 1150 में अजमेर के बीसलदेव चौहान ने तोमरों से दिल्ली ले ली और हांसी से लेकर हिमालय तक अपना राज्य फैला लिया और पंजाब से तुर्कों को पीछे धकेला।

गजनी में तुर्कों का अन्त करके शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भारत जीतने की ठानी। कई बार हारकर भी उसने हिम्मत न हारी। अजमेर का शक्तिशाली राजा पृथ्वीराज चौहान उस समय विदेशी आक्रमण के प्रति पूर्णतः जागरूक न था। जब गोरी ने गुजरात पर आक्रमण किया तब उसकी सेना अजमेर की पश्चिमी आबू तक जाकर लौट आई और गोरी को रोकने की ओर ध्यान न दिया बल्कि उसी समय उसने जुझौती के राजा परमार्दिदेव से युद्ध छेड़ा, जिसमें दो देशी राजाओं की शक्ति का अपव्यय हुआ। कन्नौज के राजा जयचन्द के षड्यंत्र के परिणामस्वरूप पृथ्वीराज चौहान मुहम्मद गोरी से पराजित हुआ और मारा गया। फिर कन्नौज और कालिंजर का पतन हुआ। दिल्ली में तुर्क सल्तनत स्थापित हुई और शनैः-शनैः उसका विस्तार हुआ। यद्यपि उसका विरोध करने वाले सर्वत्र रहे और डटकर वे उसके सरदारों से लोहा लेते रहे फिर भी मुस्लिम पताका प्रायः पूरे भारत में फहराने लगी।

राजनीतिक परिस्थितियों के सर्वेक्षण के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि हिन्दुओं में अपना राज्य फैलाने की लालसा लिये अनेक वीर थे किन्तु आक्रमण के समय अपने पड़ोसी राज्य से उदासीन रहे थे। उनमें संकुचित राष्ट्रीयता थी। अपने दस-पचास गाँवों को ही राष्ट्र समझते रहे। व्यापक रूप से समूचे भारत को राष्ट्र नहीं समझा। यही कारण है कि वैयक्तिक वीरता होते हुए भी उन्हें पराजित होना पड़ा। यदि सम्मिलित रूप से विदेशी आक्रमणों का सामना किया गया होता तो निश्चित रूप से भारत का मानचित्र आज कुछ और होता। उस समय सामन्तवाद का बोलबाला था। राजा को सर्वोपरि सत्ता के रूप में समझा गया और उचित-अनुचित आज्ञा पर मर मिटना अपना धर्म समझा गया। जनता में राजनीतिक चेतना का हास हो चुका था और वह अन्तःकलह, ईर्ष्या तथा द्वेष से बुरी तरह ग्रस्त हो चुकी थी। राजनीतिक दृष्टि से भारतीय इतिहास का यह काल पतन का काल कहा जाना चाहिए।



नोट्स गजनी में तुर्कों का अंत करके शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भारत जीतने की ठानी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. साहित्य मानव-समाज की भावात्मक स्थिति और की अभिव्यक्ति है।
2. सम्राट हर्षवर्धन का काल है-सन् 605 से।
3. में प्रतिहार मिहिर भोज में उत्तरी भारत को फिर समेटा और सुव्यवस्थित किया।
4. किसी भी काल के को समझने के लिए उस परिवेश को ठीक प्रकार से समझना आवश्यक होता है।

धार्मिक परिस्थितियाँ- इस काल में वैदिक और पौराणिक धर्म के विविध रूपों के साथ बौद्ध और जैन धर्म भी अपने वास्तविक आदर्शों से दूर हट गए। शंकराचार्य (वि. 845-877) के प्रबल प्रहारों से बौद्ध धर्म को अत्यधिक आघात पहुंचा और वह अब जंत्र-मंत्र-तन्त्र की सिद्धियों के चक्र में ही पड़कर रह गया। उसने महायान ब्रजयान और मन्त्रयान आदि कई रूप धारण किये। इन सम्प्रदायों का व्यावहारिक पक्ष बड़ा ही अनिष्टकारी सिद्ध हुआ। इन सम्प्रदायों में अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति और उनका प्रदर्शन ही सिद्धि समझा गया। सिद्धि लाभ के लिए गुप्त मंत्रों का जाप, आचारविहीन गुप्त क्रियाओं-विशेषकर निम्न वर्ग की नारियों से भोग-विलास आदि को अपनाया गया। इनकी योगिनियों के द्वारा मनुष्य की कामुकता को खूब बढ़ावा मिला। चमत्कार प्रदर्शनार्थ निरीह जनता को ठगने की प्रवृत्ति बढ़ी। नैतिक स्तर गिरा और धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार होने लगा।

बौद्धों के अतिरिक्त वैष्णवों के पांचरात्र, शैवों के पाशुपत, कालमुख कापालिक और रसेश्वरादि सम्प्रदायों में भी बौद्ध सम्प्रदायों की पूजा-पद्धति का अनुकरण होने लगा। शाक्तों में आनंद भैरवी, त्रिपुर सुन्दरी, ललितादि की अर्चना की यही प्रणाली है। जैन सम्प्रदाय में भी इसी तांत्रिक वामाचार पद्धति का प्रचार हुआ। इस प्रकार समाज का बहुत बड़ा क्षेत्र उस वामाचार एवं विकृत धर्म का क्रीड़ा-क्षेत्र बना। यह सारी प्रक्रिया समाज के निम्न वर्ग में चलती रही। बीच-बीच में समाज को इन वामाचारियों के चंगुल से बचाने के भी प्रयास होते रहे। नाथ योगियों ने बहुत-कुछ हद तक वज्रयानियों की तांत्रिक उपासना पद्धति को अपनाया किन्तु आगे चलकर गुरु गोरखनाथ ने इस सम्प्रदाय में योग की प्रतिष्ठा की जिसमें संयम और आचार के लिए महत्वपूर्ण स्थान है। इसी प्रकार तमिलनाडु के वैष्णव भक्त आलवार और शैवभक्त नायन्मार भक्ति के लोकहितकारी रूप को लेकर आये।

शंकर, रामानुज और निंबार्क आदि आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया किन्तु लोक-व्यवहार के लिए शिव और नारायण की उपासना में पद्धति चलाई। साथ ही नैष्ठिक हिन्दुओं में आचार-विचार, व्रत, पूजादि की वैसी वृद्धि हुई जैसी जैनों में। पुराने धर्म को मानने वालों ने वाम मार्ग की निंदा करने में कोई कसर नहीं उठा रखी थी और दूसरी ओर वाममार्गीयों ने अपनी पगड़ी उछालने में अति कर दी थी। निःसंदेह उस समय का धार्मिक वातावरण अत्यंत दूषित हो गया था। इस समय पुरोहितों और गुह्य भावना की प्रधानता थी।

अपभ्रंश में लिखित चौरासी सिद्धों और नाथपंथियों का साहित्य बौद्ध धर्म के विकृत सम्प्रदायों की क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का परिचय है। शंकर आदि आचार्यों के आंदोलन का प्रभाव आदिकालीन साहित्य पर विशेष रूप से नहीं पड़ा, भक्तिकालीन साहित्य पर पड़ा है।

इसी समय, इस्लाम धर्म भी अपने अनुयायियों की विजय प्राप्ति तथा आतंक के फलस्वरूप पनपने लग गया था पर इसका प्रभाव आदिकाल साहित्य पर नहीं पड़ा।

सामाजिक परिस्थितियाँ-जिस युग में धर्म और राजनीति की दीन-हीन दशा हो उसमें उच्च सामाजिकता की विशेष आशा नहीं की जा सकती है। अब जाति, गुण और कर्म के आधार पर न होकर वर्ण के आधार पर मानी जाने लगीं। एक जाति की अनेक उपजातियां होने लगीं। छुआछूत के नियम भी बड़े कड़े होते गये। हिन्दू जाति की पाचन शक्ति का प्रायः हास हो चुका था। अलबरूनी इस संबंध में लिखता है- “उन्हें (हिन्दुओं को) इस बात

की इच्छा नहीं होती कि जो वस्तु एक बार भ्रष्ट हो गई है उसे शुद्ध करके फिर ले लें।” उस समय के रूढ़िग्रस्त धर्म के समान समाज भी रूढ़िग्रस्त हो चुका था। उस समय सामन्ती वीरता और वंश-कुलीनता का बोलबाला था। राजपूत जाति की एक उल्लेखनीय विशेषता थी-वीरता और आत्मोत्सर्ग। राजपूत नारियाँ भी इस दिशा में किसी से पीछे नहीं रहीं, जौहर उनके आत्म-बलिदान और शौर्य का प्रतीक है। स्वयंवर-प्रथा उस युग की एक अन्य सामाजिक विशेषता थी। बड़े आश्चर्य की बात है कि कभी-कभी स्वयंवर जैसे पवित्र धार्मिक कृत्यों पर खून की नदियाँ बहा जाया करती थीं। राजपूत दृढ़प्रतिज्ञ स्वामिभक्त तथा ईमानदार थे किन्तु वे कूटनीतिज्ञ और दूरदर्शी नहीं थे। जहाँ उनमें युग के प्रति रुचि थी वहाँ उनमें भोग-विलास के प्रति भी खूब आसक्ति थी। उस समय के जनसामान्य में मनोबल की कमी थी। इस सामाजिक अवस्था का चित्र तत्कालीन हिन्दी साहित्य में पूर्णरूप से चित्रित हुआ है। तत्कालीन काव्यों के अध्ययन से उस समय की सामाजिक दशा के ह्रासोन्मुख होने का पता चलता है। राजाओं का जीवन विलासमय था। ऐश्वर्याभिभूत नृपति वर्ग का अधिकांश समय अन्तःपुर में अपनी महिषियों उपपत्नियों तथा रक्षिताओं के साथ रंगरेलियों में बीतता था। राजा बहुपत्नीक थे। राजकुमारों को राजनीति, व्याकरण तर्कशास्त्र, काव्यों, नाटक, वात्स्यायन-रचित कामशास्त्र, गणित, नवसर, मंत्र, तंत्र एवं वशीकरणादि की नानाविधियों की शिक्षा दी जाती थी। स्त्री के संबंध में उस समय के समाज की धारा कोई उच्च नहीं थी। उसे केवल भोग और विलास की सामग्री-मात्र समझा गया। बीसलदेव रासो की नायिका के करुण क्रन्दन में कदाचित् मध्ययुगीन रसिक पुरुष की वासना से अभिभूत तत्कालीन नारी-समाज का चीत्कार-ध्वनित हो उठा है-

अस्त्रीक जन्म कोई दीघउ महेस।

अवर जन्म धारई धणा रे नरेश।

साहित्यिक परिस्थितियाँ-निःसन्देह यह युग भीतरी कलहों और बाह्य संघर्षों का युग था। फिर भी इसमें संस्कृति का निर्माण होता रहा। ज्योतिष, दर्शन और स्मृति आदि विषयों पर टीकाएँ और टीकाओं पर भी टीकाएँ लिखी जाती रहीं। नाटक, कविता आदि के क्षेत्र में जहाँ पहले भवभूति और राजशेखर जैसे श्रेष्ठ साहित्यकार हुए वहाँ अब पांडित्य-प्रदर्शन और अलंकार-चमत्कार दिखाना ही कविकर्म समझा जाने लगा। बारहवीं शताब्दी में श्री हर्ष का ‘नैषध-चरित’ इस बात का प्रमाण है। धार का शासक भोज जहाँ स्वयं उच्चकोटि का विद्वान् था वहाँ कवियों का आश्रयदाता और पालक भी था। भोज के ‘सरस्वती कण्ठाभरण’ और ‘शृंगार प्रकाश’ संस्कृत काव्यशास्त्र की अमर निधियाँ हैं। राजा भोज की राजसभा में पद्मगुप्त और धनिक जैसे विद्वान् मौजूद थे, जयदेव जैसे सुकवि, कुन्तक, महिम भट्ट, क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र और विश्वनाथ जैसे तत्त्वविद् आचार्य और सोमदेव जैसे काव्यकार इसी समय में हुए। पर आदिकाल के हिन्दी साहित्य पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कल्हण (सन् 1149) ने राजतरंगिणी लिखकर एक नई दिशा में पग रखा। इस काल में निर्मित संस्कृत साहित्य को देखकर कहा जा सकता है कि शनैः शनैः उसमें नव-नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का हास होने लग गया था। उस समय अपभ्रंश और देशी भाषा में रचित रचनाओं में भी प्रायः यही बात है। इनमें अधिकतर धार्मिक विचार हैं। लगता है जैसे उन्हें दैनिक जीवन के घात-प्रतिघातों और राजनीतिक उथल-पुथल से कोई सरोकार नहीं था।

इस काल में वज्रयानी और सहजयानी सिद्धों, नाथपंथी योगियों, जैन धर्म के अनुयायी विरक्त मुनियों एवं गृहस्थ उपासकों और वीरता तथा शृंगार का चित्रण करने वाले चारणों, भाटों आदि की रचनाएँ विशेष रूप से हुई। कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने अन्य विषयों में कविताएँ कीं। इन सबका पृथक्-पृथक् रूप से आगे वर्णन किया जायेगा।



क्या आप जानते हैं? भोज की ‘सरस्वती कण्ठाभरण’ और ‘शृंगार प्रकाश’ संस्कृत काव्यशास्त्र की अमर निधियाँ हैं।

सांस्कृतिक परिस्थितियाँ-आदिकाल हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के परस्पर मिलन का काल है। हर्षवर्धन के समय हिन्दू संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति के चरम शिखर पर आरूढ़ हो चुकी थी। उसे राष्ट्रव्यापी एकता तथा जातीय गौरव प्राप्त हो चुके थे। संगीत, चित्र, मूर्ति एवं भवन-निर्माण आदि कलाओं में जातीय गौरव सर्वत्र अभिव्यक्त हो रहा था। विशेषतः सभी ललित कलाएँ धर्म से अनुप्राणित थी। भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो, सोमनाथ बेलोर, कांची, तंजौर तथा आबू के भव्य मंदिर आदिकाल की अद्भुत विभूतियाँ हैं। अरब इतिहासकार अलबरूनी तथा महमूद गजनवी इन मन्दिरों की भव्यता, विशालता तथा धर्मानुप्राणता को देखकर आश्चर्यचकित रह गये थे।

नोट



टास्क सम्राट हर्षवर्धन का निधन कब हुआ था?

यद्यपि अरब और फारस देशों में आठवीं-नवीं शताब्दी में सूफी मत का उदय हो चुका था, किन्तु भारत में उसके उदार स्वरूप का प्रवेश तब तक न हो सका था क्योंकि भारत में आने वाले मुस्लिम आक्रांता वर्ग तसव्वुफ की उदार भावना के समर्थक न थे। अतः दोनों संस्कृतियाँ तनाव की स्थिति में एक-दूसरे को संदेह व शंका की दृष्टि से देखती रहीं। इस काल में अब हिन्दू संस्कृति धीरे-धीरे मुस्लिम संस्कृति से प्रभावित होने लगीं। अब भारत के उत्सव, मेलों, त्योहारों, वेशभूषा, आहार, विहार तथा मनोरंजन आदि पर मुस्लिम रंग चढ़ने लगा। यहाँ के गायन वादन तथा नृत्य पर मुस्लिम छाप स्पष्ट है। भारतीय संगीत में सारंगी, तबला तथा अलगोजा जैसे वाद्यों का समावेश इसका स्पष्ट प्रमाण है। मुस्लिम बादशाहों के अनुकरण पर हिन्दू नरेशों के राजदरबारों में मुस्लिम कलाएँ प्रवेश पाने लगीं। मूर्तिकला को छोड़कर अन्य भारतीय ललित कलाओं में मुस्लिम कला की कलम गहरे रूप से प्रकट होने लगीं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. में तत्कालीन अरब सेनापति ने सिंध से कच्छ, दक्खिनी मारवाड़, उज्जैन और उत्तरी गुजरात को ध्वस्त कर लाट में प्रवेश किया।
 (क) 739 ई. (ख) 839 ई.
 (ग) 939 ई. (घ) इनमें से कोई नहीं
6. शताब्दी में दिल्ली में तोमर, अजमेर में चौहान और कन्नौज में गाहड़वालों के शक्तिशाली राज्य थे।
 (क) 10वीं-11वीं (ख) 11वीं-12वीं
 (ग) 14वीं-15वीं (घ) इनमें से कोई नहीं
7. में अजमेर के बीसलदेव चौहान ने तोमरों से दिल्ली ले ली और हांसी से लेकर हिमालय तक अपना राज्य फैला लिया।
 (क) 1150 (ख) 1250
 (ग) 1350 (घ) 1450
8. में बुखारा के तुर्क आक्रमणकारियों से डरकर हिंदू राजाओं ने काबुल से हटकर अटक के समीप उदभांडपुर को अपनी राजधानी बनाया।
 (क) 7वीं शताब्दी (ख) 9वीं शताब्दी
 (ग) 11वीं शताब्दी (घ) 12वीं शताब्दी

6.2 सारांश (Summary)

- उत्तरी भारत में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दियों में प्रतिहारों का राज्य बना रहा फिर भी उसके दूर के प्रान्त स्वतंत्र हो गये। इन नये राज्यों में विशिष्ट थे चेदि (दक्षिणी बुंदेलखंड), जुझौती (उत्तरी बुंदेलखंड), मालवा, गुजरात सांभर और गौड़। 9वीं शताब्दी में बुखारा के तुर्क आक्रमणकारियों से डरकर हिन्दू राजाओं ने काबुल से हटकर अटक के समीप उदभांडपुर (ओहिंद) को अपनी राजधानी बनाया। कुछ समय के बाद शाहि इसके स्वामी हो गए।
- 10वीं शताब्दी के अंत में गजनी का राज्य महमूद गजनवी के हाथ आया। उसने उक्त शाहि राज्य को बड़ी कठिनाता से जीता। फिर पंजाब और कांगड़ा को लिया और अन्तर्वेद पर चढ़ाई करके मथुरा और कन्नौज

लूटे तथा कन्नौज को करद राज्य बनाकर ग्वालियर और कालिंजर को लूटा। इसके अनन्तर सौराष्ट्र पर चढ़ाई करके सोमनाथ मन्दिर से अपार धनराशि लूटी।

नोट

- जिस युग में धर्म और राजनीति की दीन-हीन दशा हो उसमें उच्च सामाजिकता की विशेष आशा नहीं की जा सकती है। अब जाति, गुण और कर्म के आधार पर न होकर वर्ण के आधार पर मानी जाने लगीं। एक जाति की अनेक उपजातियाँ होने लगीं। छुआछूत के नियम भी बड़े कड़े होते गये। हिन्दू जाति की पाचन शक्ति का प्रायः हास हो चुका था।
- निःसन्देह यह युग भीतरी कलहों और बाह्य संघर्षों का युग था। फिर भी इसमें संस्कृति का निर्माण होता रहा। ज्योतिष, दर्शन और स्मृति आदि विषयों पर टीकाएं और टीकाओं पर भी टीकाएं लिखी जाती रहीं। नाटक, कविता आदि के क्षेत्र में जहां पहले भवभूति और राजशेखर जैसे श्रेष्ठ साहित्यकार हुए वहाँ अब पांडित्य-प्रदर्शन और अलंकार-चमत्कार दिखाना ही कविकर्म समझा जाने लगा।
- बारहवीं शताब्दी में श्री हर्ष का 'नैषध-चरित' इस बात का प्रमाण है। धार का शासक भोज जहां स्वयं उच्चकोटि का विद्वान था वहां कवियों का आश्रयदाता और पालक भी था। भोज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' और 'शृंगार प्रकाश' संस्कृत काव्यशास्त्र की अमर निधियाँ हैं।

6.3 शब्दकोश (Keywords)

भावात्मक — भाव से युक्त
लोकहितकारी — लोकहित करने वाला
आचारविहीन — आचार से रहित

6.4 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. आदिकाल की राजनीतिक पस्थितियों का उल्लेख कीजिए।
2. राजा भोज की राजसभा में कौन-कौन से विद्वान और कवि थे? वर्णन कीजिये।
3. 'आदिकाल हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियों के परस्पर मिलने का काल है।' इस पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|-----------------|-----------|---------------------|------------------|
| 1. गतिशील चेतना | 2. 643 तक | 3. 9वीं शताब्दी में | 4. साहित्येतिहास |
| 5. (क) | 6. (ख) | 7. (क) | 8. (ख) |

6.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।
2. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास – विश्वनाथ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन।
3. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – बाबू गुलाबराय, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन।

इकाई-7: हिंदी साहित्य का इतिहास : आदिकाल की प्रवृत्तियाँ

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 7.1 आदिकालीन साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ
- 7.2 सिद्ध साहित्य
- 7.3 रीति पर विविध प्रभाव
- 7.4 नाथ-साहित्य
- 7.5 जैन-साहित्य
- 7.6 आदिकाल की वीरगाथाओं की विशेषताएँ
- 7.7 रासो तथा डिंगल एवं पिंगल
- 7.8 सारांश (Summary)
- 7.9 शब्दकोष (Keywords)
- 7.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 7.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियाँ जानने में।
- आदिकाल की वीरगाथाओं की विशेषताएँ जानने में।
- जैन साहित्य, नाथ साहित्य, सिद्ध साहित्य तथा रासो आदि से परिचित होंगे।

प्रस्तावना (Introduction)

हिन्दी के आदिकालीन साहित्य का कथ्य जहाँ अपने आपमें मनोरम है वहाँ उसका शिल्प विधान अतीव आकर्षणमय है। इस साहित्य में शिल्प विधान के अंतर्गत छन्द प्रयोग क्षेत्र में तो एक महाक्रांति का सूत्रपात हुआ। इस काल के छन्द प्रयोग की सबसे बड़ी उल्लेखनीय बात यह रही है कि इनका उपयोग कहीं भी चमत्कार प्रदर्शनार्थ नहीं हुआ बल्कि इनका सदुपयोग पाठक व श्रोता की बदलती हुई चित्तवृत्ति की अनुरूपता में किया गया है। छन्दों का जितना विविधमुखी प्रयोग इस साहित्य में हुआ है उतना इसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं हुआ। इस विषय में निश्चय ही जायसी व तुलसी आदि प्रबंध काव्यकार इस साहित्य के ऋणी हैं। कथानक और काव्य रूढ़ियाँ शिल्प विधान का एक महत्वपूर्ण अंग हैं जिनका हम ऊपर दिशानिर्देश कर चुके हैं। इनका प्रयोग काव्य की एक विशिष्ट संस्कृति का सूचक है। महाकवि तुलसीदास द्वारा अपनायी गई संवाद-शैली इसका एक सुंदर उदाहरण है।

7.1 आदिकालीन साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

आदिकाल का संक्रमणकालीन साहित्य विषय वस्तुगत नाना प्रवृत्तियों तथा काव्य रूपगत सम्पदा की विविध पद्धतियों की दृष्टि से वस्तुतः विविधमुखी है। कथ्य एवं शिल्प विधान के दृष्टिकोण से इस काल का साहित्य अपने समकालीन संस्कृत साहित्य से निश्चयतः आगे रहा है। इसमें एक ओर जहाँ नाना सम्प्रदायगत धर्म व वैराग्य का विवेचन हुआ है वहाँ दूसरी ओर इसमें शृंगार रस की अजस्र धारा अदम्य वेगमयी वीर रस की जीवन्त धारा से समवेत होती दिखाई पड़ती है। साथ-साथ इसमें जनमानस की आवश्यकता के पूर्तिकारक लोकानुरंजनकारी साहित्य का प्रणयन हुआ। राज्याश्रय, लोकाश्रय तथा धर्माश्रय में प्रणीत आदिकालीन साहित्य ने आगामी हिन्दी साहित्य के लिए एक सशक्त पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी। उक्त साहित्य का विषय-वस्तु शिल्प विधानगत प्रवृत्तियों के विकास की दृष्टि के निरूपण निम्नस्थ है—

(1) **आदिकालीन साहित्य और पूर्व-परम्परा**—हम पहले संकेत कर चुके हैं कि हिन्दी का आदिकालीन साहित्य संक्रमणकालीन साहित्य है। यह संस्कृत व अपभ्रंश भाषा के साहित्यों के समानान्तर प्रणीत हुआ। अतः इसका समसामयिक काव्यधाराओं और तत्संबंधी पूर्ववर्ती काव्य परम्पराओं से प्रभावित होना अनिवार्य था। कदाचित् इसी प्रभावाधिक्य को लक्षित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे अपभ्रंश साहित्य का बढ़ावा कहा है। छन्द, काव्यात्मक रूप, विषयवस्तु, काव्य रूढ़ियों और परंपराओं की दृष्टि से इस काल का साहित्य, अपभ्रंश साहित्य से प्रचुर मात्रा में प्रभावित हुआ है। किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इसमें पूर्ववर्ती काव्य परंपराओं का मात्र अनुपालन ही हुआ है। इसके विपरीत उस समय की प्राणवान हिन्दी भाषा में तत्कालीन प्रबुद्धचेता हिन्दी साहित्यकार की विकासोन्मुख प्रतिभा का सम्यक् उन्मेष हुआ है, जिसने भावी हिन्दी साहित्य की नानाविध परम्पराओं के लिए एक सुनियोजित मार्ग को प्रशस्त किया।



नोट्स आदिकाल का संक्रमणकालीन विषय वस्तुगत नाना प्रवृत्तियों तथा काव्य रूपगत संपदा की विभिन्न पद्धतियों की दृष्टि से वस्तुतः विविधमुखी है।

(2) **कथ्य प्रतिपादन**—इस साहित्य का सुसुजन एक व्यापक पटभूमि को आधार बनाकर हुआ। इसमें नाथों, सिद्धों व जैन सम्प्रदायों की सात्त्विक धर्म मनोवृत्तियों का विशद चित्रण हुआ। रासो काव्यों तथा अन्य शृंगारपरक ग्रन्थों में शृंगार रस की सहज सरलता व हृदयग्राही सहिष्णुता विद्यमान है। तत्कालीन वीरगाथाओं में जहाँ वीर रस की उच्छल कल्लोलिनी है, वहाँ उनमें आश्रयदाताओं का उद्दाम यशोगान भी है। खुसरो आदि कवियों का लोकानुरंजनकारी साहित्य अविस्मरणीय है। इस काल के कलाकार ने जीवन के जिस भी पक्ष को लिया है, उसके साथ अपना पूरा तादात्म्य स्थापित करते हुए उसे मूर्तिमान कर दिया है।

(3) **क्रमात्मक प्रवृत्त्यात्मक विकास**—इस काल के साहित्य में चित्रित काव्यात्मक प्रवृत्तियाँ आगामी हिन्दी साहित्य में क्रमशः उत्तरोत्तर विकसित हुईं। आदिकाल के साहित्य में नारी के प्राकृत शृंगार से लेकर उसके मानसिक सौन्दर्य तक पहुँचने की प्रवृत्ति प्रबल वेग से उभरी। प्रेम-काव्यों की कथानक रूढ़ियों व परम्पराओं का परम्परागत वर्णन जैसे—नखशिख, दूती-सम्प्रेषण, सन्देश या कामलेख का भेजना, प्रेमी-प्रेमिका के मिलन, दैवी-शक्तियों का हाथ, नायक-नायिका का किसी मन्दिर अथवा खंडहर में मिलन-आयोजन, संवादों के रूपों में शुक-शुकी तथा सारिका आदि का प्रयोग तथा उनके द्वारा प्रेम के रहस्य का उद्घाटन, स्वकीया व परकीया के प्रेम के नाना प्रकारों का चित्रण तथा प्रेमकाव्यों में विद्यमान अन्य अनेक काव्य रूढ़ियों का नियोजन आदि। भक्ति व रीतिकाल के साहित्यों में विद्यापति के माध्यम से शृंगारी प्रवृत्तियों का संवेग प्रस्फुटन, एक ऐतिहासिक सत्य है। रीतिकालीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों—शृंगार की प्रधानता, आश्रयदाताओं का प्रशस्तिगान, नारी का नखशिख वर्णन, अलंकरणप्रियता, मुक्त काव्योचित नाना छन्दों का उपयोग आदि पर उक्त काल के साहित्य का क्रमागत परम्परा-प्रभाव स्पष्ट है। कबीर आदि निर्गुण संतों के साहित्य की सम्यक् अवधारणा के लिए आदिकाल के सिद्धों और नाथों की वैचारिक मान्यताओं का पुष्टिज्ञान आवश्यक है। आदिकाल में रचित धार्मिक चरित काव्यों व कथाओं ने जायसी और तुलसी की सृजन-प्रक्रिया व कृतियों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित किया है। मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की मूल केन्द्रबिन्दु नारी, अपनी नाना भूमिकाओं में आदिकाल के जैन, रासो व लोक साहित्य से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित होती रही है।

नोट

(4) **काव्य व उपनाम लेखन**—काव्य या कवितांश के अनुकरण की आशंका से काव्य में कदाचित् उपनाम लेखन की प्रथा का प्रचलन हुआ होगा। यह प्रथा मध्यकालीन भारतीय साहित्य की सभी भाषाओं के काव्यों में दृष्टिगोचर होती है। उर्दू साहित्य में तो अद्यावधि भी इसका प्रचलन है। हिन्दी साहित्य के आदिकालीन काव्यों तथा अपभ्रंश साहित्य के काव्यों-विशेषतः मुक्तक काव्य में कवि के नाम-उपनाम उल्लेख की प्रथा मौजूद थी। हिन्दी में इस प्रथा का पालन भक्तिकाल और रीतिकाल के साहित्यों में दृढ़तापूर्वक हुआ।

(5) **प्रकृति निरूपण**—इस काल के साहित्य में वस्तु-वर्णन के अंतर्गत प्रकृति-चित्रण की दोनों पद्धतियों—आलंबन व उद्दीपन को अपनाया गया। इसके अतिरिक्त उक्त साहित्य में कहीं पर प्रकृति वर्णनों की परिगणन शैली भी दृष्टिगोचर होती है। इस साहित्य के प्रणेता ने विभिन्न प्राकृतिक वर्णनों के साथ मानव जीवन की रागात्मकता का भी कलात्मक अभिव्यंजन किया है। इस साहित्य के प्रकृति निरूपण के उभयरूप आलंबन व उद्दीपन परवर्ती हिन्दी साहित्य न देखे जा सकते हैं। इसके महाकाव्यों का वस्तुवर्णन हिन्दी के मध्यकालीन परवर्ती साहित्य में अनुकरणीय बना रहा। प्रकृति-वर्णन की परिगणन शैली जायसी के पद्मावत तथा अन्य वर्णक-काव्यों में अवलोकनीय है।



क्या आप जानते हैं

भक्ति व रीतिकाल के साहित्यों में विद्यापति के माध्यम से शृंगारी प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हुआ।

(6) **कलात्मक अभिव्यंजन**—इस समय के कवि की प्रतिभा का विस्तार नानाविध विषयों तक था जिसका उसने कौशलपूर्वक अभिव्यंजन किया है। चाहे वह धर्माश्रयी नाथों-सिद्धों का दुरूह हठयोगात्मक साहित्य हो, चाहे वह लोकाश्रयी खुसरो का पहेली-मुकरीमय अनुरंजनात्मक साहित्य हो, चाहे वे वीर रस की ओजस्विनी रचनायें हों, किंवा ललितांगना के मनोमुग्धकारी लावण्यमय-शृंगारी वर्णन हो, सर्वत्र उस समय के साहित्यकार ने अपनी परिष्कृत साहित्यिक अभिव्यक्ति का परिचय दिया है।

(7) **अभिव्यक्ति-शैलियां-डिंगल व पिंगल**—उस युग के साहित्यकार ने तत्कालीन हिन्दी भाषा की प्रचलित दोनों शैलियों का अभिव्यक्ति के क्षेत्र में कलात्मक प्रयोग किया है। कतिपय विद्वानों ने डिंगल व पिंगल को दो विभिन्न भाषाओं के रूप में स्वीकार किया है जो कि भ्रामक है। ये दोनों संस्कृत की पांचाली तथा गौड़ी आदि रीतियों तथा आरभटी और सात्वती आदि वृत्तियों के समान उस मसय की हिन्दी भाषा की दो शैलियां मात्र थीं।

(8) **काव्यगत रूप**—कथ्य की आदिकालीन साहित्य में काव्य के अनेक रूपों-रासो काव्य, चरित काव्य, मुक्ति काव्य, हठयोगात्मक रचनाओं एवं फुटकर पद आदि अनेक रूपों में अभिव्यक्ति मिली है। तत्कालीन साहित्य को अपने पूर्ववर्ती व समकालीन संस्कृत व अपभ्रंश साहित्य में प्रयुज्यमान काव्यरूप एक रिक्थ के रूप में प्राप्त हुए, जिनका विकास हिन्दी में समुचित दिशा में हुआ। उस समय में हिन्दी में गद्य का अतीव विरल रूप था।

(9) **शिल्प विधान**—हिन्दी के आदिकालीन साहित्य का कथ्य जहाँ अपने आपमें मनोरम है वहाँ उसका शिल्प विधान अतीव आकर्षणमय है। इस साहित्य में शिल्प विधान के अंतर्गत छन्द प्रयोग क्षेत्र में तो एक महाक्रांति का सूत्रपात हुआ। इस काल के छन्द प्रयोग की सबसे बड़ी उल्लेखनीय बात यह रही है कि इनका उपयोग कहीं भी चमत्कार प्रदर्शनार्थ नहीं हुआ बल्कि इनका सदुपयोग पाठक व श्रोता की बदलती हुई चित्तवृत्ति की अनुरूपता में किया गया है। छन्दों का जितना विविधमुखी प्रयोग इस साहित्य में हुआ है उतना इसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं हुआ। इस विषय में निश्चय ही जायसी व तुलसी आदि प्रबंध काव्यकार इस साहित्य के ऋणी हैं। कथानक और काव्य रूढ़ियां शिल्प विधान का एक महत्वपूर्ण अंग हैं जिनका हम ऊपर दिशानिर्देश कर चुके हैं। इनका प्रयोग काव्य की एक विशिष्ट संस्कृति का सूचक है। महाकवि तुलसीदास द्वारा अपनायी गई संवाद-शैली इसका एक सुंदर उदाहरण है।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि हिन्दी का आदिकालीन साहित्य कथ्य और अभिव्यंजना कौशल की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न बन पड़ा है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. हिंदी का साहित्य संक्रमणकालीन साहित्य है?
2. रासो काव्य तथा अन्य शृंगारपरक ग्रंथों में की सहज सरलता व हृदयग्राही सहिष्णुता विद्यमान है।
3. वीरगाथाओं में जहाँ की उच्छल कल्लोलिनी है, वहाँ उनमें आश्रयदाताओं का यशोगान भी है।
4. खुसरो आदि कवियों का लोकानुरंजनकारी साहित्य है।

7.2 सिद्ध साहित्य

भारतीय साधना के इतिहास में 8वीं सदी में सिद्धों की सत्ता देखी जा सकती है। सरहपा का समय 817 उहरता है। ये सिद्ध कौन थे इस संबंध में भी विचार कर लेना आवश्यक है। सिद्ध परंपरा को बौद्ध धर्म की घोर विकृति मानना चाहिए। बुद्ध का निर्वाण 483 ई.पू. में हुआ। बुद्ध-निर्वाण के 45 वर्ष पश्चात बौद्ध धर्म के सिद्धांतों का खूब प्रचार हुआ। इस धर्म की विजय-दुन्दुभि देश तथा विदेशों में बजती रही। बौद्ध धर्म का उदय वैदिक कर्मकाण्ड की जटिलता एवं हिंसा की प्रतिक्रिया रूप में हुआ। यह धर्म सहानुभूति और सदाचार के मूल तत्वों पर आधारित था।

ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म महायान तथा हीनयान दो शाखाओं में विभाजित हुआ। हीनयानी छोटे रथ के आरोही थे और महायानी बड़े रथ के आरोही। हीनयान शब्द का प्रयोग महायान सम्प्रदाय वालों की ओर से व्यंग्यात्मक रूप से हुआ। हीनयान में सिद्धांत पक्ष का प्राधान्य रहा जबकि महायान में व्यावहारिकता का। महायान वाले अपनी गाड़ी में ऊंचे-नीचे, छोटे-बड़े, गृहस्थी-संन्यासी सबको बैठा कर निर्वाण तक पहुंचा सकने का दावा करते थे। हीनयान केवल विरक्तों और संन्यासियों को आश्रय देता था। इसमें ज्ञानार्जन, पांडित्य और व्रतादि की प्रधानता बनी रही। महायान वैष्णवों की भक्ति से अत्यंत प्रभावित हुआ और इसका व्यावहारिक पक्ष शंकर के ज्ञान कांड से जुड़ गया।

वैसे तो गुप्त नरेशों के समय में बौद्ध धर्म को आघात पहुँच चुका था किंतु आठवीं सदी में कुमारिल भट्ट तथा शंकराचार्य ने इसकी जड़ें तक हिला दीं। बड़े आश्चर्य की बात है कि भारत का धर्म भारत से निर्वासित हो गया। तिब्बत, नेपाल और बंगाल में इसे शरण मिली। अब यह धर्म शैव धर्म से प्रभावित हुआ और इसने जनता को अपने आश्रय में लाने के लिए तन्त्र-मन्त्र एवं अभिचार का आश्रय लिया। जो धर्म वैदिक धर्म की कर्मकांड की उलझनों की प्रतिक्रिया में उठा था **वही समाधि, जन्म-मन्त्र, डाकिनी-शाकिनी, भैरवी-चक्र, मद्य-मैथुन में उलझ गया और सदाचार से हाथ धो बैठा।** जिस धर्म ने ईश्वर का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं किया था, कालांतर में उसी में बुद्ध की भगवान के रूप में पूजा होने लगी और आगे चलकर तंत्र ने इस धर्म को अपनी मूल दिशा से एकदम नई राह में मोड़ दिया। अब इसमें **त्याग और संयम का स्थान भोग और सुख** ने ले लिया। निवृत्तिपरायण धर्म में प्रवृत्ति प्रबल हुई और साधक 'सर्वतथागतात्मकोऽहं' जैसे मंत्रों ने ले लिया। इस प्रकार **महायान मन्त्रयान बन गया।** आगे चलकर इसके भी दो टुकड़े हो गए, वज्रयान तथा सहजयान जो सचमुच अपनी गाड़ी को इतना मजबूत और सहज बना सके कि उसमें पांडित्य और कृच्छ्र साधना का कोई महत्व नहीं रहा। आगे चलकर वाम मार्ग भी इसी से निकला जो विकृत अवस्था का एक हीन चित्र है।

मन्त्रों द्वारा सिद्धि चाहने वाले सिद्ध कहलाये। उत्तरी भारत में शंकर के मत के प्रचार से बौद्ध धर्म के लिए केवल दक्षिणी भारत में स्थान रह गया था। आन्ध्र नरेश से इन्हें पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। श्रीपर्वत सिद्धों का प्रधान था। 'मन्जुश्री' और 'मूलकल्प' नामक ग्रंथ यहीं लिखे गए। राजशेखर की 'कपूरमंजरी' पर सिद्धों का स्पष्ट प्रभाव है। पाल शासकों ने बंगाल और बिहार पर अपना आधिपत्य जमा लिया था अतः सिद्धों का प्रचार वहाँ भी हुआ। वहाँ इनकी मगही भाषा में रचनाएँ मिलती हैं। 'विक्रमशिला' बौद्ध विश्वविद्यालय की स्थापना भी इसी काल में हुई। इन सिद्धों के बंगाल और बिहार में अत्यधिक प्रचार के कारण कदाचित **बंगाल का जादू प्रसिद्ध हो सका।**

यद्यपि वज्रयानी परंपरा को लेकर इन सिद्ध कवियों ने सिद्धांतों का प्रतिपादन किया किन्तु इन सिद्धों में विशेष बात यह थी कि वे ईश्वरवाद की ओर अग्रसर हो रहे थे। इन्होंने गृहस्थ जीवन पर बल दिया। इसके लिए स्त्री का सेवन, संसार रूपी विषय से बचने के लिए था। जीवन के स्वाभाविक भोगों में प्रवृत्ति के कारण सिद्ध साहित्य

नोट

में भोग में निर्वाण की भावना मिलती है। जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में विश्वास के कारण सिद्धों का सिद्धांत पक्ष सहज मार्ग कहलाया।

चौरासी सिद्धों का समय 797 से 1257 तक माना गया है। हमें 14 सिद्धों की रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। सरहपा, शबरपा आदि इनमें प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक सिद्ध के नाम के पीछे 'पा' शब्द जुड़ा हुआ है।

धर्मवीर भारती ने सिद्ध साहित्य में उपलब्ध होने वाली अश्लीलता पर आध्यात्मिकता का आरोप करना चाहा है किन्तु हमारे विचार में उस पर रहस्यात्मक प्रतीकात्मक आरोपित करना असंभव है।

डॉ. भारती ने सिद्धों के प्रज्ञोपायात्मक साहित्य को साधारणजन के आस्वाद का विषय बताया है। उन्होंने सिद्धों की शब्दावली की दार्शनिक व्याख्या करते हुए इसे आध्यात्मिक घोषित कर सिद्ध साहित्य के उत्कट भोगवाद को गौण सिद्ध करना चाहा है, किन्तु हमारा विचार है कि सिद्धों का तथाकथित रहस्यवादी साहित्य किसी भी कारण अलौकिक प्रेम का काव्य नहीं कहा जा सकता है। सिद्ध साहित्य में गहन रहस्यात्मक अनुभूतियों की खोज समस्त तांत्रिक धारा के प्रवाह को प्रतीची दिशा में मोड़ने के अनावश्यक प्रयत्न के सिवाय और कुछ भी नहीं है। कभी ऐसा अवश्य था कि जबकि समस्त सिद्ध साधना और तत्कालीन समाज अश्लीलता और कामुकता के प्रवाह में बेसुध हो चला था। यही कारण है कि इस बढ़ती विलासिता का प्रतिवाद गोरखनाथ को करना पड़ा था—

चारि पहिर आलिंगन निद्रा, संसार जाई विषया दाही।

सिद्ध प्रायः अशिक्षित और जीन जाति से संबंध रखते थे, अतः उनकी साधना की साधनभूत मुद्राएँ-कापाली, डोम्बी आदि नायिकाएँ भी निम्न जाति की थीं क्योंकि उनके लिए ये ही सुलभ थीं। इनकी सांध्य भाषा की उलझी हुई शब्दावली में उनके अधिकचरे दार्शनिक (Pseudo Philosophers) होने का आभास भले ही मिल जाये किन्तु असल में वे दार्शनिक नहीं और न ही दर्शन की कोई ऊँची वस्तु देना उनका उद्देश्य था। उन्होंने धर्म और अध्यात्म की आड़ में जनजीवन के साथ विडम्बना करते नारी का उपभोग किया। बस यही उनका चरम गन्तव्य था। उनके कलम और कुलिश योनि और शिश्न के प्रतीक मात्र हैं।

सिद्धों की कुछ रचनाएँ अपभ्रंश भाषा में हैं। वह भाषा अर्द्धमागधी अपभ्रंश के निकट ही है। इसे संध्या भाषा भी कहा जाता है क्योंकि यह भाषा अपभ्रंश के संध्या काल में प्रचलित थी।

इनकी रचनाओं में शान्त और शृंगार रस उपलब्ध होते हैं। भले ही काव्य लक्षणों के अनुसार इनकी रचनाओं में रस का परिपाक न हुआ हो परन्तु उसमें अलौकिक आनन्द तथा आत्म-तोष का प्रवाह अवश्य है। उसे अलौकिक रस कहा जा सकता है। यही रस कबीर, मीरा और दादू की रचनाओं में मिलता है। उदाहरणार्थ सरहपा की दो पंक्तियाँ देखिए—

जब्बे मण आत्क्षमण जाइ, तणु तुट् टइ बंधण।

तब्बे समरस सहजे बन्ड सुद्ध न बन्हण॥

सिद्ध साहित्य में दोहा, चौपाई और चर्या गीत आदि छन्द मिलते हैं।

सिद्ध साहित्य के विविध रूप—सिद्धों के साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) नीति तथा आचारमय, (ख) उपदेशात्मक, (ग) साधना-संबंधी अर्थात् रहस्यवादी। इसके अतिरिक्त सिद्ध साहित्य में फुटकर रूप से कतिपय काव्यशास्त्रीय बातों की भी प्रासंगिक रूप से चर्चा मिलती है। सिद्ध साहित्य में धावक तथा डोम्बी और शबरी आदि परस्पर आश्रय और आलम्बन है। गुरु दौत्य कार्य सम्पन्न करता है। कापालिका आदि नायिकाओं को स्वकीया, परकीया, सामान्या, प्रौढ़ा, मुग्धा, मध्य एवं अभिसारिका आदि की कोटि में रखा जा सकता है। चर्यापदों में शृंगार के नायकारब्ध तथा नायिकारब्ध दोनों रूप मिलते हैं। उद्दीपन-विभाव के अंतर्गत नायिका का सौन्दर्य तथा प्राकृतिक वर्णन आते हैं।

सिद्धादि तांत्रिक सम्प्रदायों की सामान्य प्रवृत्तियाँ—सिद्धों के तांत्रिक सम्प्रदाय के समानान्तर काल में शैवागमों के कापालिक रसेश्वर जंगम पाशुपत लिंगायत आदि सम्प्रदायों का प्रचलन हुआ। शाक्तों के वीर आदि सम्प्रदाय वैष्णवों के पांचरात्र आदि सम्प्रदाय तथा नाथ सम्प्रदाय आदि भी उस समय निज-निज गन्तव्यों के प्रसारण में परायण थे। उक्त सभी सम्प्रदाय भारतीय धर्म साधना के मध्ययुगीन तांत्रिक प्रभाव से अत्यधिक प्रभावित थे। निःसंदेह भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की पारिभाषिक शब्दावली में थोड़ा-बहुत अन्तर रहा हो किन्तु इस रूप में प्रवृत्तिगत एकता दृष्टिगोचर होती है।

सामान्य प्रवृत्तियाँ—(1) प्रत्येक तांत्रिक सम्प्रदाय में देवता, मन्त्र और तत्त्व दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली भिन्न-भिन्न है, किंतु साधना पद्धति सबकी समान है।

(2) प्रत्येक सम्प्रदाय में शास्त्रीय चिन्तन पक्ष गौण था। साधना क्रिया और चर्यापदों की प्रमुखता थी। साधना पक्ष में गुरु को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया गया। तांत्रिक साधना में शिव-शक्ति, लिंग-अंग, प्रज्ञा-उपाय, रस-अभ्रक आदि की अद्वय स्थिति पर अत्यधिक बल दिया है।

(3) तांत्रिक सम्प्रदायों की साधना पद्धति में शिव और शक्ति की युगबद्धता और उनकी मिथुनात्मक व्याख्या मिलती है। प्रत्येक सम्प्रदाय की साधना में गुह्याचारों पर अत्यधिक बल दिया गया है।

(4) तांत्रिक साधना में जाति-पाति और वर्ण-भेद आदि की भरसक निन्दा की गई है।

(5) इन सम्प्रदायों में योग साधना पर अत्यधिक बल दिया गया है। तांत्रिक साधना के लिए शरीर-शुद्धि प्रथम आवश्यक उपलब्धि है। ब्रह्मांड में जो शिव और शक्ति है शरीर में वही सहस्राधार और कुण्डलिनी है। उनकी अद्वयता के लिए योग-साधना अनिवार्य है।

(6) मिथुनात्मकता साधना की निरूपण पद्धति सर्वथा सांकेतिक है।

(7) प्रत्येक सम्प्रदाय में वैदिक देवताओं के प्रति अनास्था प्रकट की गयी है और उनके स्थान पर लोक देवताओं और उनकी असंस्कृत पूजन पद्धतियों को प्रश्रय दिया गया है।

(8) सब सम्प्रदायों ने ब्राह्मणवाद की पौराणिक रूढ़ियों का खंडन और वेदों के प्रति असम्मान दर्शाया है।

(9) तांत्रिक साधना में मरणोपरान्त मुक्ति या निर्वाण प्राप्ति की अपेक्षा जीवनकाल में सिद्धियों को प्राप्त करना श्रेयस्कर बताया गया है।

(10) चमत्कार प्रदर्शन सभी सम्प्रदायों में समान रूप से मिलता है। मंत्र-यंत्र और बीजाक्षरों का प्रचलन सभी सम्प्रदायों में समान रूप से हुआ। सब सम्प्रदायों में गुह्य साधना के ब्याज से कामशास्त्रीय विधियों का समावेश परोक्ष रूप से हुआ है।

(11) तांत्रिक काल में उद्भूत वैष्णवों के पांचरात्र सम्प्रदाय में उपासना के चार अंग स्वीकार किये गये हैं—ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद और चर्यापाद। क्रियापाद का संबंध मूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण से है और चर्यापाद का संबंध मंत्रों एवं तंत्रों की व्याख्या से है। इस प्रकार चमत्कारप्रिय युग में मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण में कृत्रिमता और अलंकरण-प्रियता को स्थान मिलने लगा। इस प्रकार रीतिकाल में कलागत जिस सज्जावाद, चमत्कारिता और कृत्रिमता के दर्शन होते हैं, उसका आरंभ तांत्रिक काल में ही हो गया था। यह दूसरी बात है कि रीतिकाल के सामन्ती प्रभाव तथा ईरानी कलाओं के मिश्रण की प्रक्रिया से उक्त प्रवृत्तियों में और भी गहरा रंग उभर आया हो। रीतिकाल में कलागत अलंकरण और चमत्कृतप्रियता के लिए केवल मुगल शासन ही उत्तरदायी नहीं है। उसके मूल बीज इस धरती पर पहले से विद्यमान थे। काव्यक्षेत्र में अलंकार रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदाय इसके उदाहरण हैं। मध्ययुगीन भारतीय स्थापत्य कला का भी इस विषय में साक्षात् निदर्शन है।



टास्क सिद्धादि तांत्रिक सम्प्रदाय की सामान्य प्रवृत्तियाँ क्या थी?

7.3 रीति पर विविध प्रभाव

सिद्ध साहित्य का प्रभाव एवं महत्त्व—चारण साहित्य तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है, परन्तु यह सिद्ध साहित्य सदियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का एक स्पष्ट उल्लेख है। इसने हमारे धार्मिक विश्वास की शृंखला को और भी मजबूत किया है। आगे पूर्व मध्यकाल एवं उत्तर मध्यकाल में जो गोपी-लीला एवं अभिसार के वर्णन मिलते हैं, सिद्ध साहित्य में उसका पूर्व रूप देखा जा सकता है। सिद्धों की उलझी हुई उक्तियों को कबीर की उलटबौंसियों का प्रेरक समझना चाहिए।

भाषा की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। संत साहित्य का आदि स्रोत इन सिद्धों को, मध्य नाथपंथियों को और उसका पूर्ण विकास कबीर से आरंभ होने वाली संत परंपरा में नानक, दादू और मलूक आदि

नोट

को मानना चाहिए। भक्तों के अवतारवाद पर महायान शाखा का विशेष प्रभाव है। डॉ. हजारीप्रसाद का कहना है कि भक्तिवाद पर सिद्धों का प्रभाव है, ईसाई मत का कोई प्रभाव नहीं है। सिद्ध साहित्य का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी के एक प्रसिद्ध विद्वान आलोचक ने लिखा है—“जो जनता नरेशों की स्वेच्छाचारिता, पराजय या पतन से त्रस्त होकर निराशावाद के गर्त में गिरी हुई थी, उसके लिए इन सिद्धों की वाणी ने संजीवनी का कार्य किया। निराशावाद के भीतर से आशावाद का सन्देश देना, संसार की क्षणिकता में उसके वैचित्र्य का इन्द्रधनुषी चित्र खींचना इन सिद्धों की कविता का गुण था और उसका आदर्श था जीवन की भयानक वास्तविकता की अग्नि से निकालकर मनुष्य को महासुख के शीतल सरोवर में अवगाहन कराना।”

आचार्य शुक्ल सिद्धों और नाथों के साहित्य को धार्मिक एवं साम्प्रदायिक कहकर उसे शुद्ध रागात्मक साहित्य की कोटि में स्थान नहीं देते। उनका कहना है—“उनकी (सिद्धों, नाथों, जैनों) रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र हैं अतः शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकती। उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की धारा नहीं कह सकते।” हमारा विचार है कि आचार्य शुक्ल ने इन रचनाओं का महत्त्व आंकते समय पूर्ण न्याय नहीं किया है। डॉ. रामकुमार वर्मा के विचार इस संबंध में अवलोकनीय हैं—“सिद्ध साहित्य का महत्त्व इस बात में बहुत अधिक है कि उससे हमारे साहित्य के आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है। चारणकालीन साहित्य तो केवल तत्कालीन राजनीतिक जीवन की प्रतिच्छाया है। यह सिद्ध साहित्य शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी यह साहित्य महत्त्वपूर्ण है।”

साहित्यिक उदात्तता और परिपक्वता की दृष्टि से उक्त साहित्य का कोई विशेष महत्त्व नहीं है और कदाचित् इसीलिए यह उपेक्षणीय भी रहा है। किन्तु इन सिद्धों में इतनी साहित्यिक देन अवश्य है कि इन्होंने अनेक चर्यापदों को विविध रागों में लिखकर परवर्ती गीतिकाव्यकारों जयदेव, विद्यापति, सूरदास आदि के लिए मार्ग खोल दिया। शृंगार को काम-समन्वित बना इन्होंने उनमें नाना कामकलाओं का वर्णन किया। इस प्रकार इन्होंने भागवतकार और गीत-गोविन्दकार जयदेव के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर दी। कतिपय विद्वानों का विचार है कि दर्शन के क्षेत्र में इन लोगों ने शंकर के मायावाद के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया और उनके अद्वैतवाद को बौद्धों की शताब्दियों से चली आती हुई शून्य संबंधी-चिन्तनधारा ने, अग्रसर करने के लिए कोई कम महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया।

7.4 नाथ-साहित्य

नाथ सम्प्रदाय का विकास-वज्रयान की सहज साधना नाथ सम्प्रदाय के रूप में पल्लवित हुई। जीवन को कर्मकाण्ड के जाल से मुक्त कर सहज रूप की ओर ले जाने का श्रेय नाथों को ही जाता है। इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय को सिद्धों का विकसित तथा शक्तिशाली रूप कहना चाहिए। सिद्धों की विचारधारा को लेकर इस सम्प्रदाय ने उसमें नवीन विचारों की प्राण-प्रतिष्ठा की। उन्होंने निरीश्वरवादी शून्य को ईश्वरवादी शून्य बना दिया। नाथ सम्प्रदाय वज्रयान की परम्परा में शैवमत की क्रोड में पला। 14वीं सदी तक इस सम्प्रदाय के साहित्य ने साहित्य और धर्म का शासन किया। इस प्रकार नाथ युग सिद्ध युग और संतों के बीच की कड़ी माना जा सकता है। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि नाथ सम्प्रदाय का विकास पूर्ण स्वतंत्र रूप से हुआ—“यदि नाथ लोग सिद्धों के दिखाये हुए मार्ग को अपना साधन चुन लेते तो उनको कोई भी महत्त्व न मिलता।”—(पूर्ण गिरि स्वामी) किन्तु यह मत भ्रांतिपूर्ण है। संत लोगों ने भी तो नाथ लोगों के दिखाये हुए मार्ग को चुना तो क्या उनको महत्त्व नहीं मिला? वास्तविक बात तो यह है कि सिद्धों ने जिस पथ की ओर संकेत किया था संतों ने उसे राजमार्ग बनाया, पुरानी विचारधारा में नवीन पद्धति का समावेश किया। प्रत्येक धार्मिक विचारधारा का इतिहास इस बात का साक्षी है कि युग की परिस्थितियों के अनुकूल उसमें संशोधन, परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ। बौद्ध धर्म और राग-साहित्य इस बात के साक्षी हैं। बौद्ध धर्म महायान से वज्रयान, वज्रयान से सहजयान और सहजयान से नाथ सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुआ।

नाथ सम्प्रदाय पर कौल सम्प्रदाय का भी कुछ प्रभाव पड़ा है। कौलों की अष्टांग योग की भावना को नाथों ने साधना के रूप में अपनाया। साथ-साथ नाथपंथी संतों ने कौलों की व्याभिचार प्रवृत्ति का तीव्रतम विरोध किया है। अष्टांग योग की साधना वज्रयान में भी रही है। हां, यह दूसरी बात है कि उक्त साधना सीधे रूप से नाथों के यहाँ उनसे न आई हो। या यह भी संभव है कि इन नाथों ने वज्रयानियों के इस योग को भी अपना लिया हो।

विषय और सिद्धांत—नाथपंथ की दार्शनिक सैद्धान्तिक रूप से शैवमत के अंतर्गत है और व्यावहारिकता

की दृष्टि से हठयोग से संबंध रखती है। नाथ पंथ की ईश्वर संबंधी भावना शून्यवाद में है और यह वज्रयान से ली गई है। कबीर ने इसी शून्य को सहज, सुन्न, सहस्रदल कमल आदि नामों से पुकारा है। यह शून्य क्रमानुसार अलख निरंजन होकर नाथ सम्प्रदाय में आया। नाथों ने निवृत्ति मार्ग पर विशेष बल दिया। इनके अनुसार वैराग्य से शब्द, स्पर्श आदि से मुक्ति संभव है। वैराग्य गुरु द्वारा संभव है अतः इनमें गुरुमन्त्र या गुरुदीक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। ये लोग शिष्य की अत्यंत कठोर परीक्षा लिया करते थे अतः इनका सम्प्रदाय व्यापक रूप न ले सका। इसमें प्रचार की अपेक्षा मर्यादा रक्षण पर विशेष ध्यान दिया गया। उन्होंने कुछ आध्यात्मिक संकेत रहस्यात्मक शैली में, उलटबाँसियों में विचित्र रूपकों में किये जो साधारण जनता की समझ से बाहर थे, उन्हें वे ही समझ सकते थे जो कि इस मत में दीक्षित होते थे। इस सम्प्रदाय में इन्द्रिय-निग्रह पर विशेष बल दिया गया। इन्द्रियों के लिए सबसे बड़ा आकर्षण नारी है, अतः नारी से दूर रहने की भरसक शिक्षा दी गई है। संभव है कि गोरखनाथ ने बौद्ध विहारों में भिक्षुणियों के प्रवेश का परिणाम और उनका चारित्रिक पतन देखा हो तथा कौल पद्धति या वज्रयान के वाममार्ग में भैरवी ओर योगिनी रूप नारियों की ऐन्द्रिक उपासना में धर्म को विकृत होते देखा हो। गोरख ने अपने शिष्यों को नारी से सदा दूर रहने का आदेश दिया। कबीर में नारी विरोध का जो स्वर मिलता है, उसे भी इसी प्रतिक्रिया का परिणाम समझना चाहिए। इन्द्रिय निग्रह के बाद प्राण-साधना तथा इसके पश्चात् मनःसाधना पर अधिक बल दिया। मनःसाधना से तात्पर्य है मन को संसार से खींचकर अन्तःकरण की ओर उन्मुख कर देना। मन की जो स्वाभाविक गति बाह्य जगत की ओर है उसे पलटकर अंतर जगत की ओर करना ही मन की साधना की कसौटी है। यही उलटने की क्रिया उलटबाँसियों का आधार है। इसमें अनेक क्रियाओं का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ, नाड़ी साधन, कुंडलिनी, इंगला, पिंगला, सुषुम्ना आदि का वर्णन है। ब्रह्मरन्ध्र, षट्चक्र, सुरत योग और अनहद नाद आदि का भी इनके यहां उल्लेख है। इन्होंने शिव और शक्ति को आदि तत्व माना है। इन्होंने पाखण्ड का खुलकर खण्डन किया है।



क्या आप जानते हैं? नाथ सम्प्रदाय सिद्धों का विकसित और शक्तिशाली रूप था।

नाथा सम्प्रदाय राजनीतिक गतिविधियों के प्रति भी तटस्थ नहीं था। गोरखनाथ के किसी शिष्य ने काफिर बोध में मुसलमानों के अत्याचारों का विरोध करते हुए कहा है—

हिन्दू मुसलमान खुदाई के बन्दे
हम जोगी न कोई किसे के छन्दे।

नाथपंथ वालों ने अपने सिद्धांतों की मीमांसा जन-भाषा के आश्रय से साखियों और पदों में की। नीति, आचार, संयम और योगादि इनके साहित्य के प्रधान विषय हैं।

नाथ योगियों की अनेक परम्पराएँ प्रसिद्ध हैं। चौरासी सिद्धों के समान नवनाथ भी प्रसिद्ध हैं जिनमें शिव ही आदि नाथ हैं और मत्सेन्द्र नाथ (मछेन्द्र) जालन्धर नाथ, गोरखनाथ मुख्य हैं। इस सम्प्रदाय के प्रत्येक जोगी के नाम के अंत में नाथ शब्द जुड़ा हुआ है। इन नाथों की चौरासी सिद्धों में भी गणना की जाती है। संभव है ये पहले किसी सिद्ध सम्प्रदाय में रहे हों और उनसे अलग होकर इस पंथ के अनुयायी बने हों।

प्रायः इतिहास लेखकों की यह मान्यता है कि शंकराचार्य के बाद दसवीं सदी में आविर्भूत गुरु गोरखनाथ ने धर्म, संस्कृति और सामाजिक क्षेत्रों में आमूलचूल क्रान्ति का स्वर बुलन्द किया और उसका श्रेय निःसंदेह गोरखनाथ के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जाता है। इनके व्यक्तित्व और कृतित्व को तीन स्तरों पर सहज में आंका जा सकता है। वे तीन स्तर हैं—शिव-शक्ति की उपासना, हठयोग (नाथयोग) की कृच्छ्र साधना-अष्टांग योग के अन्तर्गत आसन, मुद्राओं तथा प्राणायाम की कठोर साधना, सामाजिक चेतना के जागरण के आंदोलन में निरर्थक रूढ़ियों, जीर्ण-शीर्ण परंपराओं एवं बाह्य आडंबरों व पौरोहित्यवाद के प्रति उग्र विरोध, मानवीय गुणों की सच्चे अर्थों में प्रतिष्ठा तथा सामाजिक न्याय के प्रति निष्ठापूर्वक प्रतिबद्धता उनमें प्रत्यक्षतः देखी जा सकती है। उनके सामाजिक न्याय; दलित व पीड़ित वर्ग के उत्थान की लालसा में कहीं भी छल-कपट एवं दंभ का स्थान नहीं था जैसा कि आज के सामाजिक न्याय के ध्वजाधारी, छद्मवेशी, दंभी निहित स्वार्थी कतिपय राजनीतिज्ञों के नारों में मात्र दिखावा और पर-प्रवचना की विकृत भावनाएँ दिखाई देती हैं। आज के सामाजिक न्याय का मुखौटा लगाये, स्वार्थपरायण नौटकियावादि तथाकथित राजनीतिज्ञों ने सामाजिक समरसता की जगह सामाजिक द्वंद्व व कलह और वैषम्य, वर्गवाद,

नोट

जातिवाद एवं पारस्परिक घृणावाद को उभारा है, जो सामाजिक न्याय की मूलभावना के बिलकुल प्रतिकूल पड़ता है। सामाजिक समरसता के स्थान पर घृणी के प्रचार के दूरगामी परिणाम अत्यन्त भयावह हो सकते हैं। सामाजिक न्याय के लिए आत्म-उत्सर्ग, साधना, त्याग व तेन त्यक्तेन भुंजीथा की प्रेरक भावना अत्यावश्यक है। सामाजिक न्याय के नाम पर पर-प्रवंचक, दंभपरायण लोगों को आगे आनेवाली पीढ़ियाँ और इतिहास कभी क्षमा नहीं करेगा। अस्तु! कदाचित कबीर और नानक देव जैसे क्रान्तिकारी व्यक्तित्वों पर गुरु गोरखनाथ एवं नाथ संप्रदाय के सामाजिक-क्रान्तिकारी आन्दोलन का अनिवार्यतः प्रभाव पड़ा होगा।

नाथ साहित्य की देन—“गोरखनाथ ने नाथ सम्प्रदाय को जिस आंदोलन का रूप दिया वह भारतीय मनोवृत्ति के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुआ है। उसमें जहाँ एक ओर ईश्वरवाद की निश्चित धारणा उपस्थित की गई वहाँ दूसरी ओर विकृत करने वाली समस्त परम्परागत रूढ़ियों पर भी आघात किया। जीवन को अधिक से अधिक संयम और सदाचार के अनुशासन में रखकर आध्यात्मिक अनुभूतियों के लिए सहज मार्ग की व्यवस्था करने का शक्तिशाली प्रयोग गोरख ने किया।”

—डॉ. रामकुमार

“इसने परवर्ती संतों के लिए श्रद्धाचरण प्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। जिन संत साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत-कुछ बनी बनाई भूमि मिली थी।”—(आचार्य हजारी प्रसाद)। आगे चलकर द्विवेदी जी लिखते हैं—“इसकी सबसे बड़ी कमजोरी इसका रूखापन और गृहस्थ के प्रति अनादर भाव है। इसी ने इस साहित्य को नीरस, लोक विद्रष्ट और क्षयिष्णु बना दिया था। फिर भी यह दृढ़ कंठ स्वर उत्तरी भारत में मार्मिक वातावरण को शुद्ध और उदात्त बनाने में सहायक हुआ। इस दृढ़ स्वर ने यहाँ धार्मिक साधना में गदलश्रु भावुकता और दुलमुलेपन को आने नहीं दिया। परवर्ती हिन्दी साहित्य में चारित्रिक दृढ़ता, आचरण शुद्धि और मानसिक पवित्रता का जो स्वर सुनाई पड़ता है उसका श्रेय इस साहित्य को ही है। इसलिए इस पंथ के साहित्य से परवर्ती हिन्दी साहित्य का बहुत घनिष्ठ संबंध है।

7.5 जैन-साहित्य

महात्मा बुद्ध के समान महावीर स्वामी ने भी अपने धर्म का प्रचार लोकभाषा के माध्यम से किया। इस प्रकार जैन धर्म के अनुयायियों को अपने धार्मिक सिद्धांतों का ज्ञान अपभ्रंश में प्राप्त हुआ। वैसे तो जैन उत्तर भारत में जहाँ-तहाँ फैले रहे किन्तु आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक काठियावाड़ गुजरात में इनकी प्रधानता रही। वहाँ के चालुक्य, राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं पर इनका पर्याप्त प्रभाव रहा।

महावीर स्वामी का जैन धर्म, हिन्दू धर्म के अधिक समीप है। जैनों के यहाँ भी परमात्मा तो हैं पर वह सृष्टि का नियामक न होकर चित्त और आनन्द का स्रोत हैं। उसका संसार से कोई संबंध नहीं। प्रत्येक मनुष्य अपनी साधना और पौरुष से परमात्मा बन सकता है। उसे परमात्मा से मिलने की कोई आवश्यकता नहीं। इन्होंने जीवन के प्रति श्रद्धा जगाई और उसमें आचार की सुदृढ़ भित्ति की स्थापना की। अहिंसा, करुणा, दया और त्याग का जीवन में महत्वपूर्ण स्थान बताया। त्याग इन्द्रियों के अनुशासन में नहीं कष्ट सहने में है। उन्होंने उपवास तथा व्रतादि कृच्छ्र साधना पर अधिक बल दिया और कर्मकांड की जटिलता को हटाकर ब्राह्मण तथा शूद्र को मुक्ति का समान भागी ठहराया।

जैन मुनियों ने अपभ्रंश में प्रचुर रचनाएँ लिखीं जो कि धार्मिक हैं। इनमें सम्प्रदाय की रीति-नीति का पद्यबद्ध उल्लेख है। अहिंसा, कष्ट सहिष्णुता, विरक्ति और सदाचार की बातों का इनमें वर्णन है। कुछ गृहस्थ जैनों का लिखा हुआ साहित्य भी उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त उस समय के व्याकरणादि ग्रन्थों में भी साहित्य के उदाहरण मिलते हैं। कुछ जैन कवियों ने हिन्दुओं की रामायण और महाभारत की कथाओं से राम और कृष्ण के चरित्रों को अपने धार्मिक सिद्धांतों और विश्वासों के अनुरूप अंकित किया है। इन पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त जैन महापुरुषों के चरित्र लिखे गए तथा लोकप्रचलित इतिहास-प्रसिद्ध आख्यान भी जैन धर्म के रंग में रंग कर प्रस्तुत किये गये। इसके अतिरिक्त जैनों ने रहस्यात्मक काव्य भी लिखे हैं। इस साहित्य के प्रणेता शील और ज्ञान-सम्पन्न उच्च वर्ग के थे। अतः उनमें अन्य धर्मों के प्रति कटु उक्तियाँ नहीं मिलती हैं और न ही लोकव्यवहार की उपेक्षा मिलती है। इनके धार्मिक अंश को छोड़ भी दें तो भी उसमें मानव-हृदय की सहज कोमल अनुभूतियों का चित्रण मिलता है।

इस प्रकार हमने देखा कि जैन साहित्य के अंतर्गत पुराण साहित्य, चरित्र काव्य, कथा काव्य एवं रहस्यवादी काव्य सभी लिखे गये। इसके अतिरिक्त व्याकरण ग्रन्थ तथा शृंगार, शौर्य, नीति और अन्योक्ति संबंधी फुटकर पद्य

भी लिखे गये। पुराण संबंधी आख्यानों के रचयिताओं में स्वयंभू पुष्पदन्त, हरिभद्र सूरि, विनयचन्द्र सूरि, धनपाल, जोइन्दु तथा रामसिंह का विशेष स्थान है।

स्वयंभू—(आठवीं सदी) ने पद्म चरित (पद्म चरित) और टिठेजेमी चरित (अरिष्टनेमि चरित-हरिवंश पुराण) प्रबंधों के अतिरिक्त छन्द शास्त्र से संबंधित 'स्वयंभू छन्दस' की भी रचना की। पद्म चरित में राम की कथा है और अरिष्टनेमि चरित में कृष्ण की। इन्होंने नागकुमार चरित नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है किन्तु इनकी कीर्ति का आधारस्तंभ पद्म चरित ही है। इन्हें अपभ्रंश का वाल्मीकि माना जाता है। इन्होंने अपनी रामायण में केवल पांच कांड रखे हैं और उनका नाम वाल्मीकि रामायण के कांडों से मिलता है। इन्होंने बालकांड का नाम विद्याधर कांड रखा है। अरण्य तथा किष्किन्धा कांड को एकदम उड़ा दिया है। स्वयंभू ने जैन धर्म की प्रतिष्ठा के लिए राम की कथा में यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिये हैं और कुछ नये प्रसंग जोड़ दिये हैं। पद्म चरित में कथा प्रसंगों की मार्मिकता, चरित्र-चित्रण की पटुता, स्थल एवं प्रकृति वर्णन की उत्कृष्टता और आलंकारिक तथा हृदयस्पर्शी उक्तियों की प्रचुरता दर्शनीय है। सीता के चरित्र की उदारता दिखाने में कवि ने कमाल ही कर दिया है और इसी प्रकार अरिष्टनेमि चरित में द्रौपदी के चरित्र को भी अपनी तूलिका से एकदम निखार दिया है। नारी-चरित्रों के प्रति लेखक ने अतीव सहानुभूति और दक्षता से काम लिया है। इनकी कविता का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

एवहि तिह करोनि पुणु रहवइ।

जिहण होमि पडियारे तिय मई।

सीता की अग्नि-परीक्षा के पश्चात् राम ने क्षमायाचना कर ली और भारतीयता की मूर्ति किंतु परित्यक्त स्नेहशील सीता देवी ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा—“इसमें न तुम्हारा दोष है, न जनसमूह का। दोष तो दुष्कृत कर्म का है और इस दोष से मुक्त होने के लिए एकमात्र उपाय यही है कि ऐसा किया जाए जिससे फिर स्त्री योनि में जन्म न लेना पड़े।” नारी पर पुरुष के अत्याचार की इतनी मार्मिक अनुभूति और क्या हो सकती है। **डॉ. नामवरसिंह** इनके संबंध में लिखते हैं—“स्वयंभू के काव्य का परिसर बहुत व्यापक है। हिमालय से लेकर समुद्र तक, रनिवासों से लेकर जनपदों तक, राजकीय जलक्रीड़ा से लेकर युद्धक्षेत्र तक, जीवन के सभी क्षेत्रों में उनका प्रवेश है। वे प्रकृति के चित्रकार हैं, भावों के जानकार हैं, चिन्तन के आगार हैं। अपभ्रंश भाषा पर ऐसा अचूक अधिकार किसी भी कवि का फिर दिखाई नहीं पड़ा। अलंकृत भाषा तो बहुतों ने लिखी, किन्तु ऐसी प्रवाहमयी और लोकप्रचलित अपभ्रंश भाषा फिर नहीं लिखी गई। स्वयंभू सचमुच ही अपभ्रंश के वाल्मीकि हैं, परवर्ती अपभ्रंश कवियों ने उन्हें वैसे ही श्रद्धा के साथ स्मरण किया है।”



नोट्स आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक गुजरात के काठियावाड़ में जैन समुदाय की बहुलता थी।

पुष्पदन्त (दसवीं सदी)—पुष्पदन्त या पुष्प कश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे और शिवजी के भक्त थे किन्तु अन्त में जैन हो गये। इनके अनेक उपनाम थे। इनमें से एक 'अभिमान मेरु' भी है क्योंकि यह स्वभाव से बड़ा अक्खड़ और अभिमानी थे। इनके महापुराण के आदि पुराण खण्ड में तीर्थंकर ऋषभदेव, तेईस तीर्थंकरों तथा उनके समसामयिक महापुरुषों के चरित हैं। उत्तर पुराण में पद्म पुराण (रामायण) और हरिवंश (महाभारत) हैं। नाग कुमार चरित तथा यशोधरा चरित जैन धर्म से सम्बद्ध खण्ड काव्य है। पुष्पदन्त ने राम की कथा में बहुत अधिक परिवर्तन कर दिये हैं। इन्होंने श्वेताम्बर मतावलम्बी कवि गुणभद्र के उत्तर पुराण में वर्णित रामकथा का अनुसरण किया है। राम कथा की अपेक्षा इनकी वृत्ति कृष्ण काव्य में अधिक रमी है। वहाँ इन्होंने खूब रस लिया है और कथा में कोई खास परिवर्तन भी नहीं किया। इन्हें अपभ्रंश भाषा का व्यास कहा जाता है। पुष्पदन्त की अपेक्षा स्वयंभू अधिक उदार थे। पुष्पदन्त अत्यंत असहिष्णु थे और उन्होंने खुलकर ब्राह्मणों का विरोध किया है। ये दोनों कवि कालिदास और बाण की परम्परा के अंतर्गत आते हैं। दोनों दरबारी कवि थे और अपार ऐश्वर्य से उनका निकट का परिचय था। अतः भाषा, शैली, कल्पना और संगीत का जो ऐश्वर्य कालिदास और बाण में मिलता है वह स्वयंभू और पुष्पदन्त में भी उपलब्ध होता है।

अपभ्रंश भाषा में लिखे गये राम और कृष्ण काव्यों में कहीं-कहीं धार्मिकता का पुट अवश्य आ गया है परन्तु दिव्यता और अलौकिकता का रंग प्रायः नहीं है और भक्ति भावना का तो उसमें अभाव ही है। हिन्दी वैष्णव कवियों के राम और कृष्ण काव्यों से इनकी कोई तुलना नहीं है।

नोट

लौकिक कथाओं का आश्रय लेकर जैन धर्म की शिक्षा देने के लिए अनेक काव्य लिखे गये। इनमें धनपाल की 'भविष्यत् कथा' प्रसिद्ध है जो कि एक भविष्यदत्त नामक बनिये से संबंधित है। जोइन्दु के 'परमात्मा प्रकाश' तथा 'योगसार' में सहिष्णुता का दृष्टिकोण है। रामसिंह के 'पाहुड़ दोहा' में भी यही बात है। धर्मसूरि (13वीं सदी) के 'जम्बूस्वामी रासा' में गृहस्थ जीवन की मधुरता की झांकी है। हेमचन्द्र के 'शब्दानुशासन' में अनेक द्रोहों में नारी-हृदय की मधुरता, रोमांस और शृंगार का हृदयकारी वर्णन है। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में मुञ्ज के प्रति मृणालवती के विश्वासघात की प्रतिक्रिया की मार्मिक उक्तियाँ हैं।

हिंदी साहित्य के विकास में जैन धर्म का बहुत बड़ा हाथ है। अपभ्रंश भाषा में जैनों द्वारा अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। अपभ्रंश से हिन्दी का विकास होने के कारण जैन साहित्य का हिन्दी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। केवल भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ही नहीं बल्कि हिन्दी के प्रारंभिक रूप का सूत्रपात करने में भी इस साहित्य का गहरा हाथ है। अपभ्रंश साहित्य अपने आपमें एक अत्यंत व्यापक साहित्य है। इसमें महाकाव्यों, खंडकाव्यों, गीतिकाव्यों, ऐहिकपरक लौकिक प्रेम काव्यों, धार्मिक काव्यों, रूपक साहित्य, स्फुट साहित्य, गद्य साहित्य आदि साहित्य की नाना विधाओं का प्रणयन हुआ है। हिन्दी साहित्य की उचित जानकारी के लिए अपभ्रंशों के विशाल साहित्य के गहन अध्ययन की महती आवश्यकता है।

जैनतर अपभ्रंश साहित्य में 'सन्देश रासक', 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' नामक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इसका वर्णन किसी अन्य प्रकरण में किया जायेगा।

7.6 आदिकाल की वीरगाथाओं की विशेषताएँ

हिन्दी साहित्य के आदिकाल में वीरगाथाओं का युग राजनीतिक दृष्टि से पतनोन्मुख, सामाजिक रूप से दीन-हीन तथा धार्मिक दृष्टि से क्षीण काल है। इस काल में जहाँ एक ओर जैन, नाथ और सिद्ध साहित्य का निर्माण हुआ वहीं दूसरी ओर राजस्थान में चारण कवियों द्वारा चरित काव्य भी रचे गये। इनका प्रधान विषय वीरगाथाओं से सम्बद्ध है, अतः इन्हें वीरगाथा काव्य भी कहते हैं। यहाँ हम इन वीरगाथाओं की सामान्य प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं की विवेचन करेंगे—

1. **संदिग्ध रचनाएँ**—इस काल में उपलब्ध होने वाली प्रायः सभी वीरगाथाओं की प्रामाणिकता संदेह की दृष्टि से देखी जाती है। इस काल में रचित चार काव्य प्राप्त हुए हैं—खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो तथा परमाल रासो। भाषा, शैली और विषय सामग्री की दृष्टि से इन ग्रन्थों के संबंध में कहा जा सकता है कि इनमें निरन्तर कई शताब्दियों तक परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं। यह परिवर्तन और परिवर्द्धन का कार्य इतनी प्रचुर मात्रा में हुआ है कि इसका मूल रूप भी दब गया है। यह संबंधित आश्रयदाताओं के काल में भी लिखी गई, इस बात को निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है। खुमान रासो में 16वीं सदी तक की सामग्री का समावेश कर लिया गया है। परमाल रासो का स्वरूप आल्हा खंड से कितना ही बदला हुआ है। पृथ्वीराज रासो की भी यही स्थिति है। हां, बीसलदेव रासो के लघु काव्य होने के कारण उसमें अपेक्षाकृत अधिक परिवर्तन नहीं हुए। समष्टि रूप से इन ग्रन्थों के मूल रूप की पहचान एक अत्यंत दुष्कर कार्य हो गया है।

2. **ऐतिहासिकता का अभाव**—इन रचनाओं में इतिहास-प्रसिद्ध चरित्र-नायकों को लिया गया है किन्तु उनका वर्णन शुद्ध इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। इन कवियों के द्वारा दिये गये संवत् और तिथियाँ इतिहास से मेल नहीं खातीं बल्कि उस समय में लिखे गए संस्कृत काव्यों में दिए गये संवत् और घटनाओं से भी इनका मेल नहीं बन पाता। इन काव्यों में इतिहास की अपेक्षा कल्पना का बाहुल्य है। इतिहास के विषय को लेकर चलने वाले कवि से जो सावधानता अपेक्षित होती है, वह इन काव्य निर्माताओं में नहीं। अतिरंजनापूर्ण शैली इस दिशा में एक ओर महाव्याघात सिद्ध हुई है। इन चारण कवियों को अपने आश्रयदाताओं को राम, कृष्ण, नल, युधिष्ठिर आदि से उत्कृष्ट बताना एवं सर्वविजेता घोषित करना अभिप्रेत था, अतः इतिहास को अतिशयोक्ति तथा कल्पना पर न्यौछावर कर दिया। यहाँ तक कि पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज को उन राजाओं का भी विजेता कहा गया है जो उससे कई शताब्दियों पूर्व अथवा पश्चात् विद्यमान थे। अस्तु! इस दिशा में संस्कृत साहित्य का जागरूक कवि भी सफल नहीं उतर सका है फिर हासोन्मुख काल के चारण कवि से इसकी क्या आशा की जा सकती है। आदर्शवाद का दृष्टिकोण इस दिशा में पग-पग पर आकर अड़ गया है।

3. **युद्धों का सजीव वर्णन**—युद्धों का वर्णन इन ग्रन्थों का प्रमुख विषय है और यह वर्णन इतना सजीव बन पड़ा है कि कदाचित् संस्कृत साहित्य भी इस दिशा में इन काव्यों की होड़ नहीं कर सकता। इन काव्यों में

युद्धों का वर्णन अत्यंत मूर्तिमान बिम्बग्राही रूप से हुआ है। कारण चारण कवि केवल मसिजीवी नहीं था करवाल-ग्राही भी था। आवश्यकता पड़ने पर वह स्वयं भी समरस्थल में जूझा करता था और युद्ध के विकट दृश्यों को अपनी खुली आंखों से देखा करता था। वह समय भीतरी कलहों और बाहरी आक्रमणों का समय था अतः अपने आश्रयदाताओं को युद्धों के लिए उत्तेजित करना उस काल के कवि का प्रमुख कर्तव्य-सा बन गया था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस संबंध में लिखते हैं—“लड़ने वालों की संख्या कम थी क्योंकि लड़ाई भी जाति विशेष का पेशा मान ली गई थी। देश रक्षा के लिए या धर्म रक्षा के लिए समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों, सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच चैन से रहना असंभव हो गया था क्योंकि उत्तर, पूरब, दक्षिण, पश्चिम सब ओर से आक्रमण की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग थे। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का आविष्कार।”

इन चारण कवियों ने युद्धों के कारण के लिए किसी-न-किसी स्त्री की कल्पना कर ली थी। उसकी प्राप्ति के लिए युद्ध हो जाया करते थे। उस समय की प्रचलित काव्य परिपाटी थी। रुक्मिणी और उषा आदि के हरण के पौराणिक वृत्तों उस समय भी लोगों को भूले नहीं थे। उस समय के संस्कृत कवि विल्हण कृत विक्रमांकदेव चरित में भी विवाहों और युद्धों का खुलकर वर्णन है। कहीं-कहीं पर ऐसे वर्णनों में वर्णनात्मक वस्तु परिगणन शैली को अपनाया गया है। ऐसे वर्णनों में भावोन्मेष की कमी है। निःसंदेह यहाँ युद्धों का मूल कारण नारी है किन्तु उसे केवल रमणी रूप में ही प्रस्तुत नहीं किया गया, उसका वीर महिला रूप भी दर्शाया गया है।

4. संकुचित राष्ट्रीयता—चारण कवियों ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा का मुक्त कंठ से गान किया है। जीविका प्राप्ति के लिए उसे अनधिकारी राजाओं एवं सामन्तों की भी प्रशंसा की है। देशद्रोही जयचन्द के गुणानुवादक भी उस समय विद्यमान थे। भट्ट केदार ने ‘जयचन्द प्रकाश’ लिखा और मधुकर ने ‘जयमयंक जस चन्द्रिका’ नामक ग्रन्थ लिखा। उस समय राष्ट्र शब्द से समूचे भारत का अर्थ नहीं लिया गया बल्कि अपने-अपने प्रदेश एवं राज्य का ही अर्थ ग्रहण किया गया। अजमेर और दिल्ली के राज-कवि को कन्नौज अथवा कालिंजर के समृद्ध अथवा उजाड़ हो जाने पर कोई हर्ष एवं विषाद नहीं होता था। उस समय के राजाओं ने अपने सौ-पचास गांवों को राष्ट्र समझ रखा था तो फिर उनके आश्रित कवियों को उन्हीं के पदचिह्नों पर ही चलना था। वस्तुतः यह देश का एक महादुर्भाग्य था। यदि उस समय राष्ट्रीयता का व्यापक रूप होता तो निश्चय था कि हमारे देश का मानचित्र आज कुछ और होता।

5. वीर और शृंगार रस—इन वीरगाथाओं में वीर तथा शृंगार रस का अद्भुत सम्मिश्रण है। वीर रस का तो इतना सुंदर परिपाक हुआ है कि कदाचित् परवर्ती हिन्दी साहित्य में वीर रस का इतना पुष्ट रूप मिलना दुर्लभ है। उस समय युद्ध का बाजार चारों ओर गरम था। आबाल-वृद्ध में युद्ध के लिए अदम्य उत्साह था। उस समय की वीरता का आदर्श इन पंक्तियों में स्पष्ट हो जाता है—

बारह बरस लै कूकर जिये, और तेरह लौं जिये सियार।

बरस अठारह छत्री जीवे, आगे जीवन को धिक्कार॥

युद्धों का मूल कारण नारी को कल्पित कर लिया गया। अतः शृंगार रस का भी इस साहित्य में जमकर वर्णन मिलता है। रासो ग्रन्थों में चर्चित नर-नारी प्रेम विलास या वासना से ऊपर नहीं उठ सका है। वीर रस की दीप्ति के लिए लिखे गये वीरता के पद भी वासनात्मक प्रवृत्ति को उत्तेजित करने के हेतु आए हैं। युद्धों का एकमात्र कारण नारी-लिप्सा है। उक्त ग्रन्थों में निरूपित युद्धों के मूल में उदात्त प्रेम भावना या राष्ट्रीयता का सहज उल्लास नहीं है। अस्तु! वीर और शृंगार जैसे दो विरोधी रसों का समावेश इस साहित्य में इतने सुंदर ढंग से किया गया है कि कहीं भी विरोध आभासित नहीं होता। वस्तुतः यह बात उस समय के कलाकार की जागरूकता की परिचायक है।

वीरगाथाओं में शांत तथा हास्य रस को छोड़कर अन्य सभी रसों का समावेश है। शृंगार रस के वर्णन के अंतर्गत इन्होंने षट्-ऋतु वर्णन, नखशिख वर्णन आदि काव्य रूढ़ियों का भी सम्यक् निरूपण किया है।



क्या आप जानते हैं?

वीरगाथाएं मुक्तक और प्रबंध दोनों रूपों में मिलती हैं। प्रथम रूप का प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ बीसलदेव रासो है और दूसरे का प्राचीन पृथ्वीराज रासो।

नोट

6. प्रकृति चित्रण—इस साहित्य में प्रकृति का आलंबन और उद्दीपन दोनों रूपों में चित्रण मिलता है। नगर, नदी, पर्वत आदि का वर्णन भी शोभन बन पड़ा है। प्रकृति के स्वतंत्र रूप में चित्रण के स्थल इन काव्यों में थोड़े ही मिलते हैं। अधिकतर उसका उपयोग उद्दीपन रूप में किया गया है। प्रकृति-चित्रण की जो उदार शैली छायावादी युग में मिलती है वह इस काल में नहीं। कहीं-कहीं तो इन्होंने प्रकृति-चित्रण में नाम परिगणन शैली को अपनाया है जहाँ रसोद्रेक के स्थान पर नीरसता आ गई है।

7. रासो ग्रन्थ—इस साहित्य के सभी ग्रन्थों के नाम के साथ रासो शब्द जुड़ा हुआ है जोकि काव्य शब्द का पर्यायवाची है। कुछ लोग रासो का संबंध रहस्य अथवा रसायन जोड़ते हैं किन्तु यह भ्रामक है। मूल रूप में रासक एक छन्द है जिसका प्रयोग अपभ्रंश साहित्य में सन्देश रासक आदि ग्रन्थों में मिलता है। फिर इसका प्रयोग गेय रूपक के अर्थ में होने लगा। पीछे इस शब्द का प्रयोग चरित काव्य एवं कथा काव्य के लिए होने लगा। रासो नाम के चरित काव्यों में से कुछ का उपयोग गाने के लिए अधिकतर होने लगा, इससे जनवाणी ने इनको धीरे-धीरे अपने-अपने समय के अनुरूप करते-करते इनका पुराना रूप ही बदल दिया। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आल्हा खंड है।

8. काव्य के दो रूप—वीरगाथाएं मुक्तक और प्रबंध दोनों रूपों में मिलती हैं। प्रथम रूप का प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ बीसलदेव रासो है और दूसरे का प्राचीन पृथ्वीराज रासो। इन दो रूपों के अतिरिक्त उस साहित्य में और कोई दूसरा काव्य रूप नहीं है। उसमें काव्य रूपों की विविधता का अभाव है। न तो उस समय दृश्य काव्य था और न ही गद्य का प्रचलन था। उस समय की कुछ रचनाएँ अप्रामाणिक और कुछ अर्द्ध-प्रामाणिक और नोटिस मात्र हैं। भट्ट केदार का 'जयचन्द प्रकाश' तथा मधुकर प्रणीत 'जयमयंक जस चन्द्रिका' दोनों इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। इसका उल्लेख मात्र ही 'राठौड़ां री ख्यात' में मिलता है।

9. इस काल में काव्य के उक्त दो रूपों के अतिरिक्त फुटकर रूप में गद्य लिखे जाने के भी संकेत हैं। राउलवेल (चम्पू), उक्ति-व्यक्ति प्रकरण तथा वर्ण-रत्नाकर नामक रचनाएँ इस दिशा में उल्लेखनीय हैं। राउलवेल में राजकुमारी के नखशिख का वर्णन है। उक्ति व्यक्ति प्रकरण व्याकरण संबंधी ग्रंथ हैं और वर्णरत्नाकर तत्कालीन भारत का कोणात्मक ग्रंथ है। इन ग्रन्थों से गद्य धारा की अखंडता सूचित होती है।

10. जनजीवन से सम्पर्क नहीं—इन ग्रन्थों में सामन्ती जीवन उभरकर आया है। इनका जीवन के साथ कोई संबंध नहीं है। राजदरबारी कवि से जनजीवन की विस्तृत व्याख्या की आशा भी नहीं की जा सकती है। वीरगाथाओं तथा रीतिग्रन्थों के कवियों ने स्वामिनः सुखाय काव्यों की सृष्टि की है, अतः उनमें साधारण जनजीवन के घात-प्रतिघातों का अभाव है।

11. छन्दों का विविधमुखी प्रयोग—इस साहित्य में छन्द क्षेत्र में तो मानो एक क्रांति ही हो गई। छन्दों का जितना विविधमुखी प्रयोग इस साहित्य में हुआ है उतना इसके पूर्ववर्ती साहित्य में नहीं हुआ। दोहा, तोटक, तोमर, गाथा, गाहा, पद्धरि, आर्या, सट्टक, रोला, उल्लाला और कुण्डलिया आदि छन्दों का प्रयोग बड़ी कलात्मकता के साथ किया गया है। यहाँ छन्द परिवर्तन केशव की रामचन्द्रिका के समान चमत्कार-प्रदर्शन के लिए नहीं हुआ प्रत्युत अतिशय भाव द्योतन के लिए हुआ है। इस परिवर्तन में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं है। आचार्य हजारी प्रसाद के शब्दों में—“रासो के छन्द जब बदलते हैं तो श्रोता के चित्त में प्रसंगानुकूल नवीन कम्पन उत्पन्न करते हैं।”

12. डिंगल और पिंगल भाषा—इन काव्यों की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता है डिंगल भाषा का प्रयोग। उस समय की साहित्यिक राजस्थानी भाषा को आज के विद्वान डिंगल नाम से अभिहित करते हैं। यह भाषा वीरत्व के स्वर के लिए बहुत उपयुक्त भाषा है। चारण अपनी कविता को बहुत ऊँचे स्वर में पढ़ते थे और डिंगल भाषा उसके उपयुक्त थी। उस समय की अपभ्रंश मिश्रित साहित्यिक ब्रजभाषा पिंगल के नाम से अभिहित की जाती है। इन काव्यों में संस्कृत के तत्सम तथा तद्भव शब्दों के अतिरिक्त अरबी और फारसी के भी शब्द पाये जाते हैं। तद्भव शब्दों का प्रयोग बहुलता से मिलता है क्योंकि यह प्रवृत्ति डिंगल भाषा के अनुकूल पड़ती है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के समान डिंगल भाषा के अधिकांश रूप संश्लिष्ट हैं।

इन वीर काव्यों की परंपरा अगली कई शताब्दियों तक चलती रही। भक्तिकाल में पृथ्वीराज, दुरसा जी, बांकीदास और सूर्यमल ने डिंगल भाषा में वीर काव्य प्रस्तुत किये। केशव और तुलसी के काव्यों में भी वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इस दिशा में रीतिकाल में भूषण, सूदन और लाल के अतिरिक्त पद्माकर, गुरु गोविन्द सिंह, सबलसिंह, गोकुलनाथ, श्रीधर, जोधराज और चन्द्रशेखर के नाम उल्लेखनीय हैं। आधुनिक युग में

मैथिलीशरण गुप्त और रामधारी सिंह दिनकर राष्ट्रीय कवि कहलाते हैं। वियोगी हरि और श्यामनारायण पांडे में वीर रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। प्रगतिवादी साहित्य में भी वीर रस का सराहनीय प्रयोग हुआ है।

महत्त्व—इस साहित्य का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह साहित्य अत्यंत उपादेय है। इसमें वीर तथा शृंगार रस का सुन्दर परिपाक बन पड़ा है। निःसंदेह इन ग्रन्थों में अतिरंजनापूर्ण शैली के प्रयोग से इतिहास दब-सा गया है परन्तु फिर भी राजस्थान का इतिहास इन ग्रन्थों में अवश्य निहित है, जिसका उपयोग थोड़ी सतर्कता के साथ किया जा सकता है। डॉ. श्यामसुन्दर दास के इस वीरगाथा साहित्य के संबंध में कहे गये शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं—“इस काल के कवियों का युद्ध वर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि इनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रासगर्भित, किन्तु निर्जीव रचनाएँ नकल-सी जान पड़ती हैं। कर्कश पदावली के बीच वीर भावों से भरी हिन्दी के आदि युग की यह कविता सारे हिन्दी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती।”

इस संबंध में **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** लिखते हैं—

“भक्ति साहित्य हमें प्रत्येक प्रांत में मिलता है। सभी स्थानों के कवियों ने अपने ढंग से राधा और कृष्ण के गीतों का गान किया है, परन्तु अपने रक्त से राजस्थान ने जिस साहित्य का निर्माण किया है वह अद्वितीय है और उसका कारण भी है। राजपूताने के कवियों ने जीवन की कठोर वास्तविकताओं का स्वयं सामना करते हुए युद्धों के नक्कारों की ध्वनि के साथ स्वाभाविक काव्यगान किया। उन्होंने अपने सामने साक्षात् शिव के तांडव की तरह प्रकृति का नृत्य देखा था। क्या कोई कल्पना द्वारा उस कोटि के काव्य की कल्पना कर सकता है? राजस्थानी भाषा के प्रत्येक दोहे में जो वीरत्व की भावना है और उमंग है, यह राजस्थान की मौलिक निधि है और समस्त भारतवर्ष के गौरव का विषय है। यह स्वाभाविक, सच्ची और प्राकृत है।”

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

- प्रत्येक सिद्ध के नाम के पीछे शब्द जुड़ा है।
 (क) 'पा' (ख) 'ता'
 (ग) 'शा' (घ) 'मा'
- चौरासी सिद्धों का समय तक माना गया है।
 (क) 797 से 1257 (ख) 787 से 1247
 (ग) 777 से 1157 (घ) 877 से 1057
- ईसा की में बौद्ध धर्म महायान तथा हीनयान दो शाखाओं में विभाजित हुआ।
 (क) द्वितीय शताब्दी (ख) प्रथम शताब्दी
 (ग) तृतीय शताब्दी (घ) चतुर्थ शताब्दी
- भक्तिकाल में पृथ्वीराज, दुरसा जी, बांकीदास और सूर्यमल ने भाषा में वीर काव्य प्रस्तुत किए।
 (क) राजस्थानी (ख) डिंगल
 (ग) पिंगल (घ) अवधी

7.7 रासो तथा डिंगल एवं पिंगल

रासो—रासो शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किया है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी इतिहासकार गार्सा द तॉसी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति राजसूय शब्द से मानी है। उनका कहना है कि चारण काव्यों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख है और इसी कारण इनका नाम रासो पड़ा होगा। किन्तु उनका यह मत संगत प्रतीत नहीं होता। पहली बात तो यह है कि इन सभी चरित्र-काव्यों में राजसूय यज्ञ का उल्लेख नहीं है। दूसरी बात अपभ्रंश साहित्य की ऐसी रचनाएँ जहाँ केवल प्रेम का वर्णन है उनका नाम भी रासक है, उदाहरणार्थ संदेशरासक

नोट

आदि। बीसलदेव रासो में केवल प्रेम का वर्णन है। वहाँ न तो आश्रयदाता: की दिग्विजय का उल्लेख है और न ही तत्वसूचक शब्द का संकेत है।

कुछ विद्वानों ने रासो शब्द का संबंध रहस्य से जोड़ना चाहा है किन्तु यह ठीक नहीं है। इन ग्रन्थों में कोई गूढ़ दार्शनिक रहस्य नहीं है। दूसरे कुछ लोगों ने राजस्थानी तथा ब्रजभाषा को 'रासो' शब्द से जोड़ने का प्रयत्न किया है किन्तु यह भी निराधार है। राजस्थानी एवं ब्रज भाषा में रासो शब्द का अर्थ लड़ाई-झगड़ा है और इस रूप में इस शब्द की कोई सार्थकता इन चरित काव्यों के साथ दृष्टिगोचर नहीं होती है। निःसन्देह कुछ रासो ग्रन्थों में युद्धों और लड़ाई-झगड़ों का वर्णन है पर कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनमें शुद्ध रूप से प्रेम का वर्णन है। जैसे वीरगाथाओं में बीसलदेव रासो तथा अपभ्रंश साहित्य में सन्देश रासक आदि। इनमें युद्धों का अभाव होने पर भी इनका नाम रासो है।

नरोत्तम स्वामी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति रसिक शब्द से मानी है जिसका अर्थ प्राचीन राजस्थानी भाषा के अनुसार कथा-काव्य मिलता है। उसके अनुसार इस शब्द के रूप इस प्रकार हैं—रसिकरासरासो। परन्तु यह मत युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। निःसन्देह चारणों द्वारा रचित काव्यों में इस कल्पना की आंशिक सार्थकता सिद्ध हो जाती हो, किन्तु उन अपभ्रंश काव्यों का क्या बनेगा जिनका नामकरण रासक या रास है। इससे सिद्ध होता है कि यह शब्द दीर्घकाल से काव्य के अर्थ में एक विशिष्ट रूप में प्रयुक्त होता आ रहा था और उसी अर्थ में चारण काव्यों में इसका प्रयोग हुआ है।

आचार्य चन्द्रबली पांडेय ने रासो शब्द का संबंध संस्कृत साहित्य के रासक से माना है। संस्कृत साहित्य में रासक की गणना रूपक अथवा उपरूपक में हुई है। अपने मत के समर्थन के लिए उन्होंने पृथ्वीराज रासो के प्रारंभिक भाग का हवाला दिया है जहाँ नट और नटी की भाँति कवि चन्द और उसकी पत्नी के परस्पर नाटकीय वार्तालाप से ग्रंथ का श्रीगणेश हुआ है। पांडेय जी के अनुसार रासो ग्रन्थों का प्रणयन प्रदर्शन के निमित्त हुआ था। पृथ्वीराज के यश के गायन करने की इस प्रकार प्रथा थी। यह तर्क भी हमें सबल दिखाई नहीं देता है। हिंदी और अपभ्रंश के कई रासो नामधारी ग्रंथ हैं जिनका आरंभ इस नाटकीय पद्धति से नहीं हुआ है किन्तु फिर भी वे रासो नाम से अभिहित किये जाते हैं।

कुछ विद्वानों ने रासो शब्द का संबंध रास या रासक से जोड़ा है जिसका अर्थ है—ध्वनि, क्रीड़ा, शृंखला, विलास, गर्जन और नृत्य। इस मत में दूर की कौड़ी पकड़ने का ही प्रयास किया गया है और कुछ नहीं। कतिपय वीर काव्यों में इन गुणों को देखकर यह नामकरण कर दिया गया है। इसका कोई भी वैज्ञानिक आधार नहीं।

अन्य विद्वानों ने रासो शब्द का संबंध रसिया शब्द से माना है जिसका अर्थ है भद्दा शृंगार। इस विषय में सबसे पहली बात तो यह है कि रासो ग्रंथों में शृंगार का भद्दा रूप नहीं है और रासो ग्रंथों में ऐकान्तिक रूप से शृंगार हो ऐसा भी नहीं है। फिर अपभ्रंश साहित्य के कई ऐसे रासक ग्रन्थ हैं जिनमें केवल धार्मिक उपदेश ही है।

पं. रामचन्द्र शुक्ल ने रासो शब्द का संबंध रसायन से माना है जो कि बीसलदेव रासो में काव्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। शुक्ल जी ने अपने मत के समर्थन में बीसलदेव रासो की एक पंक्ति भी उद्धृत की है—“नाल्ह रसायन आरम्भई शारदा तुठी ब्रह्म कुमारि।”

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस संबंध में कहा है कि रासक एक छन्द भी है और काव्य भेद भी। काव्य के इस बंध में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ करता था। पृथ्वीराज रासो उसी परंपरा का काव्य है। आदिकाल की वीरगाथाओं में चारण कवियों द्वारा निर्मित चरित काव्यों के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है।

रास काव्य मूलतः छन्द का समुच्चय है। अपभ्रंश में 29 मात्रा का एक रासो या रास छन्द प्रचलित था। ऐसे अनेक छन्दों के गाने की परिपाटी कदाचित् लोक में भी रही होगी। एक रसता के निवारणार्थ बीच-बीच में दूसरे छन्द जोड़ने अथवा गाने की प्रथा चल निकली। सन्देश रासक इसका उदाहरण है। रास काव्य मूल रूप से रासक छन्द प्रधान काव्य रहे होंगे। आगे चलकर रास काव्य का ऐसा रूप निश्चित हो गया जिसमें किसी भी गेय छन्द का प्रयोग किया जा सकता था। भाव की दृष्टि से रास काव्य फिर भी प्रेम प्रधान रहे। हिंदी का बीसलदेव रासो ऐसा ही रास काव्य है जिसमें रासकेतर छन्द का प्रयोग हुआ है फिर भी वह प्रेम-प्रधान है। आगे चलकर काव्य का यह रूप कोमल भावों के अतिरिक्त अन्य विचारों के वाहन का साधन बना। प्रेम भाव के साथ इसमें वीरों की गाथाओं का सम्मिश्रण हुआ। जिस प्रकार अंग्रेजी का सॉनेट मूलतः प्रेम भावों का काव्य था किन्तु आगे चलकर उसे अन्य भावों का भी वाहन बना लिया गया। यही दशा अपभ्रंश और हिंदी के रासो काव्य की समझनी चाहिए। अपभ्रंश में इस प्रकार के कई काव्य हैं जैसे—बाहुबलिरास, समररास आदि और हिन्दी में ऐसे रासो काव्यों का प्रतिनिधि है पृथ्वीराज रासो।

अपभ्रंश के आचार्यों ने दो प्रकार के रास काव्यों का उल्लेख किया है—कोमल और उद्धत। उन्होंने इन दोनों के मिश्रण से बनने वाले रास काव्य की चर्चा की है। यह भेद रास रूपकों के किए गये किन्तु ये रास काव्यों के विषय में भी समान रूप से लागू होते हैं। एकदम युद्ध प्रधान रास काव्य का उदाहरण हिन्दी में हम्मीर रासो तथा अपभ्रंश में बाहुबलिरास है। इन भावों के लिए निश्चित हुआ काव्य का रूप अन्य प्रकार के भावों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। जिनदत्त सूर के ‘उपदेश रसायन रास’ में केवल धर्मोपदेश है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप से कह सकते हैं कि रासो शब्द का प्रयोग सामान्य रूप में प्रयुक्त हुआ है। रास अथवा रासिक नामक एक सामान्य गेय छन्द ने इतने रूप बदले। अस्तु, विद्वानों का दूसरा वर्ग अपभ्रंश का नृत्य-गीतपरक परंपरा को रासो ग्रंथों का मूल मानता है। उक्त दोनों मत प्रायः मान्य हैं।

आधुनिक गवेषणाओं के फलस्वरूप अब हिंदी-साहित्य में प्रयुक्त रहस्यात्मक शब्द, रास, रासक अथवा रासों का अर्थ सही संदर्भों में खुलने लगा है। ईसा से कई शताब्दियों पूर्व रचित वात्स्यायन के कामसूत्र में प्रेमी युगल के परस्परिक अनुराग में विश्वासात्मकता की वृद्धि के लिए कतिपय साधन निर्दिष्ट किये गये हैं—

(1) परस्पर प्रीति करै: आत्मभावानुवर्तनैः।

क्षणात् क्रोध परावृत्तैः क्षणात् प्रीति विलोकितैः॥

(2) हल्लीसक क्रीडनकैः गायनैः लाटरासकैः।

राग लोलाद्रनयनैः चन्द्रमंडल वीक्षणैः॥

का. सू. अधि. 2अ. 10 श्लो. 11-12

स्त्री-पुरुष के परस्पर प्रीतिकर आत्मानुप्रेरित आलिंगनादि क्षणिक प्रणय कलहजन्य क्रोध से पराङ्मुख प्रेमी-प्रेमिका के आनन्दप्रद परस्पर प्रीति कारक विलोकन आदि से पारस्परिक उत्तरोत्तर प्रेम में वृद्धि होती है।

हल्लीसक-क्रीडन आदि देशीय खेलों से परिपूर्ण लय ताल रसात्मक गीतों से (हल्लीसक को गायनात्मक नृत्य शिद्धा कहा जा सकता है। कृष्णनेता युक्त गोपी समुदाय का रास नृत्य) लाट व रासक देशीय श्रवण प्रिय, मधुर गीतों से (लाट से कदाचित् प्राक्कालीन काश्मीर तथा रासक से उससे संबद्ध क्षेत्रों-त्रिगर्त, सप्तसिंधु उत्तर प्रदेश, राजस्थान व मध्य प्रदेश के कतिपय अंचल) परस्पर प्रेम से भीगे चंचल, नयन कोरों से, दूध धुली मधुर-मादक चौदनी और चंद्रमंडल के नजारों से ओतप्रोत हृदयहारी मधुर गीतों से प्रेम में प्रगाढ़ वृद्धि होती है। शहरों की लंबी यात्रा में जैसे नट नागरक से नागर शेष रह गया वैसे ही रासक का अवशेष रास ही रह गया जिसका मुख्य लक्ष्य प्रणयात्मक गीतों से क्रमशः प्रेमी-युगल का प्रेम विवर्धन था। आगे चलकर ऐतिहासिक उथल-पुथल के युग में शृंगार प्रधान रासक रासात्मक गीतों में प्रणय कलह का स्थानापन्न वीर रस हो गया जिसका प्रधान लक्ष्य वीर यशोमयी गाथाओं की चर्चा अनिवार्य थी वह शनैः-शनैः शृंगारात्मकता का अभिन्न अंग बनता चला गया। किन्तु इस संदर्भ में स्मरणीय बात यह है कि रासो या रास, नामधारी काव्यों में शृंगार की स्वतंत्र चर्चा भी होती रही उदाहरणार्थ बीसलदेव; रासो संदेश रासक आदि। और कतिपय महनीय कृतिका में इन दोनों रसों का भव्य समन्वय भी चलता रहा। कदाचित् यही कारण है कि रास, रासोनामधारी जैन-कवियों की कृतियों में शृंगारिक-रति के साथ शान्त-रसोन्मुख निवृत्तियी विरति का भी समावेश होने लगा। वीर रस प्रधान पृथ्वीराज रासो में वीर तथा शृंगारात्मक रसों की झिलमिलाहट दर्शनीय है। इसके अतिरिक्त इन विभिन्न रसाप्लुत, रासो नामधारी ग्रंथों में प्राचीन भारतीय काव्य की विशाल परंपराओं, रूढ़ियों एवं मर्यादाओं का सम्यक् परिपालन किया गया है।

इस संदर्भ में अनेक संभ्रान्त व सामान्य विद्वानों के मतों का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। नानाविध विद्वानों द्वारा विभिन्न संदर्भों में चर्चित रासो शब्द, भारतीय इतिहास के एक अतीव लंबे दौर की यात्रा करते हुए हम यहाँ तक पहुँचे हैं। अस्तु: इतना तो निश्चित है कि इस शब्द की दीर्घकालीन यात्रा का आरंभ बिन्दु कामसूत्र में प्रयुक्त रासक शब्द में सन्निहित है और यह शब्द अपने गर्भ में अनेक पड़ावों के बदलावों को समाहित किये हुए है। शब्दों की उच्चावच भाषा भी कितनी मनोरंजन होती है। ऊपर हम लाट देश की चर्चा कर चुके हैं। प्राचीन काम में काश्मीर लाट देश की संज्ञा से अभिहित होता था और वह अपने सुगायन के लिए प्रसिद्ध था। काव्यशास्त्रीय विकास इस बात का साक्ष्य है कि संस्कृत कृतियों के प्रणयन के लिए विभिन्न मार्ग पद्धतियाँ-वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली प्रचलित थीं किन्तु कालान्तर में सुगायन की योग्यता के कारण इस लाटी रीति का उक्त काव्य की पद्धतियों-वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली आदि में परिगणन कर लिया गया है। कामसूत्र में विशेष के रूप में प्रयुक्त लाट रासकैः का प्रयोग उक्त तथ्यों को अभिव्यक्त करता है।

रास या रासो के संबंध में स्वनामधन्य स्व. डॉ. गणपति चन्द्र के ‘हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास’ में से कतिपय अंश-समुद्धरणीय है—रास काव्य की परंपरा का अध्ययन आरंभ करने से पूर्व हमें रासो की व्युत्पत्ति

नोट

एवं अर्थ स्पष्ट कर लेना चाहिए। इस शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में विद्वानों में गहरा मतभेद रहा है। गार्सा दा तॉसी ने इसका संबंध 'राजसूय' से स्थापित किया है तो आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बीसलदेव रासो में बार-बार प्रयुक्त रसायन शब्द से रास या रासो की व्युत्पत्ति सिद्ध की है किन्तु अब ये दोनों ही प्रयास अमान्य समझे जाते हैं। इधर दशरथ शर्मा; डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ. माताप्रसाद गुप्त प्रभृति विद्वानों ने संस्कृत के रासक से ही रास का संबंध सिद्ध किया है। प्राकृत अपभ्रंश के नियमानुसार रासक से रासअ, रासउ, रास आदि रूप विकसित हो जाते हैं जबकि राजस्थानी में प्रायः अकारान्त संज्ञाएँ ओकारान्त हो जाती हैं, अतः इसमें रास, रासा के स्थान पर रासो का प्रयोग होना स्वाभाविक है। इस प्रकार रास, रासा रासु रासो आदि शब्द मूलतः रासक-नृत्य विशेष, छन्द विशेष और गायन विशिष्ट काव्य के ही परिवर्तित और विकसित रूप हैं। डॉ. गुप्त ने आगे चलकर संकेतित किया है कि "संस्कृत साहित्य में रासक संज्ञा का प्रयोग प्रायः एक ही समय तीन अर्थों में होता रहा है—(क) गेय काव्यों, (ख) नृत्य विशेष के लिए; और (ग) रूपक-विशेष के भेद के लिए।" इससे सहज अनुमेय है कि प्रेमीयुगल के प्रीति वर्धक गायनात्मक रासक का प्रयोग नृत्य और अभिनय के साथ होता रहा होगा। हम मंडलीबद्ध नृत्य का उदाहरण गोपीजन-कान्ह के रूप में दे चुके हैं और सप्त सिन्धु प्रदेश में प्रचलित गिद्धा के वर्तमान स्वरूप की चर्चा कर चुके हैं। "संघपति समरा रास" नामक काव्य में रास के पद में गुनने एवं नाचने का उल्लेख किया गया है। बीसल देवरासो में दो प्रकार की नृत्य मंडलियों के द्वारा बांसुरी-वादन ताल और घुंघरू के साथ रास प्रकाशित करने की विधि का उल्लेख किया गया है—

गावणहार माँडड़ रंगाई रास कई (सम) यह बँसली बाई।

ताल कई समचई घूँघरी, मोहिली माँडली छीदा होइ।

बारली माँडली सांघजां, रास प्रकास ईणी विधि होइ।

आगे चलकर डॉ. गुप्त लिखते हैं—“रासक काव्य विशेष प्रकार के नृत्य एवं अभिनय आदि के लिए लिखे जाते थे इसलिए उनमें छन्द-वैविध्य का विशेष ध्यान रखा जाता था। इस बात का निर्देश एक ओर नवीं-दसवीं शताब्दी के आचार्यों ने तथा दूसरी ओर बारहवीं सदी के कवि अब्दुर्रहमान ने किया है। यथा विरहांक में लिखा है—“जिसमें बहुत से अडिल्ला, दुवहअ, मात्रा, रड्डा और डोसा छन्द होते हैं, ऐसी रचना रासक कहलाती है।” संभवतः इसी तथ्य को ध्वनित करते हुए दसवीं सदी के कवि स्वयंभू ने लिखा है—जिस काव्य में छत्ता छप्पय, पद्धडिया तथा अन्य रूपकों (वृत्तों) का (छन्दों) के कारण जन साधारण के मन का अभिराम होता है, वह रासाबंध काव्य कहलाता है” संदेश रासक के रचयिता का भी यही अभिमत है—“कह बहुरूवि जिबद्धउ रासउ भासिमइ” विविध छन्दों में निबद्ध रचना रासक भणित होती है। अस्तु! छन्दों के वैविध्य को रासक काव्य का अनिवार्य लक्षण समझना भ्रान्ति होगी, रागात्मकता तो उसका एक अनिवार्य घटक है ही! डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने 'हर्ष चरित के सांस्कृतिक अध्ययन' नामक बहुमूल्य पुस्तक में लिखा है—“बाण के हर्षचरित (7वीं सदी) में राजा हर्षवर्धन के जन्मोत्सव पर स्त्रियों के द्वारा ऐसे अश्लील रासक पदों के गाये जाने का उल्लेख है जिन्हें सुनकर विट लोग (नागरिक की शरण में रहने वाले आमोद-प्रमोद-प्रिय-वट् वोट विदूषक आदि नर्म-सचिव) ऐसे हुलस रहे थे, मानो कानों में अमृत रस घोला जा रहा हो” ऐसी स्थिति में यह सहज अनुमेय है कि स्त्रियाँ गाने के साथ-साथ नृत्य एवं अभिनय भी करती होंगी। महाकवि बाण के हर्षचरित में मंडलाकार रासक नृत्य भी उल्लिखित है।

12वीं सदी के आचार्य हेमचन्द्र अपनी रचना काव्यानुशासन के—“अपभ्रंश भाषा के ग्राम्य रूप की चर्चा करते हुए कहा है कि इसमें रासक, डोम्बिका आदि श्रेणी के लोक-प्रचलित गेय और अभिनेय काव्य लिखे जाते हैं।” खैर इतनी विस्तृत चर्चा से एक बात तो नितान्त रूप से स्पष्ट है कि रासक में गायन, नृत्य, अभिनय और मनोरम वादन जैसे प्रीतिवर्धक तत्त्व समाविष्ट थे जो कामसूत्रकार के समय से लेकर मध्यकालीन नानाविध भाषाओं के काव्यों में यत्किंचित् परिवर्तित रूप में विद्यमान रहे।

डिंगल स्वरूप—साहित्यिक राजस्थानी भाषा को डिंगल के नाम से अभिहित किया जाता है। भाषा विकास की दृष्टि से यह भाषा एक ओर पतनोन्मुखी प्राकृत और अपभ्रंश तथा दूसरी ओर विकासोन्मुखी ब्रजभाषा के बीच की साहित्यिक भाषा है। बोलचाल की राजस्थानी भाषा का परिमार्जित साहित्यिक रूप डिंगल कहलाया।

व्युत्पत्ति—डिंगल शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में भी विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं—

1. डॉ. एल. पी. टैसीटरी—डिंगल शब्द का असली अर्थ अनियमित अथवा गंवारू लेते हैं। ब्रजभाषा परिमार्जित तथा व्याकरणसम्मत थी, पर डिंगल भाषा इस संबंध में स्वतंत्र थी। पिंगल के समय के आधार पर इस भाषा का नाम डिंगल पड़ा।

समीक्षा—उक्त भाषा गँवारू नहीं थी बल्कि सुशिक्षित चारण वर्ग की साहित्यिक भाषा थी। इसे अनियमित कहना भी संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि इसका भी एक सुव्यवस्थित व्याकरण था। रही पिंगल के साम्य के आधार पर इसके नामकरण की बात तो भाषा विकास की दृष्टि से ङिगल पिंगल की अपेक्षा पहले आती है। ब्रजभाषा के साहित्यिक रूप का पता लगभग 14वीं शताब्दी में मिलता है।

2. हरप्रसाद शास्त्री—इनका कहना है कि प्रारंभ में इस भाषा का नाम 'डगल' था, परन्तु बाद में पिंगल से तुक मिलाने के लिए ङिगल कर दिया गया। उन्होंने अपने मत के समर्थन के लिए 'दोसे जंगल डगल जेय' आदि पद भी उद्धृत किया है।

समीक्षा—यहां पर प्रश्न यह है कि आरंभ में ङिगल का नाम डगल क्यों था? राजस्थानी भाषा में डगल शब्द का अर्थ मिट्टी का ढेला या अनगढ़ पत्थर है। यदि ङिगल भाषा अनगढ़ एवं अव्यवस्थित थी तो किस सुव्यवस्थित भाषा की तुलना में इसे यह संज्ञा दी गई, क्योंकि ब्रजभाषा का साहित्यिक प्रौढ़ रूप 14वीं सदी तक नहीं बन पाया था और फिर चारण कवि अपनी साहित्यिक भाषा को डगल या अनगढ़ क्यों कहने लगा था?

3. गजराज ओझा ने ङिगल भाषा के नामकरण का आधार इसमें पाई जाने वाली 'डकार' वर्णों की बहुलता को बताया है। फिर पिंगल के आधार पर इसका नाम ङिगल पड़ा। जिस प्रकार पिंगल अलंकार प्रधान है उसी प्रकार ङिगल डकार प्रधान है।

समीक्षा—पहली बात तो यह है कि ङिगल भाषा में डकार वर्ण की कोई ऐसी बहुलता नहीं है जिसके आधार पर इसका नामकरण किया जा सके। ङिगल काव्य में वीर, रौद्र और वीभत्स रसों के प्रसंग में निःसंदेह कर्णकटु शब्द आये हैं किन्तु उसमें विशेषतः डकारात्मक शब्दों की प्रधानता हो, ऐसी बात नहीं। दूसरी बात यह भी है कि भाषा-विज्ञान के समूचे इतिहास में एक भी ऐसी मिसाल नहीं मिलेगी जहां किसी विशेष वर्ण के आधार पर किसी भाषा का नामकरण हुआ हो।

4. पुरुषोत्तम स्वामी ने ङिगल शब्द की व्युत्पत्ति डिम+गल से मानी है। डिम का अर्थ डमरू की ध्वनि और गल का अर्थ गला होता है। डमरू की ध्वनि युद्ध में वीरों का आह्वान करती है। डमरू वीर रस के देवता महादेव का बाजा है। जो कविता गले से निकलकर डिम-डिम की तरह वीरों के हृदयों को उत्साह से भर दे उसी को ङिगल कहते हैं।

समीक्षा—यह मत भी तर्कसंगत नहीं है, न ही तो डमरू की ध्वनि उत्साहवर्द्धक मानी गई है और न ही महादेव वीरत्व के देवता हैं। वीर रस के देवता इन्द्र हैं और रौद्र रस के देवता महादेव हैं। डमरू वानरों के खेल-तमाशों में बजाया जाता है। युद्ध में उत्साह के लिए नगाड़ों का उपयोग किया जाता है।

5. राजस्थान में प्रचलित मतानुसार ङिगल शब्द की व्युत्पत्ति डिंभ+गल से मानी जाती है। डिंभ का अर्थ बालक और गल का अर्थ गला। इस प्रकार ङिगल का अर्थ बालक की भाषा है। जैसे प्राकृत किसी समय बाल भाषा कहलाती थी वैसे डिंभ-गल से ङिगल बनी।

समीक्षा—प्रत्येक भाषा के जीवन में बाल्य अवस्था हुआ करती है जबकि वह पनप रही होती है, किन्तु सब भाषाओं के प्रौढ़ साहित्यिक रूप का नामकरण फिर इस आधार पर क्यों नहीं हुआ? फिर चारण कवियों की परिमार्जित साहित्यिक भाषा को बाल-भाषा के हीन पद से अभिहित करना अनुचित भी है।

6. कुछ अन्य मत—(क) पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के अनुसार, ङिगल शब्द पिंगल के साम्य आधार पर बना है किन्तु इस शब्द का कोई विशेष अर्थ नहीं है। पिंगल के भेद करने के लिए इस श्रुतिकटु भाषा को ङिगल का नाम दे दिया गया है।

(ख) डॉ. श्यामसुन्दर दास पिंगल के अनुकरण पर ही इस शब्द को निर्मित मानते हैं। उनका कहना है कि यह एक मारवाड़ी शब्द है जो पिंगल के साम्य पर गढ़ा हुआ है।

(ग) **रामकरण आसोपा और ठाकुर किशोरी सिंह बारहठ** ने ङिगल शब्द की उत्पत्ति क्रमशः 'डांगे' और 'डीड' धातुओं से बताई है।

7. मोतीलाल मेनारिया ने ङिगल शब्द को डींगल से निःसृत माना है जिसका अर्थ डींग (दर्पोक्ति) से युक्त भाषा है। बोझिल, धूमिल आदि शब्दों के समान यहाँ भी 'ल' प्रत्यय युक्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मेनारिया के मतानुसार आरंभ में ङिगल चारण भातों की भाषा थी। इसमें वे लोग अपने आश्रयदाताओं के यश का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया करते थे और उनकी वीरता की बड़ी-बड़ी डींगें मारा करते थे। उस समय इस भाषा

नोट

को डींगल कहा करते थे और आज भी राजस्थान के वृद्ध चारणों में डींगल शब्द का ही प्रयोग प्रचलित है। मेनारिया जी का यह भी कहना है कि डींगल का डिंगल रूप अंग्रेजी के कारण हो गया है। डॉ. ग्रियर्सन आदि इस शब्द के उच्चारण से अपरिचित थे अतः उन्होंने अपने ग्रन्थों में दोनों हिज्जे एक तरह से लिखे—Pingala and Dingala। Pingala का उच्चारण हिंदी वाले पिंगल किया करते थे। अतएव यह समझकर कि डींगल का उच्चारण भी इसी प्रकार होगा। उन्होंने इसे डिंगल बोलना-लिखना शुरू कर दिया और इस प्रकार यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों में भी यही रूप प्रचलित हो निकला।

निष्कर्ष—उपर्युक्त मतों में मोतीलाल मेनारिया का मत अपेक्षाकृत अधिक संगत है। जब तक इस विषय में नवीन अनुसंधानों के द्वारा नवीन तथ्यों का उद्घाटन नहीं होता तब तक इसी मत पर संतोष करना होगा। आचार्य ग्रियर्सन की भूल से डिंगल रूप में व्यवहृत होने लगा, यह बात कुछ विचित्र एवं आश्चर्यजनक सी लगती है। उससे केवल इसी शब्द पर भूल हुई, या दूसरे शब्द पर वह भूल नहीं हुई। मेरे विचार में डींगल शब्द को पिंगल के साम्य के आधार पर डिंगल मान लेना अपेक्षाकृत अधिक समीचीन है। इस प्रकार हमें भी मेनारिया और डॉ. श्यामसुन्दर दास के संयुक्त मन्तव्य अपेक्षाकृत अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। डींग शब्द राजस्थानी भाषा में दर्पोक्ति के अर्थ में कब में प्रयुक्त होने लगा है, अभी यह बात अनुसंधान की अपेक्षा रखती है।

डिंगल राजस्थानी (मारवाजी) भाषा की एक शैली विशेष है। डिंगल शब्द राजस्थानी भाषा का पर्यायवाची शब्द नहीं है। इसे न तो राजस्थानी भाषा से पृथक् भाषा स्वीकार किया जा सकता है और न ही इसे राजस्थानी की एक उपभाषा। इस कारण भाषा को एक स्वतंत्र एवं वर्ग विशेष की भाषा मानना असंगत है। डिंगल को राजस्थानी की विभाषा कहना भी ठीक नहीं है। इसे राजस्थानी से पृथक् भाषा इसलिए भी स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका विकास राजस्थानी से पृथक् न होकर उससे अन्योन्य रूप से सम्बद्ध है।

वस्तुतः संस्कृत की समस्त और व्यास शैलियों के समान डिंगल भी राजस्थानी की एक शैली विशेष है। डॉ. महेश्वरी ने राजस्थानी की चार शैलियाँ स्वीकार की हैं—(क) जैन शैली, (ख) चारण शैली, (ग) सन्त शैली, (घ) लौकिक शैली। डिंगल को चारण शैली के अंतर्गत समझना चाहिए। यही कारण है कि चारण-शैली की अधिकांश रचनाएँ डिंगल नाम से अभिहित होने लगी हैं। चारणों ने युद्ध और शृंगार वर्णनों के लिए एक विशिष्ट काव्य संघटना अथवा रचना पद्धति का आश्रय लिया जिसमें वर्णों के द्वित्व छन्दों को एक विशेष रूप में ढालने तथा क्रियारूपों को प्रभावशाली बनाने की प्रबल प्रवृत्ति लक्षित होती है। इस शैली का व्यवहार केवल चारणों ने ही नहीं किया बल्कि पृथ्वीराज राठौर जैसे समर्थ कवियों ने भी इस रचना पद्धति का सफल प्रयोग किया है। सच यह है कि डिंगल मारवाड़ी की एक शैली मात्र है जिसका पोषण विशेषतः चारणों द्वारा हुआ जिस प्रकार संस्कृत काव्य रचना की पद्धतियाँ वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली संस्कृत भाषा से पृथक् भाषाएँ न होकर उसकी भिन्न-भिन्न रचना शैलियाँ हैं इसी प्रकार डिंगल भी राजस्थानी की एक शैली विशेष है।



टास्क आधुनिक युग में राष्ट्रीय कवि कौन कहलाते हैं?

पिंगल—चारणों द्वारा डिंगल और पिंगल दोनों भाषाएँ व्यवहृत हुई हैं। एक ही कवि द्वारा उसके साहित्य में इन दोनों का समान रूप से प्रयोग हुआ है। कभी-कभी ये दोनों भाषाएँ इतनी घुल-मिल गई हैं कि इनमें विभाजक रेखा खींचना कठिन व्यापार हो गया है। आज के भाषाशास्त्री के लिए इन दोनों भाषाओं के रूपों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना एक समस्या बनी हुई है। बल्कि कभी-कभी तो वह यह समझ बैठता है कि डिंगल और पिंगल दो स्वतंत्र भाषाएँ नहीं हैं वरन् एक ही भाषा के अंतर्गत हैं।

पिंगल भाषा के संबंध में अनेक विद्वानों ने अनेक मत प्रस्तुत किये हैं। यहाँ उनका अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

(1) डॉ. श्यामसुन्दर दास—“उसी प्रकार हिंदी के भी एक साहित्यिक सामान्य रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्यिक ग्रंथों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उससे व्याकरण आदि का निरूपण भी हो गया। हिन्दी के उस साहित्य रूप को उस काल में पिंगल कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा डिंगल थी। पिंगल भाषा में अधिकतर वे विद्वान रचना करते थे जो अपने ग्रन्थों में संयत भाषा तथा व्याकरणसम्मत प्रयोगों

के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे-धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बंधन भी जटिल होने लगे।”

समीक्षा—उक्त संदर्भ के अध्ययन के अनन्तर हमारा ध्यान कुछ मुख्य बातों की ओर आकृष्ट होता है—(क) पिंगल आदिकाल की साहित्यिक भाषा थी। (ख) यह एक व्याकरणसम्मत और संयत भाषा थी। (ग) उसके साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने पर क्रमशः उसमें नियमों और बंधनों की जटिलता आने लगी। हमारे विचार में ङिगल और पिंगल दोनों उस समय की साहित्यिक भाषाएँ थीं और इस रूप में दोनों का बराबर प्रयोग हुआ। दूसरी बात यह है कि पिंगल नियमबद्ध और व्याकरणसम्मत भाषा थी और ङिगल उसके अन्यथा। किन्तु सत्य यह है कि जब दोनों साहित्यिक भाषाएँ थीं तो दोनों का व्याकरणसम्मत होना ही संगत लगता है। क्योंकि किसी भी भाषा का साहित्यिक रूप व्याकरणसम्मत और परिमार्जित हुए बिना रह ही नहीं सकता। मात्रा का अंतर भले ही रह सकता है।

(2) **पं. रामचन्द्र शुक्ल**—“इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्य देश का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में पिंगल के नाम से पुकारी जाती थी।

समीक्षा—आचार्य शुक्ल के मत में बहुत-कुछ सत्य निहित है। आचार्य शुक्ल ङिगल भाषा के समान पिंगल को उस समय की एक मान्य साहित्यिक भाषा स्वीकार करते हैं। राजस्थानी भाषा का यह स्वरूप है जिसमें ब्रज तथा मध्य देश की भाषा का सम्मिश्रण हुआ और धीरे-धीरे उन प्रदेशों की भाषाओं के फलस्वरूप इसमें व्याकरणबद्धता और नियमानुकूलता आई।

(3) **डॉ. रामकुमार वर्मा**—“शौरसेनी अपभ्रंश से उत्पन्न ब्रज बोली में साहित्य की रचना बारहवीं शताब्दी से प्रारंभ हुई। उस समय इसका नाम पिंगल था। यह राजस्थानी साहित्य ङिगल के समान मध्य देश की साहित्यिक रचना का नाम था।”

समीक्षा—डॉ. वर्मा ने पिंगल और ब्रजभाषा को एक माना है। उनके मतानुसार पिंगल का मध्य देश से संबंध है, राजस्थान से कोई संबंध नहीं है। ये दोनों ही बातें निराधार प्रतीत होती हैं। पहली बात तो यह है कि पिंगल और ब्रजभाषा दोनों एक नहीं हैं, दूसरे पिंगल का राजस्थान से निश्चित रूप से संबंध है। यह अवश्य है कि मध्य देश की बोलियों का पिंगल पर आते प्रभाव पड़ा। पिंगल का साहित्यिक रूप ब्रजभाषा से प्रभावित अवश्य है किंतु पिंगल को ब्रजभाषा समझना एक भूल है।

(4) **मुंशी देवीप्रसाद**—“मारवाड़ी भाषा में गल्ल का अर्थ बात या बोली है। डींगा लंबे और ऊँचे को और पांगला पंगे या लूले को कहते हैं। चारण अपनी मारवाड़ी कविता को बहुत ऊँचे स्वरों में पढ़ते हैं और ब्रजभाषा की कविता धीरे-धीरे मंद स्वर में पढ़ी जाती है। इसलिए ङिगल और पिंगल संज्ञा हो गई, जिसको दूसरे शब्दों में ऊँची और नीची बोली की कविता कह सकते हैं।”

समीक्षा—भाषा-विज्ञान के इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता है जहाँ ऊँचे-नीचे या लूले-लैंगड़े जैसे अर्थों को आधार बनाकर किसी भाषा का नामकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से यह नितांत असंगत प्रतीत होता है। दूसरी बात और भी है। प्रत्येक भाषा में कोमल रसों के प्रकरण में वाणी के लहजे में मृदुता आ जाती है और वीर तथा रौद्र आदि पुरुष प्रकृति के रसों के प्रसंग में वाणी में स्वाभाविक रूप से ओज और कठोरता आ जाती है। फिर ऐसी भी बात नहीं कि ब्रजभाषा केवल कोमल रसों के ही अनुकूल हो। रीतिकाल में भूषण, सूदन लाल तथा पद्माकर आदि ने इसका वीर रस में भी बड़ा ओजस्वी तथा भव्य प्रयोग किया है।

(5) कुछ विद्वानों ने कहा है कि पिंगल वीरगाथा काल की साहित्यिक भाषा थी और उसका छंदशास्त्र अलग होने के कारण उसका नाम पिंगल पड़ा। ङिगल का कोई स्वतंत्र छंदशास्त्र नहीं है। किंतु यह मत भी कोई मान्य प्रतीत नहीं होता है।

(6) पिंगल का छंदशास्त्र था और ङिगल का नहीं था, इसलिए एक नाम पिंगल पड़ा कुछ संगत प्रतीत नहीं होता। संस्कृत में छंदशास्त्र को पिंगल मुनि प्रणीत होने के कारण पिंगल शास्त्र कहते हैं। उस पिंगल शास्त्र पर मेरे विचार में भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं का समान अधिकार है। ऐसी बात नहीं है कि वह एक भाषा विशेष की थाती हो और फिर ङिगल भाषा में अनेक छंदों का बड़ा कलात्मक प्रयोग हुआ है।

नोट

निष्कर्ष—वस्तुतः पिंगल भाषा की डिंगल के समान उस समय की एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी। यह राजस्थानी भाषा का वह स्वरूप है जिसमें ब्रज तथा मध्य देश की भाषा का सम्मिश्रण हुआ और धीरे-धीरे उसमें व्याकरणसम्मत और नियमानुकूलता की प्रवृत्तियाँ आती गईं। डॉ. नामवर सिंह के निम्न शब्दों में यही तथ्य ध्वनित होता है—“राजस्थानी की स्थिति भी बहुत कुछ मैथिली जैसी है। पश्चिमी राजस्थान बहुत दिनों तक जातियों और प्रशासकीय रूप में गुजरात से संबद्ध रहा। दोनों जातियों और बोलियों का विकास साथ-साथ हुआ। पुरानी गुजराती और पुरानी राजस्थानी में बहुत कुछ समानता का होना इसी तथ्य का प्रमाण है। दूसरी ओर पूर्वी राजस्थान पृथ्वीराज चौहान के ही समय से (और शायद उससे भी कुछ पहले से) दिल्ली आगरा के शासन-सूत्र से संबद्ध रहा। फलतः उसकी भाषा (पूर्वी राजस्थानी) पुरानी ब्रज भाषा से मिलती-जुलती है। धीरे-धीरे राजस्थान का राजनीतिक और सांस्कृतिक विकास इस प्रकार हुआ कि राजस्थानी बोली समूह की मुख्य बोली मारवाड़ी प्रधान हो गई और वह परिनिष्ठित हिंदी से स्वतंत्र साहित्यिक भाषा के रूप में गठित होने लगी।”

उपर्युक्त विचारों से यह स्पष्ट है कि राजस्थानी भाषा का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व है। समय-समय पर वह अन्य भाषाओं के संपर्क में भी आई। ब्रजभाषा तथा मध्यदेश की भाषा से इसका प्रभावित होना सिद्ध है और कदाचित् इसका यही रूप पिंगल कहलाया।

पिंगल भाषा के नामकरण के संबंध में विद्वानों का कहना है कि कदाचित् यह पिंगल छंद-शास्त्र के आधार पर हुआ है। जैसे वैदिक भाषा को छांदस, प्राकृत को गाथा या गाहा तथा अपभ्रंश को दोहा या दूहा के नाम से अभिहित किया गया। इसी प्रकार इस भाषा की भी पिंगल सत्ता पड़ गई होगी। भले ही यह मत अधिक वैज्ञानिक प्रतीत न होता हो किंतु इसकी पृष्ठभूमि में भाषा-विज्ञान के अनेक उदाहरण काम कर रहे हैं।

आधुनिक अनुसंधानों द्वारा पिंगल के विषय में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य सामने आये हैं। जिस प्रकार डिंगल कोई पृथक् भाषा न होकर राजस्थानी की एक शैली विशेष है इसी प्रकार पिंगल भी कोई अलग भाषा न होकर ब्रजभाषा के काव्य की शास्त्रीय रचना की एक शैली विशेष है। डिंगल और पिंगल को क्रमशः राजस्थानी और ब्रजभाषा की रचना शैलियाँ ही समझना चाहिए।

7.8 सारांश (Summary)

- भाषा की दृष्टि से भी सिद्ध साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। संत साहित्य का आदि स्रोत सिद्धों को, मध्य नाथपंथियों को और उसका पूर्ण विकास कबीर से आरंभ होने वाली संत परंपरा में नानक, दादू और मलूक आदि को मानना चाहिए। भक्तों के अवतारवाद पर महायान शाखा का विशेष प्रभाव है।
- डॉ. हजारीप्रसाद का कहना है कि भक्तिवाद पर सिद्धों का प्रभाव है, ईसाई मत का कोई प्रभाव नहीं है। सिद्ध साहित्य का मूल्यांकन करते हुए हिन्दी के एक प्रसिद्ध विद्वान आलोचक ने लिखा है—“जो जनता नरेशों की स्वेच्छाचारिता, पराजय या पतन से त्रस्त होकर निराशावाद के गर्त में गिरी हुई थी, उसके लिए इन सिद्धों की वाणी ने संजीवनी का कार्य किया।”
- महात्मा बुद्ध के समान महावीर स्वामी ने भी अपने धर्म का प्रचार लोकभाषा के माध्यम से किया। इस प्रकार जैन धर्म के अनुयायियों को अपने धार्मिक सिद्धांतों का ज्ञान अपभ्रंश में प्राप्त हुआ। वैसे तो जैन उत्तर भारत में जहाँ-तहाँ फैले रहे किन्तु आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक काठियावाड़ गुजरात में इनकी प्रधानता रही। वहाँ के चालुक्य, राष्ट्रकूट और सोलंकी राजाओं पर इनका पर्याप्त प्रभाव रहा। महावीर स्वामी का जैन धर्म, हिन्दू धर्म के अधिक समीप है।
- इस काल में उपलब्ध होने वाली प्रायः सभी वीरगाथाओं की प्रामाणिकता संदेह की दृष्टि से देखी जाती है। इस काल में रचित चार काव्य प्राप्त हुए हैं—खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो तथा परमाल रासो।
- भाषा, शैली और विषय सामग्री की दृष्टि से इन ग्रन्थों के संबंध में कहा जा सकता है कि इनमें निरन्तर कई शताब्दियों तक परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं। यह परिवर्तन और परिवर्द्धन का कार्य इतनी प्रचुर मात्रा में हुआ है कि इसका मूल रूप भी दब गया है। यह संबंधित आश्रयदाताओं के काल में भी लिखी गई, इस बात को निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है।
- पिंगल भाषा के नामकरण के संबंध में विद्वानों का कहना है कि कदाचित् यह पिंगल छंद-शास्त्र के आधार पर हुआ है। जैसे वैदिक भाषा को छांदस, प्राकृत को गाथा या गाहा तथा अपभ्रंश को दोहा या दूहा के नाम से अभिहित किया गया। इसी प्रकार इस भाषा की भी पिंगल सत्ता पड़ गई होगी।

- आधुनिक अनुसंधानों द्वारा पिंगल के विषय में कुछ महत्वपूर्ण तथ्य सामने आये हैं। जिस प्रकार डिंगल कोई पृथक् भाषा न होकर राजस्थानी की एक शैली विशेष है इसी प्रकार पिंगल भी कोई अलग भाषा न होकर ब्रजभाषा के काव्य की शास्त्रीय रचना की एक शैली विशेष है।

नोट

7.9 शब्दकोश (Keywords)

- पृष्ठभूमि – पीछे का हिस्सा, भूमिका
आश्रयदाता – आश्रय देने वाला

7.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

- आदिकालीन साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।
- ‘सिद्ध साहित्य’ से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
- आदिकाल की वीरगाथाओं की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
- ‘डिंगल एवं पिंगल’ भाषा का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|-------------|--------------|-----------|---------------|
| 1. आदिकालीन | 2. शृंगार रस | 3. वीर रस | 4. अविस्मरणीय |
| 5. (क) | 6. (क) | 7. (ख) | 8. (ख) |

7.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

- हिंदी साहित्य का इतिहास – विजेन्द्र स्नातक, साहित्य अकादमी।
- हिंदी साहित्य का इतिहास – डॉ. ईश्वरदत्त शील, आभारानी।
- हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।
- हिंदी साहित्य का सरल इतिहास – विश्वनाथ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन।
- हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – बाबू गुलाबराय, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन।

इकाई-8: हिंदी साहित्य का इतिहास : आदिकाल की प्रमुख रचनाएँ

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 8.1 आदिकाल में हिन्दी-भाषी प्रदेश की मुख्य रचनाएँ
- 8.2 आदिकाल में अपभ्रंश की प्रमुख रचनाएँ
- 8.3 लौकिक साहित्य
- 8.4 अमीर खुसरो
- 8.5 विद्यापति
- 8.6 सारांश (Summary)
- 8.7 शब्दकोश (Keywords)
- 8.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 8.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आदिकालीन साहित्य, अपभ्रंश, लौकिक साहित्य आदि से परिचित होंगे।
- विद्यापति, अमीर खुसरो तथा पालि, प्राकृत की रचनाओं को जानेंगे।
- आदिकालीन काव्य की उपलब्धियों, कवियों आदि से अवगत होंगे।

प्रस्तावना (Introduction)

हिंदी भाषा के आदिकाल में मूल हिन्दी-भाषी प्रदेश के कवियों की रचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं, जो मिलती हैं वे या तो सीमांत प्रदेश में पाई जाती हैं या विकृत रूप में ही मिलती हैं। डॉ. हजारीप्रसाद ने उस समय के भारत के ऐतिहासिक सर्वेक्षण के आधार पर इस अभाव के कारणों की गवेषणा की है, जो निम्नांकित हैं—

इस काल की पुस्तकें तीन प्रकार से सुरक्षित हुई हैं—(1) राज्याश्रय पाकर और राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित रहकर, (2) सुसंगठित धर्म संप्रदाय का आश्रय पाकर और मठों-विहारों आदि के पुस्तकालय में शरण पाकर। राज्याश्रय सबसे प्रबल साधन था। धर्म संप्रदाय का संरक्षण उसके बाद आता है। तीसरे प्रकार से जो पुस्तकें प्राप्त हुई हैं वे बदलती रही हैं और लोक-चित्त की चंचल सवारी करती रही हैं। समय-समय पर उनमें परिवर्तन और परिवर्द्धन भी होता रहा है। आल्हा काव्य इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। यह बता सकना कठिन है कि आल्हा-खंड का असली रूप क्या था? इसके विपरीत उस समय के अन्य काव्य आल्हा काव्य के समान लोक-प्रीति का भाजन नहीं बन सके और अपना शुद्ध रूप लिए अस्त हो गए।

देशी भाषा की दूसरी पुस्तकें जैन संप्रदाय का आश्रय पाकर सांप्रदायिक भंडारों में सुरक्षित रह गई हैं। उनका शुद्ध रूप भी सुरक्षित रह गया है। कुछ पुस्तकें बौद्ध धर्म का आश्रय पाकर बौद्ध नरपतियों की कृपा से बच गई थीं। जो आगे चलकर हिंदुस्तान के बाहर पाई जा सकी हैं, परन्तु जो पुस्तकें हिंदू धर्म और हिंदू नरेशों के संरक्षण में बची हैं वे अधिकांशतः संस्कृत में हैं।

8.1 आदिकाल में हिन्दी-भाषी प्रदेश की मुख्य रचनाएँ

मूल हिंदी भाषा प्रदेश में हिंदी रचनाओं का अभाव क्यों रहा, इसका कारण बताते हुए डॉ. साहब लिखते हैं कि सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त भी उसके सेनापति भंडि तथा उसके वंशज कुछ काल तक शासन करते रहे। नवीं शताब्दी के आरंभ में वर्धनों की शक्ति क्षीण हुई।

तीन शक्तियाँ—पूर्व के पाल, दक्षिण के राष्ट्रकूट और पश्चिम के प्रतिहार-कान्यकुब्ज की राज्यलक्ष्मी को हथियाने में प्रयत्नशील रहे किन्तु सफलता प्रतिहारों को ही मिली। इसके बाद लगभग दो शताब्दियों तक कान्यकुब्ज के प्रतिहार बड़े शक्तिशाली शासक बने रहे।

उस समय का मध्य देश राजनीतिक दृष्टि से बड़ा ही विखुब्ध था। उस समय के गहड़वार नरेश, चाहे वे दक्षिण से आये या पश्चिम से, वे बाहर के ही थे। उन्होंने काफी समय तक स्थानीय जनता से अपने आप को अलग रखा। वे वैदिक संस्कृति के उपासक थे और बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण-वंशों को काशी में बसा रहे थे। काशी में संस्कृत को इन लोगों ने बहुत प्रोत्साहन दिया पर इनके यहाँ हिंदी को प्रश्रय न मिल सका। जिस प्रकार गौड़ देश के पाल, गुजरात के सोलंकी और मालवा के परमार देशी भाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे। वैसा गहड़वारों के दरबार में नहीं हुआ। डॉ. हजारीप्रसाद इस उपेक्षा के कारणों का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं—“ये लोग बाहर से आए थे और देशीय जनता के साथ दीर्घकाल तक एक नहीं हो पाये थे। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मध्य देश में जिस संरक्षणशील धारा की प्रतिष्ठा थी उसमें संस्कृत भाषा और वर्जनशील ब्राह्मण व्यवस्था से अधिकाधिक चिपटा रहना ही स्थानीय जनता की दृष्टि से ऊँचा उठने का साधन रहा हो।” आरंभ में गहड़वार नरेश स्थानीय जनता से अलग बने रहे, परन्तु शनैःशनैः यह प्रवृत्ति कम होने लगी। गहड़वार नरेश गोविन्दचन्द्र के सभा-पंडित दामोदर भट्ट ने राजकुमारों को काशी की भाषा सिखाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार धीरे-धीरे देशी भाषा को इस दरबार में प्रोत्साहन मिलने लगा। दुर्भाग्यवश जयचन्द के अस्त होने के साथ इस प्रोत्साहन और प्रवृत्ति का अन्त हो गया। अब समस्त उत्तरी भारत पर मुस्लिम आक्रांताओं की विजयपताका फहराने लगी। इन नये शासकों को देशी जनता के साथ एक होने में और भी अधिक समय लगा।

गहड़वारों के शासनकाल में समूचा हिंदी प्रदेश स्मार्त धर्मानुयायी था। जब गहड़वारों का प्रभाव क्षीण हो गया और अजमेर कालिंजर आदि राज्य स्वतंत्र हो गए तो उन राज्यों में भी स्मार्त धर्म की प्रबलता रही। इस समय शैव मत का दबदबा था। नाथयोगियों, रसेश्वर मत के मानने वाले रस-सिद्धों और मंत्र-तंत्र में विश्वास रखने वाले शक्ति-साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा जोर था। पर इन शैव साधकों के संगठित मत नहीं थे और न ही इनका देशी भाषा के प्रति कोई विशेष अनुराग था। इसके अतिरिक्त ये जनता के प्रति भी तटस्थ बने रहे। केवल यह ही नहीं तब की जनता इनसे अतीव भयभीत थी। अतः स्पष्ट है कि इनके द्वारा प्रणीत रचनाएँ जनप्रिय नहीं हो सकती थीं। कुछ थोड़ी-सी पुस्तकें इन योगियों की मिल जाती हैं पर एक तो उन्हें जैन पुस्तकों के समान संगठित भंडारों का आश्रय नहीं मिला, दूसरे वे आल्हा आदि की भाँति लोक-मनोहर भी नहीं हो सकीं। इनकी रक्षा का भार संप्रदाय के कुछ अशिक्षित साधुओं पर रहा। इन रचनाओं को प्रामाणिक रूप में सुरक्षित रखने का प्रयत्न नहीं किया गया। परवर्ती साहित्य में इन योगियों का दो रूपों में उल्लेख मिलता है—(1) सूफी कवियों की कथा में नाना प्रकार की सिद्धियों के आकार के रूप में, और (2) सगुण या निर्गुण भक्त कवियों की पुस्तकों में खंडनों और प्रत्याख्यानों के विषय के रूप में।

जिन सम्प्रदायों ने इस रहस्यात्मक साहित्य की सृष्टि की थी वे चिरकाल तक एक सुसंगठित संप्रदाय के रूप में नहीं रह सके, फलतः उनका साहित्य लुप्त हो गया। पूर्वी प्रदेशों में वह थोड़ा-बहुत इसीलिए सुरक्षित रह गया है कि 12वीं 13वीं शताब्दी तक वहाँ उक्त मत संगठित संप्रदाय के रूप में जीवित रहा। नेपाल आदि प्रदेशों से कुछ अल्प मात्रा में इस रहस्यात्मक साहित्य का उद्धार किया जा सका है।

उत्तर भारत का धर्म मत नवीन संपर्क और नवीन प्रतिक्रिया के फलस्वरूप बराबर अपनी पुरानी परंपरा पर कुछ अधिक दृढ़ता के साथ डटा रहा। हिमालय के पाददेश की साधना उसे अभिभूत नहीं कर सकी। यहाँ संस्कृत और ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा बहुत बाद तक बनी रही। इस प्रकार न तो हमें इस प्रदेश के ऐसे साहित्य का ही पता चलता है, जो राज-रक्षित हो और न ऐसे साहित्य का जो संगठित संप्रदाय द्वारा सुरक्षित हो। केवल जनता की जिह्वा पर जो कुछ बचा रहा, वही अनेक परिवर्तनों के बाद घट-बढ़कर कदाचित् मिल जाता है।

नोट

यह है आदिकाल के हिंदी साहित्य के अरक्षित रहने की एक कल्पित मनोरंजक कहानी जो प्रायः श्रद्धेय आचार्य जी के शब्दों में उपन्यस्त की गई हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि चौदहवीं शताब्दी से पूर्व हिंदी रचनाएँ उपलब्ध क्यों नहीं होतीं? द्विवेदी जी इसके कुछ कारण—जैसे कि किसी सुदृढ़ संप्रदाय के संरक्षण का अभाव, शासक वर्ग की उपेक्षा तथा जन-मनोहर या लोकप्रिय साहित्य का अभाव आदि बताये हैं। इन कारणों में द्विवेदी जी के मतानुसार प्रधान कारण गहड़वार शासकों की हिंदी के प्रति उपेक्षा भाव है। वे लिखते हैं—“इस प्रदेश की जनता से भिन्न और विशिष्ट बने रहने की प्रवृत्ति के कारण देशी भाषा और उसके साहित्य को आश्रय नहीं दे सके। अंतिम पीढ़ियों में ये लोग देशी भाषा और उसके साहित्य को प्रोत्साहन देने लगे थे।” समझ में नहीं आता है केवल गहड़वार नरेशों के उपेक्षा भाव से हिंदी साहित्य क्यों नहीं पनप सकी। हिंदी सदा विरोधों और संघर्षों में पलती-जूझती आई है। वह अपनी अजस्र प्राणधारा और अदम्य शक्ति से विषम-से-विषम परिस्थितियों में भी आगे बढ़कर अपना मार्ग बनाती रही है। फिर उस समय क्या उसकी शक्ति कुंठित हो गई थी? सच तो यह है कि चौदहवीं शताब्दी तक हिंदी-साहित्य के ग्रन्थों के उपलब्ध न होने के कारण कुछ और हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या गहड़वार नरेशों ने हिंदी साहित्य की किसी रचना पर कोई प्रतिबंध लगा दिया था या उसे नष्ट करने की कोई आज्ञा निकाली थी? फिर राज्याश्रय ही सब कुछ नहीं होता, धर्म और जनाश्रय भी उसे मिल सकता था। माना कि इस समय कोई सुसंगठित धार्मिक संप्रदाय नहीं था फिर भी एक-आध रचना तो अपने विशुद्ध रूप में सुरक्षित रह ही सकती थी और फिर इस विशाल देश का विराट जन-समूह एकाध रचना को भी अविकृत रूप में सुरक्षित नहीं रख सका? संस्कृत साहित्य को अनेक बार विदेशी शासकों के निर्मम प्रहारों को सहना पड़ा फिर भी वह पूरी तरह विनष्ट नहीं हुआ जैसा कि अल्पकालीन शासकीय उपेक्षा से हिंदी साहित्य। ऐसा क्यों? इसके अतिरिक्त डॉ. दशरथ शर्मा जैसे प्रसिद्ध इतिहासकार भी द्विवेदी जी की उक्त मान्यता का खंडन करते हुए लिखते हैं—“कन्नौज सदा से देशी भाषा को मान देता रहा है। यदि संस्कृत व संस्कृति के प्रबल समर्थक गोविन्दचन्द्र ने भी देशी भाषा को इतना मान दिया तो हम किस आधार पर कह सकते हैं कि उसके दो पूर्वजों ने ही देशी भाषा का विरोध किया था और उन्होंने विरोध किया भी तो तीस-चालीस वर्षों में किसी भाषा का साहित्य सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता।” यह भी ध्यान रहे कि कन्नौज पर गहड़वारों का आधिपत्य 1090 ई. में हुआ था तथा देशी भाषा को आश्रय देने वाले गोविन्द चन्द्र सन् 1114 में गद्दी पर बैठे। इस पर द्विवेदी जी का उपेक्षित काल 24 वर्ष का ही ठहरता है। इस अल्पकालीन उपेक्षा के कारण पूर्ववर्ती शताब्दियों का साहित्य समूल नष्ट हो गया, यह तर्क कुछ अकल्पनीय लगता है।

इसके साथ-साथ एक और प्रश्न उठता है कि यदि उस काल का साहित्य उपलब्ध नहीं होता तो उन अज्ञात और अरक्षित रचनाओं के आधार पर इतिहास का ढांचा किस प्रकार खड़ा किया गया और उसका नामकरण कैसे संपन्न हुआ? इस संबंध में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त के विचार अवलोकनीय हैं—“वस्तुतः इस युग में हिंदी की प्रामाणिक रचनाएँ न मिलने का कारण मुसलमानों का आक्रमण, देश की अशान्ति या किसी शासन विशेष की अवज्ञा नहीं है। यदि ऐसा होता तो इस युग में रचित अपभ्रंश की शताधिक रचनाएँ उपलब्ध न होतीं। यह युग साहित्य की दृष्टि से अपभ्रंश का युग है किन्तु हम इसे बलात् हिंदी का आदिकाल या वीरगाथा काल सिद्ध करना चाहते हैं: फलस्वरूप कभी हम अपभ्रंश की रचनाओं को उधार ले लेते हैं, कभी अस्तित्वहीन या परवर्ती रचनाओं का आश्रय ग्रहण करते हैं और कभी साहित्य नष्ट हो जाने की मनगढ़ंत कहानियाँ कहकर आँसू बहाते हैं।” हम प्रस्तुत पुस्तक के हिंदी साहित्य के आदिकाल का नामकरण तथा पूर्वापर सीमानिर्धारण नामक प्रकरण में बता चुके हैं कि हिंदी भाषा का आरंभ लगभग 13वीं शताब्दी में स्वीकार किया जा सकता है। उक्त मान्यता के आधार पर ग्रंथाभाव की समस्या का सहज में ही समाधान हो जाता है। वस्तुतः वह युग अपभ्रंशों का युग था, स्वयं आचार्य हजारीप्रसाद के निम्नांकित शब्दों में यही तथ्य ध्वनित होता है, “वस्तुतः 14वीं शताब्दी के पहले ही भाषा का रूप हिंदी प्रदेशों में क्या और कैसा था, इसका निर्णय करने योग्य साहित्य आज उपलब्ध नहीं हो रहा है। जो एकाध शिलालेख और ग्रन्थ मिलते हैं वे बताते हैं कि यद्यपि गद्य की और बोलचाल की भाषा में तत्सम शब्दों का प्रचार बढ़ने लग गया था, पर पद्य में अपभ्रंश का ही प्राधान्य था।”

8.2 आदिकाल में अपभ्रंश की प्रमुख रचनाएँ

1. संदेश रासक—‘संदेश रासक’ अद्दहमाण संभवतः अब्दुर्रहमान द्वारा रचित एक खंडकाव्य है। कबीर

की भाँति अब्दुर्रहमान भी जुलाहा परिवार से संबद्ध हैं। वे अपने संबंध में स्वयं लिखते हैं—“मैं म्लेच्छ देशवासी तन्तुवाय मीरसेन का पुत्र हूँ।” अब्दुर्रहमान मुल्तान के निवासी थे तथा संस्कृत और प्राकृत के अच्छे पंडित थे। उनकी भारतीय साहित्य तथा संस्कृति में गहन आस्था थी।

संदेश रासक के निर्माण काल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। डॉ. कत्रे ने इसका रचनाकाल 11वीं शताब्दी तथा 14वीं शताब्दी के मध्य माना है। मुनि जिनविजय ने 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर 13वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक इस रचना का समय माना है। अगरचन्द नाहटा इसे सं. 1400 के आसपास रचना मानते हैं परन्तु डॉ. हजारीप्रसाद ने इसे 11वीं सदी की रचना स्वीकार किया है, कारण हेमचन्द्र ने अपनी रचना में सन्देश रासक के पद्यों को उद्धृत किया है। हेमचन्द्र का जन्म सं. 1145 में तथा मृत्यु 1229 में हुई। अतः अब्दुर्रहमान को 11वीं सदी का मानना युक्तियुक्त है।

संदेश रासक विरह का एक खंडकाव्य है जो कि एक कल्पित लोक जीवनमय कथा पर आद्धृत है। यह रचना कालिदास के मेघदूत के समान कथात्मक होते हुए भी विभिन्न मुक्तकों की एक मणिमाला है। इसमें विरह की सूक्ष्म अनुभूतियों की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। हिंदी साहित्य में बीसलदेव रासो भी इसी प्रकार का काव्य है। संदेश रासक मध्यकालीन शृंगारी परंपरा पर लिखे हुए विरह साहित्य में प्रतिनिधि काव्य है। इसमें विरहणी की शत-शत भावपूर्ण प्रेम के ज्वारभाटे से विह्वल और करुण कातर हृदय की भावनाओं की अतीव मार्मिक कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है। उसके संदेश में एक गहरी टीस, सुप्त दर्प, प्रेम की सघनता, उपालम्भ एवं आत्मसमर्पण का विलक्षण समन्वय है। “प्रिय तुम मेरे हृदय में स्थित हो और तुम्हारे रहते हुए विरह मुझे कष्ट दे रहा है। क्या आपके लिए यह लज्जास्पद नहीं? क्या यह आपके पौरुष को चुनौती नहीं?”

डॉ. हजारीप्रसाद इस संबंध में लिखते हैं—“इस संदेश रासक में ऐसी करुणा है जो पाठक को बरबस आकृष्ट कर लेती है। उपमाएँ अधिकांश में यद्यपि परम्परागत और रूढ़ ही हैं तथापि बाह्यवृत्त की वैसी व्यंजना उसमें नहीं है जैसी आंतरिक अनुभूति की। ऋतु-वर्णन प्रसंग में बाह्य प्रकृति इस रूप में चित्रित नहीं हुई जिसमें आंतरिक अनुभूतियों की व्यंजना दब जाये। प्रिय के नगर से आने वाले अपरिचित पथिक के प्रति नायिका के चित्त में किसी प्रकार के दुराव का भाव नहीं है। वह बड़े सहज ढंग से अपनी कहानी कह जाती है। सारा वातावरण विश्वास और घरेलूपन का है।”



नोट्स गहड़वारों के शासनकाल में समूचा हिंदी प्रदेश स्मार्त धर्मानुयायी था।

यह तीन प्रक्रमों में विभाजित 223 छंदों की एक छोटी-सी रचना है। प्रथम में मंगलाचरण, कवि का व्यक्तिगत परिचय, ग्रंथ रचना का उद्देश्य तथा कुछ आत्म-निवेदन है। दूसरे प्रक्रम से मूल कथा का आरंभ होता है। कथासूत्र इतना ही है कि विजय नगर की एक प्रोषितपतिका अपने प्रिय के वियोग में रोती हुई एक दिन राजमार्ग से जाते हुए एक बटोही को देखती है और दौड़कर उसे रोकती है। उसे पता चलता है कि वह पथिक सामोर से आ रहा है और स्तंभ तीर्थ को जा रहा है। वह पथिक से निवेदन करती है कि अर्थ-लोभ के कारण उसका प्रिय उसे छोड़कर स्तंभ तीर्थ चला गया है, इसीलिए कृपा करके मेरा संदेश लेते जाओ। पथिक को संदेश देकर नायिका ज्यों ही विदा करती है कि दक्षिण दिशा से उसका प्रिय आता हुआ दिखाई देता है। तीसरे प्रक्रम में ग्रन्थ का अंत करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार उसका कार्य अचानक सिद्ध हो गया है उसी प्रकार पढ़ने-सुनने वालों का भी सिद्ध हो जो अनादि और अनन्त है, उसकी जय हो।

संदेश रासक के कथासूत्र से स्पष्ट है कि कवि को कथा से कोई विशेष मतलब नहीं। उसका उद्देश्य है सामोर नगर के जीवन, पेड़-पौधों तथा षड् ऋतु-वर्णन के साथ प्रोषितपतिका की विरह-वेदना का वर्णन करना। इन सब बातों के लिए उसने पथिक की अवतारणा की है।

काव्यसौंदर्य की दृष्टि से संदेश रासक का अपभ्रंश साहित्य में विशेष स्थान है। संदेश-कथन में नारी हृदय की परवशता, आकुलता और विदग्धता एक साथ मुखरित हो उठी है। वह कहती है, जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है, आज वे ही अंग विरह द्वारा जलाये जा रहे हैं। सचमुच तुम्हारे पौरुष को यह एक सबल चुनौती है—

गरुवउ परिहवु कि न सहउ, पौरिस निलएण।

जिहि अंगिहि तू बिलसिया ते दद्धा विरहेण॥

नोट

शरद ऋतु का वर्णन करती हुई नायिका कहती है कि क्या देश में ज्योत्स्ना का निर्मल चन्द्र नहीं उगता? क्या वहाँ अरविन्दों के बीच हंस कल-कल ध्वनि नहीं करते? क्या वहाँ कोई ललित ढंग से प्राकृत काव्य नहीं पढ़ता? क्या वहाँ कोकिल पंचम स्वर से नहीं गाती? क्या वहाँ सूर्योदय के कारण खिले हुए कुसुमों से वातावरण महक नहीं उठता? होता तो यह सब होगा लेकिन लगता है कि प्रिय ही अरसिक है जो इस शरद काल में भी घर का स्मरण नहीं करता—

किं तहि देस शाह फुरइ जुह निसि णिम्ल चन्द्रह।

यह कलरउ न कुणति हंस फल सेवि रविदह।

अह पायउ पहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण।

अह पंचउ णहु कुणई कोइ कावालिय भाइण।

डॉ. हजारीप्रसाद इस काव्य की पृथ्वीराज रासो से भिन्नता प्रकट करते हुए कहते हैं—“पृथ्वीराज रासो प्रेम मिलन पक्ष का काव्य है और संदेश रासक विरह पक्ष का, रासो काव्य-रूढ़ियों द्वारा वातावरण तैयार करता है और संदेश रासक हृदय की मर्म वेदना के द्वारा रासो के घर के बाहर का वातावरण प्रमुख है और संदेश रासक में भीतर का। रासो नये-नये रोमांस प्रस्तुत करता है और संदेश रासक पुरानी प्रीति को निखार देता है।”

संदेश रासक के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि नायिका के रूप-वर्णन में वासनात्मकता कहीं भी नहीं है। पथिक द्वारा साम्बरपुर के वर्णन में नागरिक जीवन की स्पष्ट प्रतिध्वनि है। वहाँ की वीर वनिताओं तथा विचक्षण रमणियों की भंगिमाओं का वर्णन परम्परानुमोदित है। नगरोद्यान, पादप एवं पुष्पों को सविस्तार अथवा नीरस वर्णन कथा की गति या उसकी प्रभावोत्पादकता में किसी प्रकार का योग नहीं देते। कवि को ऐसे वर्णनों में आनुपातिका से काम लेना चाहिए था। षड्ऋतु वर्णन प्रेम-काव्यों की परम्परा की एक महत्वपूर्ण रूढ़ि है, जिसका पालन संदेश रासक में भी किया गया है। रासक का ऋतु वर्णन कामोद्दीपन है और वह कालिदास के ऋतुसंहार की परंपरा में आता है। सच तो यह है कि इस प्रकार के प्रेम-प्रसंगों में जहाँ नायिका विरह-व्यथा को कह सकने में असमर्थ है और पथिक अधिकाधिक त्वरा-संपन्न है वहाँ इस प्रकार के विस्तृत ऋतु वर्णन का अवकाश ही नहीं था।

संदेश रासक में दोहा छंद का सुंदर प्रयोग हुआ है। रासक छंद इसका प्रमुख छंद है। इस ग्रन्थ से हमें रासक के गेय रूपक का पता चलता है। भाषा विज्ञान तथा इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यंत महत्वपूर्ण है। आदिकालीन काव्य-रूपों को समझने में यह ग्रन्थ अत्यंत सहायक सिद्ध होता है। यह मसृण शैली में रचित गेय रूपक है। भाषा की दृष्टि से यह संक्रान्तिकालीन भाषा का परिचायक है। इसमें हमें एक नया विचार-बिंदु मिलता है कि भारतीय साहित्य में मुसलमानों का कितने समय से काव्य से संबंध चला आ रहा है। कुछ विद्वानों ने रासक को ग्राम्य अपभ्रंश में रचित माना है परन्तु डॉ. नामवरसिंह का विचार है कि “यह समझना भ्रांति है कि वह ग्राम्य अपभ्रंश में लिखा हुआ काव्य है। वस्तुतः इसके भाव और भाषा पर नागरिकता की छाप है। छंद-विविधता और अलंकार सज्जा दोनों दृष्टियों से संदेश रासक अत्यंत परिमार्जित रचना है।”



क्या आप जानते हैं ‘संदेश रासक’ अद्भुत संभवतः अब्दुरहमान द्वारा रचित एक खंडकाव्य है।

2. जैन कवि धनपाल रचित भविष्यदत्त कथा—यह अपभ्रंश साहित्य का कथा-काव्य है जिसकी रचना धनपाल (10वीं शताब्दी ई.) ने की। इसे ‘भविष्यदत्त कथा’ तथा ‘सुय पंचमी’ के नाम से भी अभिहित किया जाता है क्योंकि यह सुय पंचमी माहात्म्य के लिए लिखी गई है। इसके प्रणयन का उद्देश्य धार्मिक शिक्षा है।

राहुल जी ने इसे 10वीं सदी रचित माना है तथा इसकी भाषा को पुरानी हिंदी कहा है। मोतीलाल मेनारिया ने जैन कवि धनपाल का समय सं. 1081 माना है तथा इसकी भाषा को पुरानी राजस्थानी माना है। हमारे विचार में इस ग्रन्थ की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है।

इस प्रबंध काव्य में तीन प्रकार की कथाएँ जुड़ी हुई हैं। इसमें बाईस संधियाँ हैं। कथा का पहला भाग शुद्ध घरेलू ढंग की कहानी है, जिसमें दो विवाहों के दुःखद पक्ष को सामने रखा गया है। इसमें वणिक्पुत्र भविष्यदत्त की कथा है जो अपने सौतेले भाई बंधुदत्त के द्वारा कई बार छले जाने पर भी अंत में जिन महिमा के कारण सुखी होता है। कथा का मुख्य अंश यही है और कवि ने इसे आराम से चौदह संधियों में कहा है।

इस काव्य का वस्तु-वर्णन हृदयग्राही है। इसमें शृंगार, वीर और शांत रस की प्रधानता है। काव्य में कई मार्मिक स्थल हैं जहाँ कि धनपाल की काव्य-प्रतिभा स्फुटित हुई है। तिलक द्वीप में अकेले छोड़े गये भविष्यदत्त की हृदय की व्याकुलता का चित्र देखिए जबकि वह एक गहरी चिंता में निमग्न है—

गयं विष्णुलं ताम सव्वं वणिज्जम्।

हुवं अम्ह गोतम्मि लज्जा वणिज्जम्॥

नारी के रूप-वर्णन का भी चित्र देखिए—

णं वम्मह भल्लि विघण सील जुवाण जणि।

धनपाल का नख-शिख वर्णन परंपरायुक्त है। कवि की दृष्टि नारी के बाह्य सौंदर्य पर अधिक टिकी है, उसके आन्तरिक सौंदर्य की ओर नहीं गई।

मुहावरों और लोकोक्तियों का भी सुंदर प्रयोग हुआ है—

कि घिउ होई विरोलिए पाणि।

भविष्यदत्त कथा में उपमा, उत्प्रेक्षा, स्वाभावोक्ति, विरोधाभास और अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का सुंदर प्रयोग हुआ है। भुजंगप्रयात, लक्ष्मीधर, मंदार, चामर, शंख, नारी, अडिल्ला, काव्य, प्लवंगल, सिंहावलोकन तथा कलहंस आदि वाणिज्य तथा मात्रिक छंदों का प्रयोग हुआ है।

संभव है भविष्यदत्त कथा जैसे चरित काव्य अपभ्रंश साहित्य में और भी लिखे गए हों। इन काव्यों का अध्ययन परवर्ती हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों के सम्यक् अवबोध के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जैन कवियों द्वारा लिखे गए चरित काव्यों के संबंध में लिखते हैं—“इन चरित काव्यों के अध्ययन से परवर्ती काल के हिंदी साहित्य के कथानकों, कथानक-रूढ़ियों, काव्यरूपों, कवि-प्रसिद्धियों, छंद-योजना, वर्णन-शैली, वस्तु-विन्यास, कवि-कौशल आदि की कहानी बहुत स्पष्ट हो जाती है। इसलिए इन काव्यों से हिंदी साहित्य के विकास के अध्ययन में बहुत महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है।”

आचार्य शुक्ल ने जैन कवियों की रचनाओं में धर्म-भाव को देखते हुए इन्हें रागात्मक साहित्य की परिधि से बाहर कर दिया था किन्तु यह संगत नहीं। सूर, तुलसी, जायसी और मीरा का साहित्य धार्मिक होते हुए भी काव्य-वैभव से संपन्न है, यही दशा जैन कवियों के इन चरित-काव्यों की है।

3. पाहुड़ दोहा—रामसिंह राजस्थान के रहने वाले थे। उनकी दो सौ बाईस दोहों की छोटी-सी रचना है पाहुड़ दोहा। इस ग्रन्थ के संपादक श्री हीरालाल जैन के अनुसार जैनियों ने पाहुड़ शब्द का प्रयोग किसी विषय के प्रतिपादन के लिए किया है। कुन्द कुंदाचार्य के सभी ग्रन्थ पाहुड़ कहलाते हैं। पाहुड़ शब्द का अर्थ अधिकार भी लिया गया है। कहीं-कहीं समस्त श्रुत ज्ञान को पाहुड़ कहा गया है। इससे विदित होता है कि धार्मिक सिद्धांत संग्रह को पाहुड़ कहते थे। पाहुड़ शब्द का संस्कृत रूपान्तर प्राभुत किया जाता है जिसका अर्थ है उपहार। इसके अनुसार हम वर्तमान ग्रन्थ के नाम का अर्थ ‘दोहा का उपहार’ ऐसा ले सकते हैं।

पाहुड़ दोहा के रहस्यवाद पर विचार करते हुए श्री हीरालाल जैन ने लिखा है—“इन दोहों में जोगियों के आगम-अचित-चित, देह-देवली, शिव-शक्ति, संकल्प-विकल्प, सगुण-निर्गुण, अक्षर-बोध-विबोध, वाम दक्षिण मध्य, दो पथ, रवि, शशि, पवन, काल आदि ऐसे शब्द हैं और उनका ऐसे गहन अर्थ में प्रयोग हुआ है कि उनमें हमें योग और तांत्रिक ग्रन्थों का स्मरण आये बिना नहीं रहता है। इनकी भाषा सांकेतिक है और सांकेतिकता में इनकी समानता बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों और दोहा कोशों में दिखाई पड़ती है।” वस्तुतः वह युग ऐसा था जिसमें प्रत्येक धर्म के भीतर इसके उदारमना चिंतक कवि पैदा हुए थे जो अपने मत और समाज की रूढ़ियों का विरोध करते हुए मानवता की सामान्य भाव-भूमि पर एक साथ खड़े थे। इसका अन्य मतों से कोई विरोध नहीं था। ये सबके प्रति सहिष्णु थे और उनका विश्वास था कि सभी मत एक ही दिशा की ओर ले जाते हैं और एक ही परमतत्त्व को विविध नामों से पुकारते हैं।

पाहुड़ दोहाकार का कहना है कि देह-मन उपेक्षणीय वस्तु नहीं है। जब देह मंदिर ही उस परमात्मा का निवास-स्थान हो तो अन्यत्र जाने की क्या आवश्यकता? आवश्यकता तो इस बात की है कि परमात्मा के आवास इस देह-मंदिर को स्वच्छ और पवित्र रखा जाए—

देहा देवलि जो वसई, सत्तिहि सहियउ देउ।

को तहिं जोइय सत्तसिउ, सिंधु गवेसहिं भेउ॥

(पा. दो. 53)

नोट

समरसता का वर्णन करते हुए जिनमें आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं रह जाता, आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है, और आत्मा तथा परमात्मा एक हो जाते हैं, रामसिंह लिखते हैं—

मणु मिलियु परमेसर हो, परमेसर जि मणस्य।

विरिण वि समरसि हुड रहिय, पुंज चढ़ावऊँ कस्स॥

पाहुड़ दोहा आदि ग्रन्थों के रचयिता रामसिंह आदि जैन कवियों का परवर्ती हिंदी साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। संतों में धार्मिक एकता और रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ जैनों तथा नाथों का प्रभाव समझी जानी चाहिए। सूफियों की व्यापक समन्वयात्मकता के बीजांकुर भी जैन-साहित्य में बो दिये गए थे। कबीर आदि में मिलने वाली रूढ़ियों के प्रति प्रखरता भी पाहुड़ दोहा आदि ग्रन्थों में देखी जा सकती है।

4. प्राकृत पैंगलम्—यह ग्रन्थ हिंदी साहित्य के आदिकाल की रूढ़ियों, परम्पराओं और प्रवृत्तियों को समझने के लिए अत्यंत उपयोगी है। भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी यह ग्रन्थ उपादेय है। इस ग्रन्थ में प्राकृत तथा अपभ्रंश के छंदों का संग्रह है।

प्राकृत पैंगलम् में विद्याधर शारंग, जज्जल, बब्बर आदि कवियों की रचनाओं में कई प्रकार के विषय हैं—वीर, शृंगार, नीति, शिव-स्तुति, विष्णु-स्तुति, ऋतु-वर्णन आदि। डॉ. हजारीप्रसाद इन कवियों के संबंध में लिखते हैं—परन्तु ये सभी रचनाएँ और संदेश रासक, पृथ्वीराज रासो, कीर्तिलता आदि के कवि उस श्रेणी के कवि नहीं थे जिन्हें आदिम मनोवृत्ति के कवि कहते हैं। वस्तुतः इन रचनाओं में एक दीर्घकालीन परंपरा का स्पष्ट परिचय मिलता है। ये कवि काव्य-लक्षणों के जानकार थे, प्राचीनतम कवियों की रचनाओं के अभ्यासी थे और अपने काव्य के गुण-दोष की तरफ सचेत थे।

विद्याधर काशी कान्यकुब्ज दरबार के एक कुशल विद्वान् मंत्री थे तथा जयचन्द के अत्यंत विश्वासपात्र थे। कविता करने के साथ-साथ ये कविता के परम पारखी भी थे। शुक्ल जी का कहना है कि, “यदि विद्याधर को समसामयिक कवि माना जाये तो उसका समय विक्रम की 13वीं शताब्दी समझा जा सकता है।” प्राकृत पैंगलम् में इनके पद्यों को देखकर यह सहज में अनुमान लगाया जा सकता है कि जयचन्द के दरबार में जहाँ संस्कृत का मान था वहाँ देशी भाषा का भी काफी आदर था।

शारंगधर शाकम्भरीश्वर रणथंभौर के प्रसिद्ध शासक हम्मीर देव के सभासद थे। हम्मीर देव का निधन संवत् 1357 है। अतः इनका रचना काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है। इनका आयुर्वेद संबंधी शारंगधर संहिता नामक संस्कृत ग्रन्थ अत्यंत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनकी दो रचनाएँ और भी हैं—(1) शारंगधर पद्धति, इसमें सुभाषितों का संग्रह है तथा बहुत से शावर मंत्र। (2) हम्मीर रासो—यह ग्रन्थ देशी भाषा का वीरगाथात्मक महाकाव्य बताया जाता है। यह रचना आज तक उपलब्ध नहीं हुई है। आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि “प्राकृत पिंगल-सूत्र में कुछ पद्य असली हम्मीर रासो के हैं।”

विद्याधर तथा शारंगधर के अतिरिक्त प्राकृत पैंगलम् में कुछ अन्य कवियों के पद्यों का भी संग्रह है। इस ग्रन्थ के संग्रहकर्ता लक्ष्मीधर बब्बर 11वीं सदी के कवि हैं और उज्ज्वल 13वीं सदी के कवि हैं। इन कवियों की रचनाओं का संग्रह भी उक्त ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। राहुल जी ने इन कवियों की भाषा को पुरानी हिंदी कहा है, जो कि हमारे विचारानुसार ठीक नहीं है। बब्बर राजा कर्ण कलचुरी के दरबारी कवि थे। इनका निवासस्थान त्रिपुरी (आधुनिक जबलपुर, मध्य प्रदेश) था। इनका कोई विशिष्ट ग्रन्थ नहीं मिलता, स्फुट रचनाएँ ही प्राप्त होती हैं। आचार्य शुक्ल उज्ज्वल को एक पात्र मानते हैं जबकि राहुल जी ने उन्हें एक कवि स्वीकार किया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

- विद्याधर काशी के एक कुशल विद्वान् मंत्री थे।
- धनपाल का वर्णन परंपरायुक्त है।
- संदेश रासक में का सुंदर प्रयोग हुआ है।
- रामसिंह की प्रसिद्ध रचना है।

8.3 लौकिक साहित्य

ढोला मारू रा दूहा—यह संदेश रासक के समान लोककाव्य है और बीसलदेव रासो की तरह विरह गीत है। इस काव्य की कथा इस प्रकार है—सयानी होने पर मारू जी अपने बचपन के पति ढोला की चर्चा सुनती हैं और विरह में व्याकुल हो जाती हैं। वह अपने पति का पता लगाने के लिए कई संदेशवाहक भेजती हैं, लेकिन कोई वापस लौटकर नहीं आता। सभी संदेशवाहक उसकी सौत मालवजी द्वारा मरवा दिये जाते हैं। अंत में मारवणी लोकगीतों के गायक एक ढाढी को यह जिम्मेदारी सौंपती है और उसे अपने उद्देश्य में सफलता मिलती है। ढाढी के प्रयत्न से ढोला और मारवणी का पुनर्मिलन होता है। बीच में मारवणी की हत्या करा दी जाती है और अंत में फिर मारवणी मालवजी तथा ढोला को इकट्ठा मिला दिया जाता है। इस ग्रन्थ का मुख्य संदेश मारवणी का ढोला के प्रति विरह-निवेदन है।

काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी यह काव्य अनुपम बन पड़ा है। इसमें संदेश-रासक तथा बीसलदेव रासो से अधिक स्थानीय रंग है। इस ग्रन्थ में मारवाड़ देश वास्तविक रूप से प्रतिबिम्बित हो उठा है। संदेश रासक में संदेश-कथन एक सर्वथा अपरिचित व्यक्ति से किया गया है। बीसलदेव रासो में इस कार्य के लिए दरबार के एक पंडित का उपयोग किया गया है, लेकिन ढोला में क्रॉच पक्षी से लेकर ढाढियों तक से अपनी विरह-वेदना कही गई है। अतः इसमें अधिक मार्मिकता आ सकी है। जायसी के पद्मावत में संदेश-प्रणाली निश्चित रूप से ढोला से प्रभावित है। ढोला लोकगीत के सबसे अधिक निकट है। अतः इसमें साधारणीकरण की मात्रा प्रचुर रूप में है। प्रस्तुत काव्य में शृंगार के संयोगकालीन वर्णन मर्यादित हैं और उनमें सांकेतिकता से काम लिया गया है। मिलन के उपरान्त प्रेमी-दंपति मत्त-गत दंपति के समान रतिशैया की ओर जाते हैं। इस दिशा में उक्त काव्य संदेश रासक की कोटि में आता है। ढोला-मारू रा दूहा में विप्रलंभ शृंगार का अतीव उच्च एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन है। नख-शिख वर्णन परंपरायुक्त है। वियोग-वर्णन में हृदय की सच्चाई का स्वाभाविक एवं प्रभावशाली वर्णन है। विरह-वर्णन में कहीं भी हास्यास्पद ऊहात्मकता नहीं है।

मारवणी का ढाढी को दिया गया संदेश अनुपम बन पड़ा है। इसमें नारी हृदय की वेदना सचमुच इठला रही है—

ढाढी, एक संदेशड़उ, प्रीतम कहिया जाइ।

सा घण बलि कुइला भई भसम ढंढोलिसि आइ॥

ढाढी जे प्रीतम मिलई, यूँ कहि दाखवियाह।

उजर नहिं छई प्राणियउ, था दिस झल रहियाह॥

धनि जलकर कोयला हो गई है, अब आकर उसकी भस्म ढूँढ़ना। अब पंजर में प्राण नहीं हैं केवल उसकी लौ तुम्हारी ओर झुक-झुककर जल रही है। जायसी की 'सो धन जरि' से इसकी कितनी समानता है।

मारवणी की मनःस्थिति का एक और चित्र देखिए—जब ढोला के आने की खबर मिलती है तो उसका हृदय हर्षोद्रेक से हिमगिरि जैसा विशाल हो गया है। वह अनुभव करती है कि अब यह तन पंजर में समायेगा ही नहीं—

हियड़ा हेमागिरि भयऊ, तन पंजरे न माई।

इस प्रकार मारवाड़ देश में जहाँ एक ओर चारण काव्यों का प्रणयन हो रहा था वहीं दूसरी ओर जनसाधारण के कवि स्वान्तः सुखाय लोक-सामान्य जीवन को सहज में ही अपने काव्य में उँडेल रहे थे। ढोला इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। सूफी कवि जायसी का पद्मावत ढोला के बहुत से अंशों से प्रभावित है।

डॉ. रामकुमार वर्मा इस ग्रन्थ के काल आदि के संबंध में लिखते हैं—“यह सोलहवीं शताब्दी की रचना है और इसके रचयिता कुशल लाभ कहे जाते हैं—इसे 'ढोला मालवजी की बात' के नाम से भी अभिहित किया जाता है।”

8.4 अमीर खुसरो

जीवन-वृत्त—अमीर खुसरो इनका उपनाम है, इनका असली नाम अब्दुल हसन था। इनका जन्म सन् 1312 में पटियाली जिला एटा में हुआ। इन्होंने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान तथा तुगलक वंश का आरंभ देखा। इनके सामने ही दिल्ली के शासन पर ग्यारह सुल्तान बैठे जिनमें से सात की इन्होंने सेवा की। आप बड़े ही प्रसन्नचित्त, मिलनसार तथा उदार थे। इन्हें जो कुछ धन प्राप्त होता था उसे बांट देते थे। इनमें सांप्रदायिक कट्टरता किसी भी प्रकार नहीं थी। डॉ. ईश्वरीप्रसाद इनके संबंध में लिखते हैं—“ये कवि, योद्धा और क्रियाशील मनुष्य थे।” इनके ग्रन्थों के आधार पर अनुमान लगाया गया है कि इनके एक लड़की और तीन

नोट

पुत्र थे। जब सं. 1324 में इनके गुरु निजामुद्दीन औलिया की मृत्यु हुई तो ये उस समय गयासुद्दीन तुगलक के साथ बंगाल में थे। मृत्यु का समाचार सुनते ही शीघ्र दिल्ली पहुँचे और औलिया की कब्र के निकट निम्नांकित दोहा पढ़कर बेहोश होकर गिर पड़े—

गोरी सोवे सेज पर, मुखर पर डारे केस।

चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस॥

अंत में कुछ दिनों में इनकी भी उसी वर्ष मृत्यु हो गई। ये अपने गुरु के कब्र की नीचे गाड़ दिए गए। सन् 1605 ई. में ताहिरा बेरा नामक अमीर ने वहाँ पर मकबरा बनवा दिया।

ग्रन्थ—अमीर खुसरो अरबी, फारसी, तुर्की और हिंदी के विद्वान थे तथा इन्हें संस्कृत का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था। इन्होंने कविता की 99 पुस्तकें लिखीं जिनमें कई लाख शेर थे। पर अब इनके केवल 20-22 ग्रन्थ प्राप्य हैं। इन ग्रन्थों में **किस्सा चाह दरवेश** और **खालिक बारी** विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका तुर्की-अरबी-फारसी और हिंदी का पर्यायकोश नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इन्होंने फारसी से कहीं अधिक हिंदी भाषा में लिखा है। इनके साहित्य में भी समय-समय पर प्रक्षेपों का समावेश होता रहा है। इनकी कुछ पहेलियाँ, मुकरियाँ और फुटकर गीत उपलब्ध होते हैं जिनसे इनकी विनोदी प्रकृति का भली-भाँति परिचय मिल जाता है। उदाहरणार्थ—

पहेली— एक थाल मोती से भरा सबके सिर पर औँधा धरा।

चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे॥ (आकाश)

दो— सुखने—पान सड़ा क्यों? घोड़ा अड़ा क्यों? (फेरा न था)

ढकोसला— खीर पकाई जतन से चर्खा दिया चला।

आया कुत्ता खा गया बैठी तू ढोल बजा॥

इनकी मिली-जुली भाषा की गजल का नमूना देखिए—जिसे मुकेश और सुधा मल्होत्रा ने अपने सुरीले सुर में प्रस्तुत किया है।

हाल मिस की मकुन तगाफुल दुराय नैना बनाय बतियाँ।

किताबें हिजाँ नदारम जमाँ न लेहु काहे लगाय छतियाँ॥

साहित्यिक देन—अमीर खुसरो ने साहित्य के लिए एक नवीन मार्ग का अन्वेषण किया और वह था जीवन को संग्राम और आत्मानुशासन की सुदृढ़ और कठोर श्रृंखला से मुक्त करके आनन्द और विनोद के स्वच्छंद वायुमंडल में विहार करने की स्वतंत्रता देना। यही खुसरो की मौलिक विशेषता है। इनके साहित्य में हिंदू-मुस्लिम एकता का प्रथम प्रयत्न है तथा उसमें भाषा संबंधी एकता का आदर्श भी उपस्थित किया गया है। आचार्य श्यामसुंदरदास का कहना है कि खुसरो के पूर्ववर्ती साहित्य में राजकीय मनोवृत्ति है उसे जन-साहित्य नहीं कहा जा सकता किन्तु हम इनकी कविता में युग-प्रवर्तक का आभास पाते हैं। इनके साहित्य से भाषाशास्त्र में प्रचलित एक मजेदार भ्रम का निवारण हो जाता है, वह यह कि हिंदी का जन्म उर्दू से नहीं हुआ बल्कि उर्दू तो हिंदी की एक शैली मात्र है, अतः इनके साहित्य का भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्व है। तत्कालीन सुल्तानों का इतिहास भी इनके साहित्य में सुरक्षित है। उनका फारसी भाषा में निबद्ध मसनवी खिज़्रनामा इस दिशा में अत्यंत विश्वसनीय तथा महत्त्वपूर्ण है। खुसरो ने अपने समय की उन ऐतिहासिक घटनाओं का समावेश किया है, जो कि अन्य समसामयिक इतिहास-ग्रन्थों में नहीं मिलती हैं। उनके ग्रन्थों के ऐतिहासिक हवाले अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय हैं क्योंकि वे केवल समसामयिक ही नहीं थे, बल्कि उन घटनाओं के स्वरूप-निर्माण में उनका निजी योग भी है। उन्होंने केवल ऐतिहासिक घटनाओं का परंपरागत ब्यौरा मात्र ही प्रस्तुत नहीं किया है बल्कि तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी सजीव अंकन किया है।

खुसरो प्रसिद्ध गवैये भी थे। ध्रुवपद के स्थान पर कौल या कव्वाली (काव्यावलि) बनाकर इन्होंने बहुत से नये राग निकाले थे, जो अब तक प्रचलित हैं। कहा जाता है कि बीन को घटाकर इन्होंने सितार बनाया था। संगीतज्ञ होने के नाते इनके साहित्य में संगीतात्मकता की मात्रा भी दृष्टिगोचर होती है। इनमें उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता है। आचार्य शुक्ल इनके साहित्य तथा भाषा के संबंध में लिखते हैं—“खुसरो के समय में बोलचाल की स्वाभाविक भाषा घिसकर बहुत-कुछ उसी रूप में आ गई थी जिस रूप में खुसरो में मिलती है। कबीर की अपेक्षा खुसरो का ध्यान बोलचाल की भाषा की ओर अधिक रहा है। खुसरो का लक्ष्य जनता का मनोरंजन था, पर कबीर धर्मोपदेशक थे, अतः बानी पोथियों की भाषा का सहारा कुछ-न-कुछ खुसरो की अपेक्षा अधिक लिये हुए है।” **डॉ. रामकुमार**

वर्मा इनके काव्य का विवेचन करते हुए लिखते हैं—“उसमें न तो हृदय की परिस्थितियों का चित्रण है और न कोई संदेश ही। वह केवल मनोरंजन की सामग्री है। जीवन की गंभीरता से ऊबकर कोई भी व्यक्ति उससे विनोद पा सकता है। पहेलियों, मुकरियों और सुखनों के द्वारा उन्होंने कौतूहल और विनोद की सृष्टि की है। कहीं-कहीं तो उस विनोद में अश्लीलता भी आ गई है। उन्होंने दरबारी वातावरण में रहकर चलती हुई बोली से हास्य की सृष्टि करते हुए हमारे हृदय को प्रसन्न करने की चेष्टा की है। खुसरो की कविता का उद्देश्य यहीं समाप्त हो जाता है।” आगे चलकर डॉ. वर्मा इनके संबंध में लिखते हैं—“चारणकालीन रक्तरंजित इतिहास में जब पश्चिम के चारणों की डिंगल कविता उद्धृत स्वरों में गूंज रही थी और उसकी प्रतिध्वनि और भी उग्र थी, पूर्व में गोरखनाथ की गंभीर धार्मिक प्रवृत्ति आत्मशासन की शिक्षा दे रही थी, उस काल में अमीर खुसरो की विनोदपूर्ण प्रकृति हिंदी साहित्य के इतिहास की एक महान् निधि है। मनोरंजन और रसिकता का अवतार यह कवि अमीर खुसरो अपनी मौलिकता के कारण सदैव स्मरणीय रहेगा।”

मनोरंजन के खजाने से मालामाल सूफियों में अग्रणी कवि अमीर खुसरो ने अपनी सहज मनोवृत्ति के कारण जनसामान्य को उन्मुक्त हृदय से मालामाल कर दिया। अरबी, फारसी, तुर्की, ब्रजभाषा और हिंदी में खड़ी बोली के सर्वप्रथम सफल प्रयोक्ता अमीर खुसरो द्वारा अनेक भाषाओं के सुखद मिश्रण को भाषा विज्ञानी भाषा संकर की संज्ञा देना चाहेंगे किन्तु इनके द्वारा प्रणीत ग़ज़लों (गायक व गायिका स्व. मुकेश व मधुर स्वर-संपन्न सुधा मल्होत्रा) के श्रृंगारात्मक ताने-बाने में फारसी और ब्रजभाषा के मणिकांचन योग से निश्चय से एक ऐतिहासिक तथ्य ध्वनित होता है कि भारत जैसे भाषा-बहुल देश में, प्रकृति द्वारा अनेकविध भौगोलिक वातावरण में पुष्ट भाषाएँ भी सौहार्द और समरसता को सहेजकर सर्वदा सौंदर्य विद्यायिनी हो सकती हैं।

खुसरो सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली कवि एवं साहित्य और संगीत के क्षेत्रों में एक सर्वथा-समर्थ आविष्कर्ता थे। विचित्र वीणा से सितार, मृदंगम से तबला के सुधी स्रष्टा तथा परम संगीतज्ञ की अमर रचना—“मैं पग में घुंघरू बांध, मिलन चली पिया को कि घुंघरू टूट गये। कव्वालियों (काव्य अवलियों) के प्रणेता एवं आशु कवित्व के महनीय गुणों से संपन्न सुखरो का महिमाशाली व्यक्तित्व और कृतित्व हिंदी साहित्य में सदा अविस्मरणीय रहेंगे।” उनकी एक चुलबुल मुर्की या मुकरी का नमूना द्रष्टव्य है—

वह आये तो शादी होय, उस बिन दूजा और न कोया।

मीठे लागे वाके बोल, क्यों सखि साजन? न सखी ढोल॥

उनकी कृति खलक बारी (शब्दकोश) तुर्की, अरबी, फारसी और हिंदी भाषाओं का पर्यायवाची कोश भाषा विज्ञान के तुलनात्मक क्षेत्र में एक विशिष्ट योगदान के रूप में उल्लेखनीय रहेगा।

खुसरो के व्यक्तित्व और कृतित्व से एक बड़ा मजेदार तथ्य उजागर हो जाता है कि हिंदी की प्रकृति व स्वभाव आरंभ से ही सांप्रदायिकता की भावना से सर्वथा मुक्त रहे हैं और सामाजिक संस्कृति का यही तकाजा था। यद्यपि खुसरो का राजदरबारों से संबद्ध साहित्य फारसी भाषा में प्रणीत हुआ है, जहाँ कवि ने हिन्दू-मुसलमानों के संप्रदायों के साक्षात् द्वन्द्व व कलह का वर्णन किया है, वहाँ भी दोनों जातियों के वीर योद्धाओं का संग्राम चित्रित हुआ है। उसमें किसी जाति अथवा संप्रदाय के प्रति वैमनस्य, घृणा या द्वेष को भड़काने का प्रयास लक्षित नहीं होता है।

जयचन्द प्रकाश तथा जसमयंक जसचन्द्रिका—ये दोनों रचनाएँ अभी तक प्राप्त नहीं हुई हैं। इनकी चर्चा केवल ‘राठौड़ां री ख्यात’ में मिलती है। प्रथम रचना के लेखक केदार नामक कवि बताए जाते हैं। इस महाकाव्य में महाराज जयचन्द के पराक्रम और प्रताप का वर्णन था। जसमयंक जसचन्द्रिका के लेखक मधुकर कवि बताए जाते हैं। दोनों ग्रन्थों की विषयवस्तु मिलती-जुलती है। सुना जाता है कि दयालदास ने इन्हीं रचनाओं के आधार पर कन्नौज का वृत्तान्त लिखा था। अतः किसी समय में इन ग्रन्थों का अस्तित्व अवश्य था।

बसंत विलास का रचयिता अभी तक अज्ञात है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने अनेक प्रमाणों के आधार पर इस रचना का समय ईसा की तेरहवीं सदी निर्धारित किया है। यद्यपि इसमें चौरासी दोहे हैं किन्तु उनमें कामिनियों के प्रेमी जीवन पर बसंत और उसके मादक प्रभाव का चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ में स्त्री-पुरुष और प्रकृति तीनों में प्रवाहमान अजस्र मदोन्मत्तता का जैसा स्वरूप मिलता है वैसा रीतिकालीन श्रृंगारी-कवि में भी नहीं मिलता है। इसमें कालिदास के ऋतु संहार तथा हाल की गाथा सतसई की परंपरा को निभाया गया है और राउलबेल की श्रृंगार-परंपरा को चरम सीमा पर पहुँचा दिया गया है। उदाहरणार्थ—

इणि परि कोइलि कूजइ पूजइ युवति मजोर॥

विधुर वियोगिनि धूजइ कूजइ मयण किसोर॥

नोट

एक ओर हृदय को सालता हुआ कोयल का कूजन और दूसरी ओर पति संयुक्ताओं का विलासमय कामपूजन वियोगिनी विधुर प्रेमदाओं को कंपायमान कर देते हैं और वे मनोज की मधुर अनुभूति करने लगती हैं।

भक्ति और रीतिकालीन शृंगारी प्रवृत्ति के अध्ययन के लिए यह रचना अतीव उपयोगी है। हिंदी भाषा के क्रमिक विकास की दृष्टि से भी यह रचना उपादेय है।



टास्क पाहुड़ दोहा पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

8.5 विद्यापति

जीवन-वृत्त—विद्यापति का जन्म सं. 1425 में बिहार के दरभंगा जिले में विसपी गाँव में हुआ था। ये विद्वान वंश से संबंध रखते थे। इनके पिता गणपति ठाकुर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक ‘गंगा भक्ति तरंगिनी’ अपने मृत संरक्षक मिथिला के महाराज गणेश्वर की स्मृति में समर्पित की थी। ये तिरहुत के महाराज शिवसिंह के आश्रय में रहते थे। महाराज शिवसिंह के अतिरिक्त रानी लखिमा देवी भी इनकी बड़ी भक्त थीं। विद्यापति ने ‘कीर्तिलता’ और ‘कीर्तिपताका’ में अपने आश्रयदाता शिवसिंह और कीर्तिसिंह की वीरता का बड़े ही ओजस्वी और प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है। आज से लगभग 40-50 वर्ष पहले बंगाली लोग विद्यापति को बंगला का कवि समझते थे किन्तु जब उनके जीवन की घटनाओं की जाँच-पड़ताल बाबू रामकृष्ण मुकर्जी और डॉ. ग्रियर्सन ने की तब से बंगाली अपने अधिकार को अव्यवस्थित पाते हैं।

ग्रन्थ—विद्यापति एक महान पंडित थे। उन्होंने अपनी रचनाएँ संस्कृत, अवहट्ट और मैथिली भाषा में लिखी हैं। संस्कृत पर इनका असामान्य अधिकार था और इन्होंने अपनी अधिकतर रचनाएँ संस्कृत में ही लिखीं। विद्यापति संक्रमण-काल के कवि थे। एक ओर वे वीरगाथा काल का प्रतिनिधित्व करते हैं तो दूसरी ओर वे हिंदी में भक्ति और शृंगार की परंपरा के प्रवर्तक माने जाते हैं। कीर्तिलता और कीर्तिपताका में उनका वीर कवि का रूप है। पदावली में उनका शृंगारी रूप है और शैव सर्वस्व सार में वे भक्तिभाव में झूमते हुए दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार भाव और भाषा की दृष्टि से इनकी रचनाओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। भाषा के आधार पर इनकी रचनाएँ ये हैं—

(क) संस्कृत—(1) शैव सर्वस्वसार, (2) शैव सर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण संग्रह, (3) भूपरिक्रमा, (4) पुरुष परीक्षा, (5) लिखनावली, (6) गंगा वाक्यावली, (7) दान वाक्यावली, (8) विभाग सार, (9) गया पत्तलक, (10) वर्ण कृत्य, (11) दुर्गा भक्ति तरंगिणी।

(ख) अवहट्ट—कीर्तिलता और कीर्तिपताका।

(ग) मैथिली—पदावली।

व्यक्तित्व—हिंदी साहित्य में विद्यापति की अक्षुण्ण कीर्ति का आधार उनके तीन ग्रन्थ हैं—पदावली, कीर्तिलता और कीर्तिपताका। विद्यापति पदावली में इन्होंने राधा-कृष्ण की प्रणय लीलाओं का अत्यंत हृदयहारी वर्णन किया है। इस संबंध में इनके आदर्श कवि जयदेव रहे हैं। जयदेव का गीत-गोविन्द इनका उपजीव्य ग्रन्थ है। भाव और शैली दोनों दृष्टियों से विद्यापति जयदेव के ऋणी हैं। पदावली में इनका शृंगारी रूप पूर्णतः उभर आया है। वैसे तो शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग का वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है पर जो तन्मयता संयोग शृंगार के चित्रण में दृष्टिगोचर होती है वह वियोग-पक्ष में नहीं। वस्तुतः विद्यापति संयोग-पक्ष के सफल गायक हैं और प्रेम के परम पारखी हैं। इन्होंने आलंबन विभाव में नायक कृष्ण और नायिका राधा का मनोहर चित्र खींचा है। उनके बीच में ईश्वरीय भावना की अनुभूति नहीं मिलती। एक ओर नवयुवक चंचल नायक है और दूसरी ओर यौवन और सौंदर्य की संपत्ति लिए राधा नायिका—

कि आरे नव जौवन अभिरामा।

जत देखल तत कहएन पारिअ छओ अनुपम इकठामा॥

अंग्रेजी कवि बायरन के समान विद्यापति का भी यह सिद्धांत वाक्य है कि “यौवन के दिन ही गौरव के दिन हैं।” डॉ. रामकुमार, “विद्यापति का संसार ही दूसरा है। वहाँ सदैव कोकिलाएँ ही कुंजन करती हैं। फूल खिला

करते हैं पर उनमें काटे नहीं होते। राधा रातभर जागा करती है। उसके नेत्रों में ही रात समा जाती है। शरीर में सौंदर्य के सिवाय कुछ भी नहीं है। पथ है उसमें भी गुलाब है, शैया है उसमें भी गुलाब है, शरीर है उसमें भी गुलाब। सारा संसार ही गुलाबमय है। उनके संसार में फूल फूलते हैं, कांटों का अस्तित्व नहीं है। यौवन-शरीर के आनन्द ही उसके आनन्द हैं।”

राधा तथा कृष्ण के प्रेम की तन्मयता का अनुपम चित्र निम्नांकित पंक्तियों में दर्शनीय है—राधा के मुख से बार-बार राधा शब्द निकलता रहा है और कृष्ण के मुख से कृष्ण-कृष्ण की रट लग रही है। राधा के हृदय में कृष्ण इस रूप से बस चुके हैं कि वह कृष्णमय हो चुका है और एतदर्थ वह राधा-राधा की पुकार कर रहा है और उधर दूसरी ओर कृष्ण का हृदय इतना राधामय हो चुका है कि उससे कृष्ण प्यारे की निरन्तर धुन लग रही है। यह है प्रेम की पराकाष्ठा—

अनुखन माधव माधव सुमरित,

सुन्दरि भेल मधाई।

सद्यःस्नाता का एक नयनाभिराम चित्र देखिये।

कामिनी करए सनाने हेरतहि हृदय हनए बच बाने।

चिकुर गरए जलधारा जनि मुख सनि उर रोअए अंधारा॥

राधा का नख-शिख सौंदर्य भी दर्शनीय है—

चाँद सार लए मुख घटना करु लोचन चकित चकोरे॥

अमित धोय आंचर धनि पोछलि दहउं दिति भेल उंजोरे॥

कुछ विद्वानों ने विद्यापति द्वारा चित्रित राधा-कृष्ण के प्रणय के लीला-पदों को देखकर इन्हें भक्त कवि कहा है किन्तु हमारे विचारानुसार विद्यापति राधा और कृष्ण के भक्त न होकर शैव-भक्त थे। विद्यापति को कृष्णभक्त-परंपरा में न समझना चाहिए। आचार्य शुक्ल का इस संबंध में कहना है कि “आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने गीत-गोविन्द के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है वैसे ही विद्यापति के इन पदों को भी।” सच यह है कि विद्यापति ने राधा-कृष्ण संबंधी पदों की रचना शृंगार काव्य की दृष्टि से की है। डॉ. रामकुमार के शब्दों में, “विद्यापति पदावली संगीत के स्वरों में गूँजती हुई राधा-कृष्ण के चरणों में समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है। उन्होंने शृंगार पर ऐसी लेखनी उठाई है जिससे राधा और कृष्ण के जीवन का तत्त्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है।” वे आगे चलकर और स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं—“विद्यापति के बाह्य संसार में भगवद् भजन कहाँ, इस वयःस्थिति में ईश्वरस्थिति कहाँ, सद्यःस्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ, अभिसार में भक्ति का सार कहाँ? उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं।” कुछ भी हो, विद्यापति की पदावली में भाषा के माधुर्य और भावों के माधुर्य का एक अद्भुत समन्वय हुआ है। भले ही उनमें प्रेम के बाह्य संसार पर अधिक बल है किन्तु फिर भी वह अत्यंत मनोरम है।

विद्यापति का व्यक्तित्व विविधमुखी है। उसमें पांडित्य, कला, रसिकता और भावुकता का अद्भुत समन्वय है। संक्रान्तिकालीन कवि होने के कारण उनके साहित्य में विगत तथा अनागत युगों के साहित्य की प्रवृत्तियाँ सहज में प्रतिबिम्बित हो उठी हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उनके साहित्य को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(क) शृंगारिक, (ख) भक्ति संबंधी, (ग) विविध विषयक नीति वीरगाथात्मक आदि। उनके शृंगारी साहित्य के सिंहावलोकन के पश्चात् यह निःसंकोच रूप से कहा जा सकता है कि भले ही वे शिव-भक्त हों किन्तु कम-से-कम वे कृष्णभक्त नहीं हैं। पदावली में चित्रित राधा-माधव की केलि-लीलाओं के पीछे किसी भी प्रकार का कोई भक्ति, धार्मिकता सांकेतिकता प्रतीकवाद या रहस्यवाद नहीं है। विद्यापति द्वारा गृहीत राधा-माधव साधारण नायिका-नायक है तथा उनकी लीलाओं और प्रेम-व्यापारों का चित्रण विशुद्ध लौकिक स्तर पर हुआ है। उनकी मिलन-कालीन क्रीड़ाओं में मांसलता और स्थूलता इतने उत्कृष्ट रूप में उभरी हुई है कि उनमें किसी प्रकार के रूपक या उज्ज्वल रस एवं मधुर रस की कल्पना-यथार्थ से आँखें मूँदना है तथा कवि के पदावली संबंधी प्रणयन के उद्देश्य को न समझना है। सच तो यह है कि पदावली पर हठात् अध्यारोपित रूपक या रहस्यवाद निभाने पर भी नहीं निभ सकता है। चैतन्य महाप्रभु एक महाप्राणी थे। उनके सामने शूद्र और चांडाल, श्लील और अश्लील सब समान थे। यदि वे भावविभोर होकर पदावली के गीतों को गुणगुनाते थे, तो इससे पदावली या विद्यापति की कृष्ण-भक्ति परायणता कदापि सिद्ध नहीं होती है। भक्त लोग तो गलदश्रु भाव से गीत-गोविन्द के गीतों को

नोट

भगवदाराधना के निमित्त गाते हैं और खोजने वाले तांत्रिकों के अति-कामुकता से अभिभूत सिद्ध-साहित्य में अतीन्द्रियता और रहस्यमयता को उद्घोषित करने तक का साहस कर दिया करते हैं, किन्तु न ही तो गीत-गोविन्द और न ही सिद्ध-साहित्य में किसी प्रकार की कोई आध्यात्मिकता है। पदावली में केवल राधा-कृष्ण के नामों के ग्रहण से किसी अतीन्द्रिय प्रेम या भक्ति की कल्पना का तात्पर्य यह होगा कि हमें समूचे हिंदी के रीति-साहित्य में भी इसी प्रकार के प्रेम और भक्ति की कल्पना करनी होगी जो कि नितान्त अवैज्ञानिक तथा असंगत है।

कीर्तिलता—इस रचना का हिंदी साहित्य में दो दृष्टियों में महत्त्व है—साहित्यिक प्रवृत्तियों तथा भाषा संबंधी परिवर्तन के कारण। इस ग्रन्थ में अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह की वीरता का वर्णन और यशोगान है। यह एक अपूर्व ऐतिहासिक काव्य है। पृथ्वीराज रासो से यह अपने ऐतिहासिक महत्त्व के कारण भिन्न हो जाता है। कवि ने अपने समसामयिक राजा का गुणगान बड़ी अलंकृत भाषा में किया है फिर भी कवि ने ऐतिहासिक तथ्यों को कल्पित घटनाओं एवं संभावनाओं से धूमिल नहीं होने दिया है। इस ग्रन्थ में उस समय का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। कवि ने उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी परिस्थितियों का चित्र-सा उतार दिया है। हिन्दू, मुसलमान-खान, वेश्याओं तथा सैनिकों के सजीव एवं पक्षपातरहित चित्रण से ग्रन्थ के साहित्यिक सौंदर्य में और भी अभिवृद्धि हुई है। विद्यापति ने अपने चरित-नायक के चरित्र-चित्रण में बड़े चातुर्य से काम लिया है। ग्रन्थ में जहाँ कीर्तिसिंह का उज्ज्वल वीर रूप स्पष्ट है वहाँ जौनपुर के सुल्तान फिरोजशाह के सामने उसका अति नम्र रूप भी प्रकट हुआ है। लेखक ने कहीं भी ऐतिहासिक तथ्यों को विकृत करने का प्रयत्न नहीं किया है।

कीर्तिलता के काव्य रूप की चर्चा करते हुए डॉ. द्विवेदी लिखते हैं—“ऐसा जान पड़ता है कि कीर्तिलता बहुत-कुछ उसी शैली में लिखी गई थी, जिसमें चन्दबरदायी ने पृथ्वीराज रासो लिखा था। यह भृंग और भृंगी के संवाद-रूप में है। इसमें संस्कृत और प्राकृत के छन्दों का प्रयोग है। संस्कृत और प्राकृत के छन्द रासो में बहुत आये हैं। रासो की भाँति कीर्तिलता में भी गाथा (गाहा) छन्द का व्यवहार प्राकृत भाषा में हुआ है। यह विशेष लक्ष्य करने की बात है कि संस्कृत और प्राकृत पदों में तथा गद्य में भी तुक मिलाने का प्रयास किया गया है जो अपभ्रंश परम्परा के अनुकूल ही है।” इसमें अपभ्रंश की पद्धतियाँ, बंध-शैली का प्रयोग हुआ है। विद्यापति ने अपने इस काव्य को कथा-काव्य न कहकर काहाणी कहा है। कथा-काव्य में राज्य-लाभ के साथ ही कन्याहरण, गंधर्व-विवाह एवं बहुविवाह का प्राधान्य रहता है। कीर्तिलता केवल राज्य-लाभ तक ही सीमित है। यही कारण है कि कीर्तिलता में इतनी अधिक कल्पित घटनाओं और संभावनाओं का आयोजन नहीं हो पाया जितना पृथ्वीराज रासो में है। उसमें रोमांस के प्रकरण निकल जाने से बहुत कल्पित घटनाओं के लिए स्थान नहीं रहा है, साथ-साथ स्वाभाविकता भी बनी रही है। संभवतः कथा-काव्य और काहाणी का अंतर बहुत कुछ संस्कृत साहित्य के कथा और आख्यायिका का-सा है। कीर्तिलता में बीच-बीच में गद्य का प्रयोग भी हुआ है। कारण इस ग्रन्थ से पूर्ववर्ती कथा-काव्यों में तथा संस्कृत में चम्पू काव्यों में उक्त प्रयोग प्रचलित था।

भाषा के विकास की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण बन पड़ा है। कीर्तिलता में परिनिष्ठित साहित्यिक अपभ्रंश से कुछ आगे बढ़ी हुई भाषा के दर्शन होते हैं। विद्यापति ने उसे अवहट्ट कहा है। इसमें तत्कालीन मैथिली भाषा का सम्मिश्रण है। कीर्तिलता में गद्य में तत्सम शब्दों के व्यवहार की अधिकता है तथा पद्य में तद्भव शब्दों का एकछत्र राज्य है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे बढ़ी हुई भाषा में देखने को मिलती हैं। आदिकाल की प्रामाणिक रचनाओं में कीर्तिलता का महत्वपूर्ण स्थान है। विद्यापति की कीर्तिलता में अपनी भाषा को देसिलबअना नाम दिया है। विद्यापति की कीर्तिलता में भाषाविषयक यह गर्वोक्ति प्रसिद्ध है—

बालचन्द विज्जाबड़ भाषा, दुहु नहि लगगई दुज्जन हासा।

ओ परमेसर सिर सोहड़ ई त्रिचय नाअर मन मोहड़।

विद्यापति के साहित्य के संक्षिप्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वीर कवि, भक्त कवि और शृंगारी कवि सभी रूपों में परिपूर्ण दिखाई देते हैं। एक ओर उनकी कीर्तिलता और कीर्तिपताका चारण काव्य की वीरगाथाओं का स्मरण दिलाती है तथा दूसरी ओर उनकी पदावली कृष्ण कवियों विशेषतः रीतिकालीन कवियों की शृंगारपरक सुकोमल भाव सामग्री की मूल प्रेरक सिद्ध होती है। विद्यापति हिंदी साहित्य में पदशैली के प्रवर्तक और सूर के पथ-प्रदर्शक जान पड़ते हैं। इनमें भाषा की सुकुमारता और भाव मधुरिमा का मणिकांचन योग है। विद्यापति अपने समय के बड़े सफल कवि थे। यही कारण है कि इनके प्रशंसकों ने उन्हें नाना उपाधियों से विभूषित किया है—अभिनय जयदेव, कवि शेखर सरस कवि, खेलन कवि, कवि कंठहार और कवि रंजन आदि। अस्तु विद्यापति ने मध्य युग के प्रायः समस्त काव्य को प्रभावित किया है। शृंगार-काव्य की सारी मान्यताएँ इसमें दृष्टिगोचर होती हैं। कल्पना, साहित्यिकता और भाषा की भंगिमा में ये अनुपम हैं। डॉ. रामरत्न भटनागर इनके संबंध में लिखते हैं—“जयदेव के गीतों में जिस माधुर्य भाव की प्रतिष्ठा है उनमें जो भावसुकुमारता और विदग्धता है, जो

पद-लालित्य है, वह तो विद्यापति में है ही, परन्तु साथ ही सामन्ती कला के तीव्र आकर्षक रंग भी उस पर चढ़े हैं और कवि की सभाचातुरी, वचनविदग्धता और भावविभोरता ने उसके काव्य को जयदेव के काव्य से कहीं अधिक मार्मिक बना दिया है। यही कारण है कि परवर्ती युग में कवियों और साधकों ने जयदेव के स्थान पर राधा-कृष्ण का नेतृत्व उन्हें दे दिया।” विद्यापति तथा जयदेव के काव्य संबंधी दृष्टिकोणों में भी पर्याप्त साम्य दृष्टिगोचर होता है। गीत-गोविन्दकार जयदेव विद्यापति के परम अनुकरणीय रहे हैं। इन दोनों की साहित्यिक परिस्थितियों और व्याख्यात्मक दृष्टिकोणों में साम्य का होना अनिवार्य था। यदि जयदेव के काव्य में हरिस्मरण, विलास-कला (काम-कला), काव्य-कला (नायिका भेद) और संगीत-कला का समन्वित रूप है, तो विद्यापति की पदावली में रस-रीति (कामानन्द संभोग कलाएँ), काव्य-कला (नायिका-भेद) और संगीत का विचित्र सम्मिश्रण है। जयदेव में भक्ति का झीना आवरण फिर भी जहाँ-तहाँ बना रहा है (यद्यपि वह है अवास्तविक) किन्तु विद्यापति की पदावली किसी प्रकार के धर्म या भक्ति की ग्रंथि से ग्रस्त नहीं है। अतः उसमें राधा-माधव की सहकेलियों का और भी उन्मुक्त गान हुआ है।

सच पूछा जाये तो निःसन्देह कहना होगा, कि विद्यापति का व्यक्तित्व और कृतित्व बहुआयामी था। उन्होंने संस्कृत, अपभ्रंश मैथिली, भोजपुरी आदि भाषाओं में साधिकार साहित्य सृजा। अब तक भी उक्त सभी संदर्भों में विस्तृत खोजों की अपेक्षा है, तभी उनका विविध आयामी साहित्य वृहत् परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकेगा। उनकी एक पुरुष परीक्षा नायक पोथी मिली है जो कदाचित् कामशास्त्र व सामुद्रिक-शास्त्र से संबद्ध है। विद्यापति की सर्व-लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वे अपने जीवन काल में ही लोगों द्वारा संपूज्य हो गये थे विशेषतः मिथिला और भोजपुर के जनपदीय आंचलिक क्षेत्रों में। अब तक भी उक्त जनपदों में कई स्थानों पर विद्यापति के मंदिरों का मिलना तथा घर-घर में उनकी प्रतिष्ठा इस तथ्य का प्रमाण है।

यद्यपि वे परम शैव-भक्त थे किन्तु उन्होंने अपने सर्वप्रिय प्रेम के प्रतीक-स्वरूप, शृंगार रस के अधिष्ठाता कृष्ण व ललित भावात्मिका राधा के ऐहिक अद्वैत प्रेम के वे थिरकते मनोहारी चित्र अंकित किये हैं जो हिंदी साहित्य की शाश्वत चिरनिधि हैं। गीत-गोविन्दकार जयदेव के परवर्ती कवि होने के नाते, निःसंदेह विद्यापति उसकी अतुल भाव-संपदा से प्रभावित हुए होंगे और संभवतः अपभ्रंश-रचित प्रणय के मनोरम चित्रों ने भी उन्हें जिस किसी मात्रा में प्रभावित किया होगा किन्तु सब कुछ होते हुए भी विद्यापति ने राधा-कृष्ण की उदात्त प्रणय लीला के वे अवदात स्वर उद्घोषित किये हैं जिन्होंने रीतिकालीन कवि समुदाय के लिए राधा-कृष्ण के सहज-प्रणयात्मक लोभनीय चित्रांकन के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। बड़े मजे व आश्चर्य की बात यह है कि विद्यापति के राधा कृष्णात्मक ऐहिकतापरक पदों को सुन कर चैतन्य महाप्रभु गलद् अश्रुभाव से सहज-समाधिस्थ होकर उन पदों की आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर घंटों तक आनन्दविभोर रहते थे। संभवतः परमात्मा में ऐकान्तिक भाव से तल्लीन परमहंस समाधिस्थ जनों के समक्ष ऐहिकता व आयुष्मिकता की विभाजक रेखायें स्वतः समाप्त हो जाती हैं। संस्कृत-साहित्य में यदि जयदेव के गीत-गोविन्द में, हरिस्मरण, कामकला, कुतूहल, विलास कला-कौशल के साथ लयात्मक गायन का समन्वय है, तो हिंदी में विद्यापति की पदावली उक्त सभी विशेषताओं से अभिमंडित है। राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम की पार्श्व-भूमि की सीमित परिधि में अंकित नानाविध नायिकाओं के अभिराम चित्र मन को हरने की एक अद्भुत क्षमता रखते हैं।

इस संदर्भ में प्रो. रामस्वरूप चतुर्वेदी, आचार्य शुक्ल के द्वारा विद्यापति की पदावली की आध्यात्मिकता पर किये गये तीक्ष्ण व्यंग्य का निराकरण करते हुए लिखते हैं, “आचार्य शुक्ल इस अनुभव तक नहीं पहुँचते कि विद्यापति के ये पद अपनी शृंगार भावना के साथ सच्चे रूप में ऐहिक हैं और उनकी तन्मयता की गहरी अनुभूति ही उन्हें आध्यात्मिक स्तर पर रूपांतरित कर देती है। विद्यापति में वैष्णव-भाव की मर्यादा और शैव का तादात्म्य भाव दोनों एक साथ मिलते हैं। काम भाव और शरीर का सौंदर्य उनके यहाँ उत्सव रूप में है।” उपर्युक्त पंक्तियों से यह तो स्पष्ट है कि विद्यापति द्वारा चित्रित राधा-कृष्णाश्रित प्रेम ऐहिक है। उसमें शरीर पक्ष की प्रधानता है। कवि की तन्मयात्मक अनुभूति ने उसे सर्वत्र शालीन बनाये रखा है, शायद वैष्णवी मर्यादा से वे यही इंगित करना चाहते हैं किन्तु याद रखना होगा कि केवल तन्मयता पदावली में चित्रित भौतिक प्रेम को आध्यात्मिक स्तर पर रूपान्तरित नहीं कर सकती है। हाँ, विद्यापति में भावों की सांद्रता और संप्रेषणीयता के अद्भुत गुण हैं। तन्मयता एक श्रेष्ठ व उत्तम काव्य का एक अनिवार्य घटक है।

विद्यापति का परवर्ती साहित्य के प्रति दाय

विद्यापति को संस्कृत साहित्य के शृंगार-वर्णन की परम्परा परम्परागत सम्पत्ति के रूप में मिली और उसका

नोट

उन्होंने यथासंभव सदुपयोग भी किया। जयदेव, विद्यापति के अत्यंत अनुकरणीय रहे हैं, जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। जयदेव ने काव्य-कला, काम-कला, संगीत-कला तथा हरि-स्मरण का संतुलित रूप गीत-गोविन्द में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है किन्तु इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता नहीं मिली। गीत-गोविन्द की संगीत लहरी में नायिका-भेद तथा केलिरह (काव्य कलाएँ) मुख्य रूप से गुंजरित हो उठी हैं। जहाँ हरि-स्मरण की क्षीण ध्वनि विलीन हो जाती है। विद्यापति में जयदेव काव्य की उपर्युक्त सब प्रवृत्तियाँ हैं, किन्तु उनके साहित्य में रस-रीतिवाद का सर्वप्राधान्य है। यद्यपि विद्यापति ने किसी निश्चित रूपरेखा के अनुसार पदावली में नायिका-भेद-प्रभेद प्रस्तुत नहीं किया है, किन्तु राधा-कृष्ण के परकीया प्रेम के सीमित वृत्त में नायिका-भेद का जो भाग सहज में समाविष्ट हो सकता था, वह सब कुछ पदावली में है। अतः विद्यापति ने परवर्ती कवियों, कृष्ण भक्ति साहित्य तथा रीतिकालीन साहित्य के लिए राधा-कृष्ण के ब्याज से नायिका भेद वर्णन की प्रवृत्ति का परोक्ष रूप से मार्ग प्रशस्त कर दिया। रीतिकाल में रीतिबद्ध कवियों के लक्षण-ग्रंथों में यह प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। रीतिकाल में रस-रीतिपरक, अर्थात् विलासिता तथा कामानन्द से संबद्ध साहित्य के प्रणयन की प्रेरणा विद्यापति द्वारा मिलना कोई अकल्पनीय नहीं है। रीति कवि के लिए राधा और कृष्ण के नाम पर लौकिक शृंगार की अभिव्यक्ति का मार्ग विद्यापति के द्वारा पहले से प्रशस्त कर दिया गया था। राधा-कान्ह के सुमिरन का बहाना करके प्रणयलीलाओं के उन्मुक्त मांसल चित्र उपस्थित करने वाले रीतिकालीन कवि तथा विद्यापति के दृष्टिकोण, उद्देश्य तथा परिस्थितियों में पर्याप्त साम्य है। हाँ, इस दिशा में विद्यापति में फिर भी थोड़ी-बहुत कलात्मकता बनी रही है जबकि 'रीति' कवि में उसका सर्वथा अभाव है।

विद्यापति की कीर्तिलता से वीर रसात्मक तथा पुरुष परीक्षा जैसे ग्रन्थों से नीति और उपदेशमय ग्रन्थों की शैली का हिंदी के परवर्ती युगों में अनुसरण होता रहा।

विद्यापति का काव्य और व्यक्तित्व विविधमुखी है। एक ओर जहाँ विद्यापति के द्वारा मिथिला भाषा के कवि गोविन्दास तथा लोचन आदि कवि प्रभावित हुए वहीं दूसरी ओर कृष्णभक्त व काव्यकार भक्तवर सूरदास आदि भी इस प्रभाव से अछूते न रहे। हालांकि सूर में भक्ति भावना, कलात्मकता और संयम अधिक है। इसके अतिरिक्त रीतिकाल का साहित्य कई दिशाओं में विद्यापति से अत्यधिक प्रभावित हुआ है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. अमीर खुसरो का असली नाम था।

(क) अबुल हसन	(ख) मीरकासिम
(ग) शेखहसन	(घ) अब्दुल हसन
6. खुसरो का लक्ष्य का मनोरंजन करना था।

(क) राजा	(ख) जनता
(ग) दरबारी	(घ) ईश्वर
7. विद्यापति कवि होने के साथ-साथ एक महान भी थे।

(क) लेखक	(ख) निबंधकार
(ग) पंडित	(घ) तीनों
8. विद्यापति के उपासक (भक्त) थे।

(क) कृष्ण	(ख) शिव
(ग) राम	(घ) शक्ति

8.6 सारांश (Summary)

- गहड़वारों के शासनकाल में समूचा हिंदी प्रदेश स्मार्त धर्मानुयायी था। जब गहड़वारों का प्रभाव क्षीण हो गया और अजमेर कालिंजर आदि राज्य स्वतंत्र हो गए तो उन राज्यों में भी स्मार्त धर्म की प्रबलता रही। इस समय

शैव मत का दबदबा था। नाथयोगियों, रसेश्वर मत के मानने वाले रस-सिद्धों और मंत्र-तंत्र में विश्वास रखने वाले शक्ति-साधकों का इन क्षेत्रों में बड़ा जोर था।

- इन शैव साधकों के संगठित मत नहीं थे और न ही इनका देशी भाषा के प्रति कोई विशेष अनुराग था। इसके अतिरिक्त ये जनता के प्रति भी तटस्थ बने रहे। केवल यह ही नहीं तब की जनता इनसे अतीव भयभीत थी। अतः स्पष्ट है कि इनके द्वारा प्रणीत रचनाएँ जनप्रिय नहीं हो सकती थीं। कुछ थोड़ी-सी पुस्तकें इन योगियों की मिल जाती हैं पर एक तो उन्हें जैन पुस्तकों के समान संगठित भंडारों का आश्रय नहीं मिला, दूसरे वे आल्हा आदि की भाँति लोक-मनोहर भी नहीं हो सकीं।
- शारंगधर शाकंभरीश्वर रणथंभौर के प्रसिद्ध शासक हम्मीर देव के सभासद थे। हम्मीर देव का निधन संवत् 1357 है। अतः इनका रचना काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है। इनका आयुर्वेद संबंधी शारंगधर संहिता नामक संस्कृत ग्रन्थ अत्यंत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इनकी दो रचनाएँ और भी हैं—(1) शारंगधर पद्धति, इसमें सुभाषितों का संग्रह है तथा बहुत से शावर मंत्र। (2) हम्मीर रासो—यह ग्रन्थ देशी भाषा का वीरगाथात्मक महाकाव्य बताया जाता है। यह रचना आज तक उपलब्ध नहीं हुई है। आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि, “प्राकृत पिंगल-सूत्र में कुछ पद्य असली हम्मीर रासो के हैं।”
- अमीर खुसरो इनका उपनाम है, इनका असली नाम अब्दुल हसन था। इनका जन्म सन् 1312 में पटियाली जिला एटा में हुआ। इन्होंने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान तथा तुगलक वंश का आरंभ देखा।
- विद्यापति का जन्म सं. 1425 में बिहार के दरभंगा जिले में विसपी गाँव में हुआ था। ये विद्वान वंश से संबंध रखते थे। इनके पिता गणपति ठाकुर ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक ‘गंगा भक्ति तरंगिनी’ अपने मृत संरक्षक मिथिला के महाराज गणेश्वर की स्मृति में समर्पित की थी। ये तिरहुत के महाराज शिवसिंह के आश्रय में रहते थे। महाराज शिवसिंह के अतिरिक्त रानी लखिमा देवी भी इनकी बड़ी भक्त थीं। विद्यापति ने ‘कीर्तिलता’ और ‘कीर्तिपताका’ में अपने आश्रयदाता शिवसिंह और कीर्तिसिंह की वीरता का बड़े ही ओजस्वी और प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है।

8.7 शब्दकोश (Keywords)

प्रोषितपतिका — वह स्त्री जिसका पति परदेश गया हो।

परंपरानुमोदित — परंपरानुसार, ऐसी परंपरा जो पहले से चली आ रही हो।

8.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. आदिकाल की हिन्दी रचनाओं की अनुपलब्धता के कारणों का उल्लेख करें।
2. संदेश रासक क्या है? वर्णन करें।
3. आदिकाल के अपभ्रंश भाषा की प्रमुख रचनाओं पर प्रकाश डालें।
4. लौकिक साहित्य पर प्रकाश डालें।
5. अमीर खुसरो कौन थे? उनके जीवन वृत्त एवं साहित्यिक योगदान का उल्लेख करें।
6. हिन्दी साहित्य में विद्यापति के अक्षुण्ण कीर्ति के आधार क्या हैं? विवेचना करें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|---------------------|-----------|-------------|----------------|
| 1. कान्यकुब्ज दरबार | 2. नख-शिख | 3. दोहा-छंद | 4. पाहुड़ दोहा |
| 5. (घ) | 6. (ख) | 7. (ग) | 8. (ख) |

8.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. ईश्वरदत्त शील, आभारानी।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।

इकाई-9: आदिकाल की प्रमुख भाषाएँ एवं साहित्य

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 9.1 संस्कृत भाषा और साहित्य
- 9.2 पालि भाषा और साहित्य
- 9.3 प्राकृत भाषा और साहित्य
- 9.4 अपभ्रंश भाषा और साहित्य
- 9.5 आदिकालीन साहित्य : उपलब्धियाँ एवं निष्कर्ष
- 9.6 आदिकाल के कतिपय रासो-काव्य तथा कवि
- 9.7 सारांश (Summary)
- 9.8 शब्दकोश (Keywords)
- 9.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 9.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- संस्कृत एवं पालि भाषा और साहित्य को जानने में।
- प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा और साहित्य को जानने में।
- आदिकालीन साहित्य की उपलब्धियों एवं निष्कर्ष को जानने में।
- आदिकाल के रासो काव्य एवं कवियों को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

महाभारत अपने आप में भारतीय साहित्य का एक समग्र रूप है। इसमें कौरव-पांडवों के युद्ध की ऐतिहासिक घटना, उस युग की तथा परवर्ती समय की नैतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक चेतना तत्त्ववादों और कल्पनाप्रवण आख्यानों से ऐसे आच्छादित हो गई है कि वह नगण्य-सी प्रतीत होती है। भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत पाँचवाँ वेद, इतिहास, पुराण, स्मृति, शास्त्र और काव्य सभी कुछ है। जो कुछ भारत और भारतीय साहित्य में है वह सब कुछ महाभारत में भी है। जो महाभारत में नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है। इससे उक्त महा-प्रबन्धात्मक काव्य की विषय-व्यापकता, आकार विशालता तथा लक्ष्य की महत्ता का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। सवा लाख श्लोकों के इस महाग्रन्थ में मनोविनोद, ज्ञानार्जन, जीवन-निर्माण तथा कवि-बुद्धि के सृजन की एक अद्भुत क्षमता है।

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश मध्यकालीन आर्य-भाषाएँ थीं, जिनका समय मोटे तौर पर 600 से 1200 ई.पू. तक स्वीकार किया जाता है। प्राकृत भाषा का समय सामान्यतः 600 ई.पू. से 600 ई. तक है किंतु संस्कृत नाटकों में छिटपुटे रूप से प्राकृतों का प्रयोग 1800 सदी तक होता रहा है।

9.1 संस्कृत भाषा और साहित्य

संस्कृत भाषा और उसका वाङ्मय केवल भारतीय साहित्य में ही गरिमाशाली नहीं है, अपितु विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। इसके पीछे विशाल भारत देश की मनीषा और प्रतिभा का कई सहस्र वर्षों का सतत् चिन्तन और उसकी रस-साधना विद्यमान है। मात्रा में यह साहित्य जितना विपुल है, गुण में उतना ही प्रकृष्ट है। परवर्ती भारतीय-साहित्य निरन्तर कई शताब्दियों तक संस्कृत साहित्य से प्रेरित एवं प्रभावित होता रहा है।

संस्कृत साहित्य को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) वैदिक साहित्य, (ख) लौकिक संस्कृत साहित्य। वैदिक साहित्य के अंतर्गत चारों वेद, वेदांग, ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा उपनिषद् आदि हैं और लौकिक संस्कृत साहित्य अपने व्यापक अर्थ में धार्मिक तथा ऐहिकतापरक काव्यों, प्रबन्ध काव्यों, गीति काव्यों, नाटकों, मुक्तक काव्यों, कथा साहित्य, अलंकृत गद्य काव्यों, इतिहास एवं पुराणों, समीक्षाशास्त्र, नाना वैज्ञानिक विषयों, पत्थरों और ताम्रपत्रों के साहित्य को समाविष्ट कर लेता है। लौकिक संस्कृत साहित्य का प्रतिपाद्य भाषा-शैली तथा परिवेश की दृष्टि से वैदिक साहित्य से किंचित भिन्न है। यास्क (8वीं सदी ई. पू.) के निरुक्त से यह स्पष्ट है कि उसके समय तक वैदिक भाषा को समझना कुछ कठिन हो गया था और साथ-साथ एक लोकभाषा (ब्रह्मर्षि और अंतर्वेदिकी) विकसित होकर साहित्य क्षेत्र में परिनिष्ठित होने लगी थी। पाणिनि (ई. पू. छठी सदी) से पूर्व भी कई वैयाकरण उक्त लोकभाषा को परिष्कृत एवं नियमबद्ध करने का प्रयास कर चुके थे। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों की पद्धति का अनुसरण करते हुए परिनिष्ठित संस्कृत का जो रूप अपने व्याकरण द्वारा निश्चित किया वह आज तक मान्य है। पाणिनि का यह प्रयास भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विश्व-साहित्य में अद्वितीय है। आज तक संस्कृत भाषा का अर्थ पाणिनी व्याकरणसम्मत लौकिक या श्रेण्य संस्कृत लिया जाता है। रामायण और महाभारत केवल विषय-वस्तु ही नहीं बल्कि भाषा की दृष्टि से भी वैदिक-भाषा और लौकिक-संस्कृत भाषा के बीच की एक सुन्दर कड़ी हैं। पाणिनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक लौकिक संस्कृत के साहित्य का निरन्तर सृजन होता रहा और आज भी इस भाषा का पाठन तथा इसके साहित्य सृजन की परम्परा अपने किसी-न-किसी रूप में अक्षुण्ण है।

वाल्मीकिकृत रामायण और वेदव्यास रचित महाभारत दोनों महाप्रबन्ध काव्य शताब्दियों से भारतीय साहित्य के उपजीव्य ग्रंथ बने रहे हैं। ये दोनों ही भारतीय संस्कृति और इतिहास के मूल्यवान् स्रोत हैं। रामायण सात कांडों में विभक्त है। यूरोपीय विद्वानों ने बालकांड और उत्तर कांड को प्रक्षिप्त माना है। भारतीय साहित्य में वाल्मीकि को आदिकवि और रामायण को आदिकाल स्वीकार किया गया है। भाव-पक्ष और कला-पक्ष की दृष्टि से रामायण एक अतीव कलात्मक एवं अनुकरणीय रचना है। इसमें अंगी-रस करुण के साथ वीर, शृंगार, अद्भुत और रौद्र आदि रसों का सुंदर समन्वय है। वस्तु-वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों के बिम्बग्राही वर्णन वाल्मीकि को निश्चयतः एक उत्कृष्ट कवि सिद्ध करते हैं। दंडी आदि काव्यशास्त्रियों ने कदाचित् रामायण के आधार पर ही महाकाव्य के लक्षणों का निर्धारण किया था। मानव स्वभाव के विशद चित्रण और आदर्श चरित्रों की सृष्टि में वाल्मीकि अद्वितीय हैं। कदाचित् इन्हीं महनीय गुणों के कारण रामायण भारतीय जीवन तथा साहित्य को शताब्दियों से प्रेरित और प्रभावित करती रही है और भविष्य में भी यह अधिकाधिक प्रचारित होती रहेगी।

महाभारत अपने आप में भारतीय साहित्य का एक समग्र रूप है। इसमें कौरव-पांडवों के युद्ध की ऐतिहासिक घटना, उस युग की तथा परवर्ती समय की नैतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक चेतना तत्त्ववादों और कल्पनाप्रवण आख्यानों से ऐसे आच्छादित हो गई है कि वह नगण्य-सी प्रतीत होती है। भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत पाँचवाँ वेद, इतिहास, पुराण, स्मृति, शास्त्र और काव्य सभी कुछ है। जो कुछ भारत और भारतीय साहित्य में है वह सब कुछ महाभारत में भी है। जो महाभारत में नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है। इससे उक्त महा-प्रबन्धात्मक काव्य की विषय-व्यापकता, आकार विशालता तथा लक्ष्य की महत्ता का सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। सवा लाख श्लोकों के इस महाग्रन्थ में मनोविनोद, ज्ञानार्जन, जीवन-निर्माण तथा कवि-बुद्धि के सृजन की एक अद्भुत क्षमता है।

रामायण और महाभारत के काल का प्रश्न अतीव विवादास्पद है। कतिपय विद्वान् रामायण को पूर्ववर्ती मानते हैं जबकि दूसरे महाभारत को। अस्तु, इतना तो निर्विवाद है कि ये दोनों ग्रन्थ ई.पू. छठी सदी के आसपास विद्यमान थे और इनका अंतिम रूप गुप्त नरेशों के समय में निष्पन्न हुआ। इन ग्रंथों में प्रक्षेपों की प्रक्रिया बहुत समय तक चलती रही और यह रामायण की अपेक्षा महाभारत में बहुत ही अधिक हुई।

नोट

पुराण भारतीय साहित्य का एक अतीव महत्वपूर्ण अंग है। भारतीय साहित्य इनके प्रभूत मात्रा में प्रभावित हुआ है। पुराणों का रचनाकाल ईसा की दूसरी सदी से लेकर नवीं-दसवीं सदी तक है किंतु पुराण साहित्य की सत्ता का प्रमाण कौटिल्य के अर्थशास्त्र, रामायण-महाभारत तथा उससे भी पूर्व के समय में मिलता है। इनमें केवल धर्म, दर्शन और अवतारवाद का ही प्रतिपादन नहीं है बल्कि भारतीय संस्कृत और इतिहास का भी सुन्दर लेखा-जोखा मिलता है। निःसंदेह इनमें कल्पना का अतिशय है किन्तु भारतीय धर्म, दर्शन, संस्कृति और इतिहास के अध्येता के लिए ये बहुत मूल्यवान हैं। भागवत-पुराण ने भारत के भक्ति साहित्य को अपरिमित प्रभावित किया है। पुराणों की संख्या 18 है—विष्णु, वायु, शिव, अग्नि, लिंग, स्कन्द, वामन, वराह, भविष्य, नारद, मार्कण्डेय, कूर्म, मत्स्य, गरुड, ब्रह्मांड, श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्त तथा ब्रह्म आदि। इनके अतिरिक्त 18 उपपुराण भी माने गये हैं तथा जैनों के पुराण भी संस्कृत भाषा में लिखे गये।

संस्कृत के महाकाव्यों की एक विशाल परम्परा है। यद्यपि दीप-शिखा, कवि-कुलगुरु कालिदास के काल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, किंतु कालिदास के साहित्य के अन्तः साक्ष्य तथा उसमें चित्रित सांस्कृतिक और सामाजिक दशाओं के आधार पर उन्हें ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रम संवत् के प्रवर्तक के समय में मानना निरापद है। कालिदास के दो महाकाव्यों—रघुवंश और कुमारसंभव में भारतीय रस-साधना का चरम परिपाक मिलता है। कुमारसंभव में शिव-पार्वती विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा तारकासुर के युद्ध का वर्णन है। रघुवंश में दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक के सूर्यवंशी राजाओं का वर्णन है। रघुवंश में क्या कला-पक्ष और क्या भाव-पक्ष दोनों चरम सीमा पर पहुँच गए हैं। रघुवंश की गणना संस्कृत साहित्य के बृहत्तरी महाकाव्यों में होती है। कालिदास के महाकाव्य रस विधान और अभिव्यंजना शैली की दृष्टि से इतने परिमार्जित और परिष्कृत हैं कि उनसे सहज में अनुमान किया जा सकता है कि प्राक् कालिदास काल में भी महाकाव्यों की एक विशाल परम्परा रही होगी। किंवदन्ती है कि वैयाकरण पाणिनि ने जाम्बवती परिणय और पाताल विजय के दो काव्य लिखे थे और वररुचि ने भी इस दिशा में स्तुत्य प्रयास किया था। अस्तु। कालिदास से पूर्व के महाकाव्य अप्राप्य हैं। कनिष्क के समकालीन अश्वघोष (ई. प्रथम सदी) ने सौंदरानन्द और बुद्धचरित नामक दो महाकाव्य लिखे। सौंदरानन्द में बुद्ध के सौतेले भाई नन्द और उनकी पत्नी सुन्दरी के प्रेम तथा बुद्ध के प्रभाव का वर्णन किया गया है जबकि बुद्धचरित में महात्मा बुद्ध के जीवन, उपदेश और सिद्धांतों का वर्णन है। अश्वघोष के काव्य प्रणयन का उद्देश्य कविता के माध्यम से मोक्ष और धर्म की प्राप्ति है, अतः इनकी कृतियों का कोई विशेष साहित्यिक महत्त्व नहीं है। शैली की सरलता की दृष्टि से ये ग्रन्थ निश्चित रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। **कालिदासोत्तर** काव्यों में रस का स्थान अलंकृति, चमत्कार तथा पांडित्य ने ले लिया और वह हृदय की वस्तु न रहकर मस्तिष्क की वस्तु बनकर रहा गया। कालिदास की सरस, मधुर, प्रसाद-गुणमयी अभिव्यंजना शैली शाब्दी क्रीड़ा मात्र बनकर रह गई। **काव्य के इस विचित्र मार्ग के प्रवर्तक किरातार्जुनीय महाकाव्य के लेखक भारवि** (छठी सदी) पुलकेशी द्वितीय के समकालीन थे। भारवि संस्कृत साहित्य में अर्थ-गौरव के लिए बहुप्रशंसित हैं। काव्य में शास्त्र के समावेश का निर्देशन भारवि के समसामयिक भट्टिक कवि का रावणवध है, जहाँ रामकथा के साथ-साथ काव्य के व्याज से व्याकरणशास्त्र का व्यावहारिक प्रयोग दिखाया गया है। इसी काल में रामकथा पर आश्रित कुमारदास रचित 'जानकीहरण' में अलंकृति-शैली अपने उग्र रूप में प्रकट हुई हैं। माघ का शिशुपाल-वध संस्कृत महाकाव्यों में महत्त्वपूर्ण है। माघ ने प्रत्येक क्षेत्र में भारवि को तिरोहित करने के लिए अपने काव्य का निर्माण किया, अतः भारवि काव्य की दूषित प्रवृत्तियाँ और गुण शिशुपाल-वध में स्फुट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। माघ के भक्त आलोचकों ने पदालालित्य, अर्थ गांभीर्य और अनूठी उपमाओं के लिए इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। रत्नाकर (9वीं सदी) का हरविजय, हरिश्चन्द्र (10वीं सदी) का धर्म शर्माभ्युदय तथा और भी इसी प्रकार के अनेक काव्य माघ की पद्धति पर निर्मित हुए। चित्रात्मक काव्यों के अंतर्गत नलोदय काव्य, कविराज (11वीं सदी) का राघवपांडवीय, हरिदत्त सूर का राघव नैषधीय, चिदम्बर का 'राघव पांडवीय' आदि ऐसी रचनाएँ हैं जिनमें श्लेष के बल से दोहरी-तिहरी कथाओं का संयोजन किया गया। निःसंदेह इनमें कर्ताओं का रचना-कौशल और उनका शब्द भंडार पर अपार अधिकार द्योतित होता है, किंतु इनमें हृदय को छूने की क्षमता नहीं है। प्रौढोक्तिमय काव्यों में मंखक (14वीं सदी) का श्रीकंठ चरित प्रसिद्ध है। ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में विल्हण (11वीं सदी) का विक्रमांकदेव चरित तथा पद्मगुप्त (11वीं सदी) का नव-साहसांक चरित्र उल्लेखनीय हैं। इसमें इतिहास को अतिरंजित कल्पना से मिश्रित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त हम्मीर विजय और सुजान चरित भी ऐतिहासिक काव्य हैं। श्री हर्ष (12वीं सदी) का नैषधीय चरित महाकाव्य माघोत्तर काव्यों में विशेष उल्लेखनीय है। इसका नाम वस्तुतः नल-दमयन्ती परिणय ही होना चाहिए। इसमें गंभीर पांडित्य, दर्शन, प्रौढोक्ति, चमत्कारवादिता, आलंकारित चातुर्य अपने परिपाक पर पहुँच

गए हैं। महाकाव्य निर्माण की यह परंपरा मुस्लिम तथा अंग्रेजी शासनकाल तक यत्किंचित् रूप में मिलती रही और आज भी चरितात्मक काव्यों का प्रणयन जारी है।

नोट



नोट्स रामायण और महाभारत केवल विषय-वस्तु ही नहीं बल्कि भाषा की दृष्टि से भी वैदिक भाषा और लौकिक संस्कृत भाषा के बीच एक सुन्दर कड़ी है।

संस्कृत के खंड काव्यों के अंतर्गत कालिदास का मेघदूत, विल्हण की चौर पंचाशिका, विक्रम का नेमिदूत तथा धोमी का हंसदूत आदि उल्लेखनीय हैं। हिंदी तथा भारत की अन्य अनेक आधुनिक आर्य भाषाओं में लिखे गए सन्देश काव्यों पर उक्त काव्यों का प्रभाव स्पष्ट है।

संस्कृत नाटक साहित्य की परम्परा जहाँ विशाल है, वहाँ समृद्ध भी है। भास (4 सदी ई. पूर्व) से पूर्व का संस्कृत-नाटक-साहित्य अप्राप्य है। भास के 13 नाटक उपलब्ध हुए हैं, जिनमें कुछ एकांकी भी हैं। इनके नाटक भाषा की दृष्टि से सरल तथा अभिनेय हैं। इनकी रचनायें हैं—प्रतिमा, अभिषेक, बाल चरित, पंचरात्र, स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञा, यौगन्धरायण, अधिदरिद्र भास, चारुदत्त (नाटक) दूतवाक्य, उरुभंग, घटोत्कच, मध्यमव्यायोग, कर्णभार (एकांकी)। महाकवि कालिदास के तीन नाटक—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् में उनकी नाट्य प्रतिभा उत्तरोत्तर रूप से विकसित हुई है। भारतीय नाट्य साहित्य में तो अभिज्ञान शाकुन्तलम् शीर्ष स्थानीय है ही किन्तु विश्व साहित्य में भी इसका एक अद्वितीय स्थान है। इसमें धरा और स्वर्ग का एक अपूर्व मिलन तथा काव्य-कला और नाटकीय प्रतिभा का एक अद्भुत सम्मिश्रण है। अश्वघोष के शारिपुत्र-प्रकरण का भी पता चला है। मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक का काल यद्यपि अनिश्चित है किन्तु भारत के अधिकतर विद्वान उसे ईसा की प्रथम सदी में मानते हैं। इसमें नाटकीय कौशल, व्यापार की गतिशीलता और मानवीय अनुभूतियों का चित्रण चरम परिपाक पर पहुँच गया है। कदाचित् विश्व साहित्य में यह प्रथम सुंदर यथार्थवादी रचना है। हर्षवर्धन (7वीं सदी) की तीन रचनाओं में प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाएँ हैं और नागानन्द नाटक है। प्रथम दो में उदयन और वासवदत्ता के हल्के-फुल्के प्रणय के चित्र हैं और ये कालिदास के मालविकाग्निमित्र से अत्यधिक प्रभावित हैं। इन दोनों रचनाओं ने परवर्ती संस्कृत और प्राकृत साहित्य की नाटिकाओं को अत्यधिक प्रभावित किया है। नागानन्द बोधिसत्व जीमूतवाहन की दानशीलता से संबद्ध है। हर्ष नाटककार की अपेक्षा एक सफल कवि प्रतीत होते हैं। नाट्यशास्त्रीय नियमों के पालन की दृष्टि से इनकी रत्नावली का संस्कृत साहित्य में काफी आदर है। हर्षोत्तर नाटक साहित्य में हासोन्मुख प्रवृत्तियों का प्रवेश होने लगा। भट्टनारायण (8वीं सदी) के वेणीसंहार में उक्त प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। वेणीसंहार नाटकीय दृष्टि से सफल नहीं है। इसमें कालिदासोत्तर महाकाव्यों की अलंकार प्रधानता पांडित्य-प्रदर्शन, प्रौढ़ोक्तियों और चमत्कारवादिता का प्राचुर्य है। मुरारि के अनर्घ-राघव (9वीं सदी) में उक्त हासात्मक प्रवृत्तियाँ अपेक्षाकृत और भी उग्र रूप में प्रकट हुईं। हर्षोत्तर काल में विशाखदत्त तथा भवभूति (8वीं सदी) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। विशाखदत्त का 'मुद्रा-राक्षस' नाटकीय दृष्टि से एक अतीव सफल रचना है। इसमें नन्दों के विनाश और चंद्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य स्थापना की ऐतिहासिक घटना है। इसमें चाणक्य की नीति और उसका चरित्रिक औदात्य दर्शनीय हैं। संस्कृत नाटककारों में कालिदास के पश्चात् भवभूति का नाम आता है। इनके महावीर चरित, मालती माधव तथा उत्तर रामचरित नाटकों में महावीर चरित तथा उत्तर रामचरित कथा से संबद्ध हैं और मालती माधव मृच्छकटिक की पद्धति पर मालती और माधव के रोमांस से संबंधित हैं। भवभूति कवि के रूप में जितने सफल हैं उतने नाटककार के रूप में नहीं। परवर्ती नाटक साहित्य रंगमंच से दूर हटता गया और उसमें पांडित्य प्रदर्शन की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती गई। राजशेखर (10वीं सदी) के बाल रामायण और जयदेव का प्रसन्न-राघव इसके प्रत्यक्ष निदर्शन हैं। अन्योपदेशी नाटकों में प्रबोधचन्द्रोदय मुख्य हैं। परवर्ती संस्कृत नाटक साहित्य में भागों और प्रहसनों की एक विशाल परम्परा मिलती है जिसका स्थानाभाव के कारण उल्लेख करना संभव नहीं है।

संस्कृत का गद्य साहित्य भी पर्याप्त समृद्ध है। इसमें जहाँ एक ओर सरल अनलंकृत और स्वाभाविक शैली में रचित जीव-जन्तु संबंधी औपदेशिक कथाओं तथा लोकप्रिय कथाओं से संबंधित पंचतन्त्र, हितोपदेश, शुकसप्तति, सिंहासनवाटिका, पुत्तलिका, बेताल पंचविंशति, भोज प्रबंध और पुरुषपरीक्षा जैसी कृतियाँ मिलती हैं, वहाँ सुबन्धु-दण्डी और बाण की रोमांस कथाएँ शिलालेख तथा चम्पू काव्य भी आते हैं और साथ ही कथासरितसागर

नोट

और वृहत्कथा-मंजरी आदि भी हैं। प्रत्यक्ष-श्लेषमय प्रबन्ध के लेखन में परम पटु सुबन्धु (छठी सदी) की वासवदत्ता में राजकुमार कन्दर्प केतु और वासवदत्ता के प्रेम की कथा है। इसमें लेखक ने अपने पांडित्य, चमत्कारप्रियता और कलाबाजी का पूरा परिचय दिया है। यह रचना कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। दण्डी (7वीं सदी) की दो रचनाओं अतीव सुन्दरी कथा और दशकुमार चरित में दूसरी रचना विशेष उल्लेखनीय है। दण्डी अपने पदलालित्य, सरल, स्वाभाविक सरस वर्णनों और जीवन की परम गहन यथार्थ अनुभूतियों के चित्रण की कला में संस्कृत गद्य साहित्य में बेजोड़ हैं। हर्षवर्धन के समकालीन बाण में सुबन्धु की कृत्रिम पांडित्यपूर्ण अलंकृत शैली और दण्डी की आख्यायिका काव्य है और कादम्बरी कथा काव्य। अद्भुत प्रतिभा के धनी बाण का संस्कृत गद्य साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। बाणोत्तर काल में प्रचलित कृत्रिम और पांडित्यपूर्ण चम्पू शैली में प्रणीत गद्य काव्यों में त्रिविक्रम भट्ट (10वीं सदी) के नल चम्पू तथा मदालसा चम्पू, धनपाल की तिलक मंजरी, वादीमसिंह की गद्य चिंतामणि, सोमदेव सूरि का यशस्तिलक चम्पू, हरिश्चन्द्र का घर चम्पू उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार की रचनाएँ 18वीं-19वीं सदी तक लिखी जाती रहीं, भारतेन्दुकालीन अम्बिकादत्त व्यास का 'शिवराज विजय' वर्णनपटुता और सरस प्रवाहमयी शैली की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण कृति है।

संस्कृत में नीति, शृंगार और भक्ति स्रोत संबंधी तीन प्रकार के मुक्तक काव्य लिखे गये हैं। संस्कृत के शृंगारी मुक्तकों में भर्तृहरि का शृंगार शतक, अमरूक का अमरूक शतक, जयदेव का गीत-गोविन्द, गोवर्धन की आर्यासप्तशती, पण्डितराज जगन्नाथ का भामिनी विलास उल्लेखनीय हैं। संस्कृत में रचित भक्ति-स्तोत्रमय साहित्य अत्यंत समृद्ध है। इसमें वैष्णवों, शैवों, शाक्तों और जैनों की शताधिक रचनाएँ मिलती हैं।

संस्कृत समीक्षा शास्त्री के अंतर्गत रस, अलंकार, ध्वनि, रीति और वक्रोक्ति सम्प्रदायों से संबंधित अनेक आचार्यों की महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। हिंदी के काव्यशास्त्र पर उक्त सम्प्रदायों का अपरिमित प्रभाव पड़ा है।

इसके अतिरिक्त संस्कृत साहित्य में धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, व्याकरण, छन्दशास्त्र, दर्शन, तंत्र, आयुर्वेद, स्थापत्य और शिल्पादि कलाओं, नाट्य शास्त्र, निबन्ध, टीका, भाष्य तथा नाना वैज्ञानिक विषयों पर लिखे गये ग्रंथों की अपरिमेय विशाल राशि प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त अंग्रेजी शासनकाल में भी संस्कृत के प्रशस्तिकाव्यों, महाकाव्यों, नाटकों, अंग्रेजी नाटकों और काव्यों के अनुवादों और निबन्धों के लिखने, पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और नाना गोष्ठियों के आयोजन की परम्परा अजस्र गति से चलती रही और सम्प्रति भी वह सतत् गति से प्रवहमान है। अतः सुदीर्घ काल से अब तक भारतीय साहित्य को अनुप्राणित करने वाली जीवंत भाषा-संस्कृत को 'मृत भाषा' कहना अपनी अल्पज्ञता और भाषा वैज्ञानिक अनभिज्ञता को दर्शाना है।

9.2 पालि भाषा और साहित्य

पालि शब्द की व्युत्पत्ति—इस शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। यूरोपीय विद्वानों ने इनकी व्युत्पत्ति—'प्रली' शब्द से मानी है। उनके अनुसार प्रली का शाब्दिक अर्थ है—“पुस्तक के पृष्ठों की पंक्ति।” कालान्तर में इसका अर्थ बदला और इससे पुस्तक की शिक्षाओं का बोध होने लगा। तत्पश्चात् पालि शब्द एक भाषा के रूप में प्रयुक्त होने लगा। इस धारणा का प्रमाण भी समुपलब्ध है क्योंकि बौद्ध विद्वान् बुद्ध घोष ने पालि शब्द से बार-बार **त्रिपिटक तथा उसकी शिक्षाओं की** ओर संकेत किया है। उन्होंने त्रिपिटक बुद्ध वचन के सामान्य अर्थ में (पालि=परिया=मूलपाठ=बुद्ध वचन) शब्द का प्रयोग किया है। अशोक के शिलालेखों में यही परियाय-पालियाय-पालिषाय और उसके बाद उसका संबंध लघु रूप पालि प्रचलित हो गया। एक अन्य बौद्ध विद्वान कौसाम्बी महोदय ने इसका संबंध संस्कृत के 'पाल' शब्द से जोड़ा है। उनके अनुसार पहले इसका अर्थ इस रूप में लिया गया—“वह पुस्तक या साहित्य जिसमें बुद्ध की शिक्षायें सुरक्षित रखी गयीं।” कई विद्वान पालि शब्द का संबंध 'प्रकट' शब्द से जोड़ते हैं—जो पलअ-अयाल-पाल बनता हुआ अंतिम रूप में पालि बना। प्रकट शब्द का अर्थ है—जनसामान्य की स्पष्ट भाषा। उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि पालि शब्द का प्रयोग मूलतः किसी भाषा के लिए न होकर बुद्ध वचन या त्रिपिटक के मूल पाठ के लिए हुआ तथा कालान्तर में यह शब्द एक भाषा विशेष के अर्थ में रूढ़ हो गया। महात्मा बुद्ध ने जन-कल्याण के लिए अपने उपदेशों और शिक्षाओं के लिए जनसामान्य की जिस भाषा को प्रयोग में लिया वह बाद में पालि कहलाई।

पालि का काल और उसका प्रसार-क्षेत्र

नोट

वैदिक भाषा के साथ-साथ एक ऐसी विभाषा थी जो कि पालि भाषा का मूलधार है। पालि को वैदिक भाषा का सीधा विकास नहीं माना जा सकता है क्योंकि वैदिक भाषा और पालि भाषा की ध्वनियों और रूप विधान में महान अंतर है। अनुमानतः पालि भाषा बोलचाल की उस भाषा से विकसित हुई जो वैदिक काल की विभाषाओं के साथ-साथ किसी प्रदेश में प्रचलित थी। पालि का मूल क्षेत्र कहाँ था और इसकी मूलभाषा कौन-सी थी, इस विषय में भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों में मतभेद नहीं है। बौद्ध धर्माश्रयी भारतीय विद्वानों के अनुसार मागधी भाषा ही पालि का मूलधार है किंतु यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। इन दोनों के तुलनात्मक वैयाकरणिक अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इनमें साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है। विंडिश, गाइगर और रिस्डेविड्स आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे मागधी का एक रूप माना है। वेस्टगार्ड, ई. कुह और आर.ओ. फ्रैंक ने अशोक के गिरिनार (गुजरात) के शिलालेख के सादृश्य के आधार पर पालि को उज्जयिनी की विभाषा कहा है। ओल्डेन वर्ग ने खंडगिरि के शिलालेख के भाषागत साम्य के आधार पर पालि को कलिंग देश को भाषा कहा है। ल्युडर्स ने इसका मूलधार अर्द्ध-मागधी प्राकृत को माना है। उनका कहना है कि बुद्ध के उपदेश अनेक वर्षों के उपरान्त 485 ई. पूर्व राजगृह में प्रथम बुद्ध महासम्मेलन के अवसर पर एकत्रित किये गए थे। डॉ. एस. के. चार्टुन्या के अनुसार, “पालि का मूलधार मागधी न होकर मध्यदेशीय प्राकृत है, उसका शौरसेनी से प्रचार साम्य है तथा वह शौरसेनी का वह रूप है जिसमें पश्चिमोत्तर प्राकृत तथा अन्य आर्यविभाषाओं के कई विचित्र प्रयोग घुलमिल गए हैं।” पालि का समूचा साहित्य एक ही भाषा-शैली में प्रणीत नहीं हुआ। उसमें क्रमशः विकास की चार अवस्थाओं का पता चलता है—(क) पालि के गाथा साहित्य में उसका प्राचीनतम रूप है। गाथाओं के साथ संलग्न गद्य बाद का है। (ख) पालि के सैद्धान्तिक गद्य भाग की भाषा गाथा भाग की भाषा से किंचित भिन्न और परवर्ती है। (ग) पालि साहित्य की टीकाओं में भाषा का रूप एक अन्य प्रकार से विकास का द्योतक है। (घ) अट्ट कथाओं (टीकाओं) के परवर्ती पालि काव्यों में कृत्रिम-साहित्यिक शैली के दर्शन होते हैं, जिस पर संस्कृत के अलंकृत मार्ग और कृत्रिम साहित्यिक शैली का स्पष्ट प्रभाव है। अस्तु, पालि भाषा मध्यकालीन आर्य भाषाओं-प्राकृतों (600 ई. पू. से 600 ई. तक) के सम्मिश्रण का परिणाम है। जिस प्रकार जैन आगमों की भाषा अर्द्धमागधी को ‘आर्यभाषा’ के नाम से अभिहित कर दिया गया, उसी प्रकार बौद्ध-त्रिपिटक की भाषा को पालि नाम दिया गया।

पालि साहित्य

मोटे तौर पर पालि साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) त्रिपिटक (तिपिटक), (ख) अनुपिटक। त्रिपिटक बौद्ध धर्म का सिद्धांतपरक साहित्य है जबकि अनुपिटक सिद्धांतोत्तर साहित्य है। इसे अनुपालि साहित्य भी कहा जाता है। त्रिपिटक के अंतर्गत मुख्य रूप से सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक आते हैं। सुत्तपिटक और विनयपिटक में बुद्ध के उपदेशों और शिक्षाओं का संग्रह राजगृह में बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् 485 ई. पू. में आयोजित प्रथम संगीति सामन्ति के अवसर पर किया गया। दूसरी संगीति इसके लगभग एक सौ साल के बाद वैशाली में हुई। तीसरी संगीति देवानाप्रिय अशोक के काल में पाटलिपुत्र में हुई। इसमें बौद्ध भिक्षु तिस्तेमोग्गलिपुत्र की मंत्रणा से बौद्ध वचनों की आवृत्ति दी गई और तीनों पिटकों का संग्रह कार्य संपन्न हुआ।

सुत्तपिटक बौद्ध धर्म के सिद्धांतों और साहित्यिक दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण है। इसमें पाँच निकायों—दीर्घ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुत्तर निकाय और खुद्दक निकाय का समावेश है। इन निकाय ग्रन्थों में बुद्ध के उपदेशों और उनके प्रारंभिक शिष्यों का वर्णन है। इनमें बुद्ध धर्म की शिक्षाएँ सूत्रों और संवादों के रूप में दी गई हैं। दीर्घ निकाय में बड़े-बड़े सूत्रों का संग्रह है जबकि मज्झिम में मध्यम मान के सूत्र हैं। संयुक्त में छोटे-बड़े दोनों प्रकार के सूत्र हैं। इसी में मार आदि देवता से संबद्ध अनेक सूत्र हैं। खुद्दक निकाय में 15 खुद्दक ग्रन्थों का संग्रह है, जिनमें धम्मपद, थेरगाथा, थेरीगाथा तथा जातक नाम के ग्रन्थों का साहित्यिक दृष्टि से भी पर्याप्त महत्व है। हिन्दू धर्म में श्रीमद्भगवद्गीता के समान बौद्ध साहित्य में धम्मपद का दार्शनिक और धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। थेरगाथा और थेरीगाथा में भिक्षु और भिक्षुणियों के प्रशंसात्मक कृत्यों का छन्दोबद्ध उल्लेख है। इनका रचनाकाल 500 के लगभग माना जाता है। इन कविताओं के अतिरिक्त दी गई अन्य कथाओं को प्रायः विद्वानों ने अप्रामाणिक माना है। थेर गाथाओं में जहाँ अंतर्जगत की अनुभूतियों का प्राधान्य है वहाँ थेरी गाथाओं में भिक्षुणियों की वैयक्तिक तरलता का प्राबल्य है। जातक में महात्मा बुद्ध के पूर्वजन्मों की अनेक कथाओं का संग्रह पौराणिक शैली में किया गया है। इन कथाओं में गौतम बुद्ध, नायक-प्रतिनायक तथा दर्शन आदि की अनेक भूमिकाओं में प्रस्तुत किये गए हैं। जातकों की संख्या 550 के लगभग कही गई है। इनमें सामान्यतः बौद्ध धर्म के

नोट

दार्शनिक सिद्धांतों का उल्लेख नहीं किया गया है बल्कि सभी जातकों में विशद प्रेम-कथाओं, रीति, नीति और भक्ति आदि का वर्णन है। भारतीय साहित्य में इन जातक कथाओं का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक सभी दृष्टियों में अतीव महत्त्व है। इनसे महात्मा बुद्ध के समकालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दशाओं की स्पष्ट झांकी मिलती है। इसके अतिरिक्त इनसे तत्कालीन भारत की मूर्तिकला, चित्रकला तथा स्थापत्यकला के समझने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है। जातकों के अतिरिक्त अवदान ग्रंथों में बौद्ध भिक्षुओं के पूर्वजन्मों की कथाएँ दी गई हैं।

विनय पिटक में बौद्ध संघ के अनुशासन संबंधी नियमों का सविस्तार-उल्लेख है। उक्त पिटक का मुख्य आधार पाटिमोक्ख है जिसमें नियमों के उल्लंघन और उसके फलस्वरूप संघ से बहिष्कृत कर देने का उल्लेख है। अभिधम्म पिटक में बौद्ध धर्म और दर्शन की विद्वतापूर्ण व्याख्या की गई है, अतः यह सुत्तपिटक का पूरक ग्रंथ है। इसमें धम्म संगणि, विभंग, कथावस्तु, पुगल, पंजति, धातुकथा यमक और पट्टान्णकरण एक विशालकाय क्लिष्ट रचना है। बौद्ध धार्मिक साहित्य में पारित या महापरित नामक ग्रंथ में प्रचलित तांत्रिक प्रयोगों का संग्रह है। इनका प्रयोग नवग्रह-निर्माण, अस्वस्थता और मृत्यु आदि के अवसरों पर किया जाता है। ब्रह्मा और सिंहल द्वीप में उक्त ग्रंथ का अब भी काफी आदर होता है।

अनुपिटक अथवा अनुपालि साहित्य में नाना टीकाएँ-अर्थात् अट्टकथाएँ आती हैं। धर्म-तत्त्व की मीमांसा के लिए ये टीकाएँ प्रायः सिंहल द्वीप में लिखी गईं। केवल 'मिलिन्द पह' नामक ग्रंथ ही पश्चिमोत्तर में निबद्ध हुआ। इसमें यवनराज मिलिन्द और बौद्ध भिक्षु नागसेन का संवाद है। इसके प्रश्नोत्तर रूप में बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धांतों की अतीव सुंदर व्याख्या मिलती है। बौद्ध धर्म के सर्वप्रमुख टीकाकार बुद्धघोष हैं। इन्होंने बौद्ध धर्म के तत्त्व के स्पर्शिकरण के लिए अनेक ग्रंथों पर टीकाओं का प्रणयन किया। बुद्धघोष के समकालीन बुद्धदत्त ने भी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ लिखी हैं। "अभिधम्म पर प्राचीनतम टीका आनंदकृत अभिधम्ममूल टीका मानी जाती है।" पालि में एक विपुल टीका उपलब्ध होती है।

पालि में धार्मिक और साहित्यिक रचनाओं के अतिरिक्त अन्य विषयों-व्याकरण, कोश, अलंकार शास्त्र तथा छंद-शास्त्र आदि पर भी रचनाएँ मिलती हैं। व्याकरणिक रचनाओं में कच्चयन व्याकरण, भोग्गलायन व्याकरण तथा अग्गवंस की कृति सहनीति प्रमुख ग्रंथ हैं। शुद्ध धातु संबंधी रचनाओं में धातुमंजूषा, धातुपाठ तथा धात्वर्थदीपिनी आदि उल्लेखनीय हैं। भोग्गलायन-कृत अभिधम्मदीपिका नामक पालि ग्रंथ कोश के समान एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। पालि काव्यशास्त्र संबंधी रचनाओं में संधरकिरवत रचित 'सुबोधलंकार' तथा छंद पर बुत्तोदय आदि प्राचीन ग्रंथ हैं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. रामायण और भारतीय संस्कृति के मूल्यवान स्रोत हैं।
2. भारतीय साहित्य का एक अतीव महत्त्वपूर्ण अंग है।
3. पालि साहित्य को भागों में विभक्त किया गया है।
4. में बौद्ध संघ के अनुशासन संबंधी नियमों का सविस्तार उल्लेख है।

9.3 प्राकृत भाषा और साहित्य

पालि प्राकृत और अपभ्रंश मध्यकालीन आर्य-भाषाएँ थीं, जिनका समय मोटे तौर पर 600 से 1200 ई.पू. तक स्वीकार किया जाता है। प्राकृत भाषा का समय सामान्यतः 600 ई.पू. से 600 ई. तक है किंतु संस्कृत नाटकों में छिटपुटे रूप से प्राकृतों का प्रयोग 1800 सदी तक होता रहा है।

आर्य भाषा का प्राचीनतम रूप हमें ऋग्वेद की ऋचाओं में प्राप्त होता है किंतु तत्कालीन आर्यों की बोलचाल की भाषा का स्वरूप क्या था, इस बात को जानने के लिए हमारे पास कोई भी प्रामाणिक साधन नहीं। किंतु इतना निश्चित है कि उनकी बोलचाल की भाषा संहिताओं की साहित्यिक भाषा से अवश्य भिन्न होगी। अनुमानतः वही बोलचाल की भाषा प्राकृतों का मूलरूप है। वेदों के प्रणयन काल में प्राकृत विभाषाओं के रूप में नाना प्रदेशों में विद्यमान थीं और उनके शब्दों का समावेश संहिताओं में होने लगा था। वेदों में प्रयुक्त 'तितउ', दंद्र, विकृत, किंकृत, विकट, कीकट, दंड और अंड आदि शब्द उक्त कथन का स्पष्ट प्रमाण हैं। यास्क (800 ई. पूर्व) के समय छान्दस

भाषा संहिताओं की भाषा से पर्याप्त भिन्न हो चुकी थी और उसमें आर्यतर तत्वों का समावेश हो गया था। कदाचित् इसीलिए उन्हें अस्पष्ट वैदिक मंत्रों की पूर्व व्याख्या के लिए निरुक्त और निघंटु ग्रंथों का प्रणयन करना पड़ा। पाणिनी (600 ई.) ने छांदस और लोकभाषा का उल्लेख किया है। उन्होंने लोकभाषा (लौकिक संस्कृत) को अपने जगद्विख्यात व्याकरण द्वारा नियमबद्ध, सुसंस्कृत एवं परिमार्जित किया। किंतु इतना स्पष्ट है कि पाणिनि के समय तक प्राकृतों का साहित्यिक भाषा के रूप में विकास नहीं हुआ था। प्राकृत भाषा देश्य भाषा के रूप में छांदस और लौकिक संस्कृत के समानान्तर विद्यमान थी। पिशेल ने इसे प्राकृत-पहले बनी के आधार पर संस्कृत से भी प्राचीनतम माना है।

प्राकृत : व्युत्पत्ति और विवेचन

संस्कृत के बहुत से विद्वानों ने प्राकृत भाषा का विकास संस्कृत से माना है। वाग्भट्टालंकार के टीकाकार सिंहदेवमणि ने प्राकृत को संस्कृत से उद्भूत माना है—(प्राकृते: संस्कृतात् आगतम् प्राकृतम्) प्राकृत-संजीवनी तथा काव्यादर्श की प्रेमचंद तर्कवाजीश-कृत टीका में संस्कृत को प्राकृत योनि तथा इसे संस्कृत रूप से उत्पन्न बताया गया है। (प्राकृतं नु सर्वमेव संस्कृत योनिः। संस्कृतरूपयाः प्राकृतेः उत्पन्नत्वात् प्राकृतम्) पेटर्सन ने प्रकृति को संस्कृत कहा है और उससे उत्पन्न भाषा को प्राकृत माना है। (प्राकृतिः संस्कृतं, तत्रभवात् प्राकृति स्मृतम्) मार्कंडेय और हेमचंद्र प्रभृति विद्वानों ने भी क्रमशः प्राकृतसर्वस्व और शब्दानुशासन नामक ग्रंथों में प्राकृत को संस्कृत से उद्भूत माना है। किंतु आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक खोजों के आधार पर प्राकृत के विकास संबंधी विद्वानों की उपर्युक्त मान्यता असत्य सिद्ध हो चुकी है। हम पहले संकेत कर चुके हैं कि संहिताओं के प्रणयन काल में बोलचाल की भाषा के रूप में प्राकृत विद्यमान थी। इनमें बराबर परिवर्तन होता रहा है। ये भाषाएँ प्राकृत अर्थात् जनसामान्य की भाषाएँ कहलाईं। रुद्रट के काव्यालंकार के टीकाकार नमिमाधु ने संस्कृत और प्राकृत के भेद का तात्त्विक विश्लेषण किया है। उनके अनुसार, “व्याकरण आदि के संस्कार से विहीन, समस्त जगत् के प्राणियों के स्वाभाविक वचन-व्यापार को प्रकृति कहते हैं। उसे ही प्राकृत कहा जाता है। बालक महिला आदि की समझ में यह सरलता से आ सकती है और समस्त भाषाओं की यह कारणभूत है।” इस कथन में सत्य की प्रभूत मात्रा सन्निहित है। छांदस भाषा और श्रेष्ठ संस्कृत प्रतिशाख्य ग्रंथों से लेकर पतंजलि के महाभाष्य तक परिमार्जित और सुसंस्कृत होती रही और लोकभाषाएँ बिना किसी संस्कार के निरंतर कई शताब्दियों तक लोक-व्यवहार का माध्यम बनी रहीं। महावीर और बुद्ध ने इन्हीं लोकभाषाओं के द्वारा अपने उपदेशामृत से जन-कल्याण किया था।

प्राकृतों का वर्गीकरण—व्याकरण, धर्म और साहित्य आदि के अनेक आधारों पर प्राकृतों का विभाजन किया गया है। वैयाकरणों ने प्राकृतों के अंतर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलीका, चंडाली, ढक्की, शाबरी, और अपभ्रंश आदि अनेक विभाषाओं की गणना की है। धार्मिक प्राकृतों में बौद्ध ग्रंथों की भाषा पालि जैन आगमों की भाषा अर्द्ध-मागधी और (आर्य) जैन महाराष्ट्री जैन, शौरसेनी और अपभ्रंश की गणना की गई है। साहित्यिक प्राकृतों के अंतर्गत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश को परिगणित किया गया है। भरत ने नाट्यशास्त्र में मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी अर्द्धमागधी, बह्लीका और दक्षिणात्या नाम की सात प्राकृतें गिनाई हैं। इसके अतिरिक्त खरोष्ठी और ब्राह्मी लिपियों की शिलालेखी प्राकृतों तथा मध्य एशिया में उपलब्ध खोतानी और निया प्राकृतों का भी परिगणन किया जा सकता है। हमें यहाँ केवल साहित्यिक प्राकृतों और उनके साहित्य की चर्चा अभीष्ट है।

प्राकृत साहित्य—महाराष्ट्री, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, मागधी तथा पैशाची आदि प्रमुख साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ हैं। इनमें मुक्तक कथाकाव्य, नाटक, धार्मिक साहित्य तथा इतर साहित्य की विपुल सृष्टि हुई है। प्राकृतों में महाराष्ट्री सर्वप्रमुख एवं सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। किसी समय यह विंध्याचल से हिमाचल तक के समूचे भारत की एक परिनिष्ठित साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा थी। वैयाकरणों ने इसके नियमों के अंतर्गत ही अन्य प्राकृतों के नियम का अंतर्भाव कर दिया है। शुद्ध साहित्य की अधिकांश रचनाएँ इसी प्राकृत में उपलब्ध होती हैं। प्राकृतों में श्लोक रचना के लिए यह एक अत्यंत उपयुक्त भाषा थी। अतः कविता के क्षेत्र में इसका अधिकाधिक प्रयोग हुआ। इनमें बहुत से स्वर सुरक्षित हैं जो श्रवणेंद्रिय को अत्यंत मधुर लगते हैं। इन्हीं कारणों से यह कविता-रचना के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई।

महाराष्ट्री प्राकृत में निबद्ध प्रबन्ध काव्यों में प्रवरसेन (400 ई.) द्वारा प्रणीत ‘रावणवहों’ तथा ‘दसमुहवहों’ है जिसका संस्कृत रूपांतर सेतुबंध है। 14 आशवासनों में लिखित यह रचना एक अनुरागांक महाकाव्य है। इसमें राम

नोट

की कथा वर्णित है। कई विद्वानों ने इसे कालिदास की कृति कहा है जो कि सर्वथा असंगत है। इसमें कालिदासोत्तर संस्कृत साहित्य की कृत्रिम अलंकृति शैली का स्पष्ट प्रभाव है। यह रचना बाण के समय में पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुकी थी, क्योंकि उन्होंने हर्षचरित की भूमिका में इसका उल्लेख किया है। यशोवर्मा के राजाश्रित कवि वप्पइराअ (वाक्-पतिराज) (800 ई.) द्वारा रचित गडडबहों (गोडुवधः)। वाक्पतिराज की एक अन्य रचना-‘रहुमह विअ-अ’ का भी पता चला है। परवर्ती प्राकृत काव्यों में कृष्ण लीलाशुक का ‘सिरचिंध क्वम्’ श्रीकंठ का सोरचित्तम तथा राम पाणिवाद के कंशवहो तथा ‘उसागिरुद्ध’ काव्यों का पता चला है। अनुमान है कि इन परवर्ती काव्यों का सृजन 16वीं सदी के बाद ही हुआ है।

अनुमान है कि महाराष्ट्री शुद्ध साहित्यिक मुक्तकों की दृष्टि से भी काफी समृद्ध थी किंतु इसमें उक्त परम्परा की केवल दो ही प्रतिनिधि रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इसका शेष मुक्तक काव्य कराल काल ने ही कवलि कर लिया है। गाथा (गाथा सप्तशती) का संग्रह आंध्र प्रदेश के राजा सातवाहन (हाल) ने ईसा की प्रथम शताब्दी में किया। उसने अपने से पूर्व और अपने समय में प्रचलित असंख्य गाथाओं में से सर्वश्रेष्ठ नीति और शृंगारपरक गाथाओं का संकलन किया था। किंतु इसमें प्रक्षेपों की प्रक्रिया पांचवीं-छठी सदी तक चलती रही। गाथा सप्तशती में शृंगार के संयोग और वियोग पक्षों में प्रणय के उन्मुक्त चित्रणों और प्रेम के नानाविध रूपों के अंकन में जो ताजगी, स्वाभाविकता, सरसता और हृदयावर्जकता है, वह निश्चय ही अद्वितीय है। इस ग्रंथरत्न ने अपभ्रंश और हिंदी के नीति एवं शृंगारपरक मुक्त रचनाओं को अपरिमित रूप से प्रभावित किया है। इस परम्परा का दूसरा काव्य श्वेताम्बर जैन जय वल्लभ (1200 ई.) द्वारा रचित ‘वज्जालग’ है। सातवाहन के समान जयवल्लभ ने भी विविध कवियों द्वारा रचित कविताओं का संग्रह किया था। इस ग्रंथ के 48 परिच्छेदों में 795 छंदों का संकलन है। इनमें नीति, शृंगार चरित्र और व्यवहार आदि के विषयों का निरूपण मिलता है, संस्कृत के अनेक काव्यशास्त्रियों और टीकाकारों ने उक्त ग्रंथ की गाथाओं का उपयोग किया है। इसके अतिरिक्त ‘गाथासहस्री’ ‘गाथाकोश’ तथा ‘तसालय’ आदि अन्य भी प्राकृत के सुभाषित ग्रंथों का पता चला है।

महाराष्ट्री के कथा-साहित्य में कुतूहल नामक ब्राह्मण (10वीं सदी) की लीलाबाई (लीलावती) नामक रचना उल्लेखनीय है। इसमें प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी लीलावती के प्रेम का चित्रण किया गया है। शैली और प्रतिपाद्य की दृष्टि से उक्त रचना सुबंधु की वासवदत्ता और बाण की कादम्बरी की परंपरा में आती है।

राजशेखर की ‘कर्पूर मंजरी’ महाराष्ट्री में रचित नाटकों में प्रमुख रचना है। यह हर्षवर्धन की लिखी हुई नाटिकाओं-प्रियदर्शिका और रत्नावली की पद्धति पर लिखा हुआ एक सट्टक है जिसमें कुन्तक देश की राजकुमारी कर्पूर मंजरी और राजा चंद्रपाल के प्रणय को निबद्ध किया गया है। इस नाटक से यह विदित होता है कि राजशेखर (900 ई.) के समय प्राकृत-पर्याप्त लोकप्रिय थी। उनका कहना है कि-“संस्कृत का गठन पुरुष और प्राकृत का गठन सुकुमार है। पुरुष और महिलाओं में जितना अंतर होता है उतना ही अंतर संस्कृत और प्राकृत काव्य में समझना चाहिए।” कर्पूर मंजरी के ढंग पर प्रणीत अन्य सट्टक-विलासवती (रचयिता मार्कंडेय 1700 ई.), चंदलेह (रचयिता रुद्रदास 1600 ई.), आनंद सुंदरी (रचयिता घनश्यामदास 1700 ई.), सिंगार मंजरी (कर्ता विश्वेश्वर 18वीं सदी का पूर्वार्द्ध), रंभा मंजरी (कर्ता नयचंद्र 14वीं सदी) भी उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त राम पाणिवाद की ‘लीलावती’ नामक रचना भी प्राप्त हुई है जो कि एकांकी प्राकृत रूपक है।

संस्कृत नाटकों में नायिका, उसकी सहेलियाँ, उच्च वर्ग की स्त्रियाँ, ऊँची स्थिति की दासियाँ, बालक, नपुंसक और विदूषक शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करते हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित नाटक का उद्भव शूरसेन प्रदेश में हुआ हो और इसके बोलचाल का क्षेत्र अत्यंत व्यापक था। कई विद्वानों ने संस्कृत को उच्च पात्रों की भाषा माना है। इस प्राकृत का उद्भव शूरसेन प्रदेश अर्थात् ब्रजमंडल में हुआ जो कि लौकिक संस्कृत का प्रमुख केंद्र था। अतः यह संस्कृत से प्रभूत मात्रा में प्रभावित हुई। शौरसेनी ने निश्चय ही राजस्थान, पंजाब, गुजरात और अवध की भाषाओं को प्रभावित किया। यद्यपि शौरसेनी में लिखित कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता किंतु संस्कृत के नाटकों में इसका प्रयोग बराबर होता रहा है। अश्वघोष ने अपने नाटकों में शौरसेनी का ही प्रयोग किया है। दिगम्बर जैन संप्रदाय के कतिपय ग्रंथों का प्रणयन जैन शौरसेनी प्राकृत में हुआ। कुंद कुंदाचार्य (प्रथम सदी) की प्रायः सभी रचनायें शौरसेनी प्राकृत में हैं। उक्त आचार्य का ‘पवयण सार’ नामक ग्रंथ जैन शौरसेनी की एक प्रसिद्ध रचना है। इसके अतिरिक्त कार्तिकेय स्वामी रचित ‘कति गयाणुपेक्खा’ तथा ऋकेशचर्य द्वारा रचित ‘मूलाचार’ आदि ग्रंथ इसी भाषा में हैं।

पैशाची प्राकृत अब एक प्राचीन विभाषा बन गई है। वैयाकरणों ने इसे चूलिका पैशाची अथवा भूतभाषा भी कहा है। गुणादय (ईसा की प्रथम सदी) की वृहत् कथा इसी भाषा में निबद्ध थी जो कि अब अप्राप्य है। रामायण, महाभारत और भागवत के समान वृहत् कथा भी परवर्ती भारतीय साहित्य के लिए निरन्तर कई शताब्दियों तक उपजीव्य ग्रंथ बना रहा है। भारतीय कथा साहित्य प्रतिपाद्य, शैली और कथानक रूढ़ियों की दृष्टि से वृहत् कथा से अपरिमित रूप से प्रभावित हुआ है। क्षेमेन्द्र की 'वृहत् कथा मंजरी' सोमदेव का 'कथासरित् सागर' तथा बुद्ध स्वामी का 'वृहत् कथा श्लोक-संग्रह' गुणादय की वृहत् कथा के संस्कृत के संक्षिप्त रूपान्तर मात्र हैं। षड्भाषा चंद्रिका के लेखक लक्ष्मीधर ने पैशाची और चूलिका पैशाची को राक्षस, पिशाच और नीच व्यक्तियों की भाषा बताया है और पांड्य, केकय, बाह्लीक, सिंह, (सह्य) नेपाल, कुन्नल, सुधेष्णु, भोज, गंधार, हैवक और कन्नौज की गणना पिशाच देशों में की है। इससे अनुमान है कि पैशाची प्राकृत भारत के उत्तर और पश्चिमी भागों में बोली जाती रही होगी।

मागधी-प्राकृत मगध जनपद (बिहार) की विभाषा थी। इसमें स्वतंत्र रचनाएँ प्राप्त नहीं होतीं। संस्कृत नाटकों में केवल हीन कोटि के पात्र राक्षस, भिक्षु, क्षपणक, चेट, अश्वरक्षक, संध लगाने वाले आदि इसका प्रयोग करते हैं। यह शौरसेनी से अत्यधिक प्रभावित है। पुरुषोत्तम ने मागधी के अंतर्गत शाकारी, चांडाली और शाबरी भाषाओं का परिगणन किया है।

अर्द्धमागधी एक मध्यवर्ती प्राकृत थी। इसकी पश्चिमी सीमा पर शौरसेनी और पूर्वी पर मागधी थी। इसकी बहुत-सी विशेषताएँ अशोक के शिलालेख में पाई जाती हैं। महावीर स्वामी ने इसी भाषा में अपनी अमूल्य शिक्षाएँ दी थीं। कुछ विद्वानों की धारणा है कि महावीर ने ही इनमें तत्कालीन अन्य भाषाओं की सदुक्तियों और सुंदर प्रयोगों को समाविष्ट कर इसे सर्वप्रिय बनाया था। कदाचित् इसी कारण से इसका नाम अर्द्धमागधी पड़ा। मार्कंडेय ने प्राकृत-सर्वस्व में इसे शौरसेनी से उद्भूत कहा है जबकि कामदीश्वर ने इसे महाराष्ट्री मिश्रित कहा है। इसे आर्य भाषा भी कहा गया है।

यह एक समृद्ध साहित्य की स्वामिनी है। इसमें जैनो के सिद्धांत और सिद्धान्तेतर साहित्य की विपुल सृष्टि हुई है, जो मात्रा और गुण दोनों दृष्टियों से बौद्ध साहित्य की अपेक्षा काफी समृद्ध है। इसके अतिरिक्त जैन-साधुओं ने जैन शौरसेनी और जैन महाराष्ट्री में भी अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया है। अर्द्धमागधी में प्रणीत जैन सिद्धांत साहित्य निम्नांकित हैं—

(क) द्वादश अंग—आचारंग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति ज्ञातृ धर्म कथा, उपासक दशा अनुत्तरोप पातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक श्रुत अन्नकृदशा तथा दृष्टिवाद। इन जैन तीर्थंकरों, महापुरुषों, शलाकापुरुषों, महावीर के दस गृहस्थी शिष्यों, मोक्ष प्राप्तिकर्ता स्त्री-पुरुषों एवं महात्माओं और मुनियों के आधार-व्यवहारों, जीवन-वृत्तों, अन्य धर्मों के खंडनों, जैन धर्म की मान्यताओं और निगूढ-तत्त्वों, शुभ-अशुभ कर्मों के फलों तथा व्रतों का उल्लेख किया गया है। इसमें कतिपय रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से भी काफी महत्वपूर्ण बन पड़ी हैं।

(ख) द्वादश उपांग—औपयातिक, राज प्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना सूर्य प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति कल्पिका, कल्पावर्तसिका, पुष्पिका पुष्प चूला तथा वृष्णिदशा। इनकी रचना जैन धर्म के सिद्धांतों की व्याख्या के लिए की गई। साहित्यिक दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्व नहीं है।

(ग) दश प्रकीर्ण—चतुः शरण, आतुर प्रत्याख्यान, महाप्रत्याखनं, भक्त परिज्ञा, तन्दुल वैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणिविद्य, देवन्द्रस्तव, तथा मरण समाधि। ये श्रमणों की रचनायें हैं। जिनमें तीर्थंकरों के उपदेशों का अनुसरण किया गया है। इनमें आचार-व्यवहार, उपचार, गणित विद्या तथा शरीर विज्ञान आदि से संबद्ध विषयों का निरूपण किया गया है।

(घ) छेद सूत्र—निशीथ, महानिशीथ, व्यवहार, दशा-क्षुत स्कंध, बृहत कल्प तथा पंचकल्प अथवा जीत कल्प। इनमें आचार शुद्धता पर बल दिया गया है। ये संक्षिप्त शैली में लिखे गए हैं और इन्हें परम रहस्यमय बताया गया है।

(ङ) मूल सूत्र—उत्तराध्ययन, आवश्यक दश वैकाशिक पिंड निर्युक्ति, ओध निर्युक्ति, पाक्षिक, सूत्र क्षाभणा सूत्र, वंदितु सुत्त, ऋषि भाषित तथा नन्दी और अनुयोगदार, इनमें साधु जीवन के मूलभूत आदर्शों और नियमों का उल्लेख है। धार्मिक दृष्टि से भी ये बौद्ध सूत्रों के समान महत्वपूर्ण हैं।

नोट

इसके अतिरिक्त जैन-आगमों पर लिखा हुआ एक विशाल व्याख्या-साहित्य उपलब्ध होता है, जिसमें निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी, टीका आदि लिखने की परंपरा दूसरी सदी ई. से 16वीं सदी तक चलती रही। षट खंडागम, कपाय प्राभूत मंत्रशास्त्र तथा आगमोत्तर कालीन जैन धर्मग्रंथों की एक विशाल राशि तैयार हुई। जैनों का सिद्धान्तेत्तर साहित्य जैन महाराष्ट्री और जैन शौरसेनी में लिखा गया।



क्या आप जानते हैं महाभारत अपने आपमें भारतीय साहित्य का एक समग्र रूप है।

9.4 अपभ्रंश भाषा और साहित्य

प्राकृत भाषा के साहित्य क्षेत्र में परिनिष्ठित और व्याकरण के नियमों से आबद्ध हो जाने पर जनजीवन से उसका व्यापक संपर्क टूट गया। जिन लोकप्रचलित बोलियों से प्राकृत की रचना हुई थी, उनका जनसामान्य में बराबर विकास होता रहा। ये बोलियाँ देशीभाषा अथवा अपभ्रंश के नाम से अभिहित हुईं। इसे दोहा, दूहा, अवर्धस और अवहट्ट और अवहत्थ आदि के विभिन्न नामों से पुकारा गया। प्रायः इन सभी शब्दों का अर्थ बिगड़ी हुई अशुद्ध, असंस्कृत एवं अव्याकरणसम्मत भाषा लिया गया। अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन आर्य भाषाओं के अंतर्गत है और सामान्यतः इनका काल 600 ई. से 1200 ई. तक स्वीकार किया गया है। (हालांकि 16वीं शताब्दी तक परिनिष्ठित अपभ्रंश में साहित्यिक रचनाओं की सृष्टि होती रही)। आगे चलकर जब अपभ्रंश भाषा भी लोकभाषा न रहकर परिनिष्ठित साहित्यिक भाषा बन गई, तो देशी भाषाओं-हिंदी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली और सिंधी आदि भाषाओं का उदय हुआ।

अपभ्रंश भाषा और उसके भेद

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन काल से होता आया है। यह विकृत शब्द के अर्थ और भाषा के रूप में चर्चित है। पतंजलि के महाभाष्य में संस्कृत को प्रकृति (मूल) और अपभ्रंश को उसका विकृत (भ्रष्ट) रूप कहा गया है। भरत के नाट्य-शास्त्र में संस्कृत, प्राकृत तथा लोकभाषा अपभ्रंश के भेदों का भी उल्लेख किया है। हेमचंद्र ने प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश को शिष्ट जनों की भाषा कहा है।

वैयाकरणों ने मुख्यतः तीन अपभ्रंशों-नागर, ब्राह्मण और उपनागर की चर्चा की है। मार्कंडेय ने देश-भेद के आधार पर इसके 27 भेदों का उल्लेख किया है। कई विद्वानों ने भौगोलिक आधार पर पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी तथा दक्षिणी नामक अपभ्रंश-भेदों की चर्चा की है। कई विद्वानों का विचार है कि जितनी प्राकृतें हैं उतने ही अपभ्रंश के भेद हैं, किंतु यह धारणा असंगत है। अशोक की मृत्यु के पश्चात् मागधी प्राकृत का साहित्यिक विकास सर्वथा अवरुद्ध हो गया और कालान्तर से अर्द्धमागधी के क्षेत्र में भी शौरसेनी अपभ्रंश का बोलबाला रहा। पूर्वी कवियों ने काव्य के क्षेत्र में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग किया। 10वीं शती में बंगाल में भी कविता क्षेत्र में उक्त अपभ्रंश का प्राधान्य रहा। सारे उत्तरी भारत में 12वीं शताब्दी तक गुजरात से पंजाब तक और महाराष्ट्र से नेपाल तक शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा। डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में, “वस्तुतः 12वीं शती तक साहित्य में केवल एक ही भाषाशैली चुनी जाती रही और वह थी-शौरसेनी या नागर अपभ्रंश। गुजरात से लेकर बंगाल तक और शूरसेन प्रदेशों से लेकर बरार तक इसी साहित्यिक शैली का एकछत्र साम्राज्य था। पश्चिमी (शौरसेनी) अपभ्रंश उस काल की साहित्यिक भाषा थी ठीक उसी तरह जैसे उसकी साक्षात् पुत्री। हिंदी भाषा समस्त भारत की राष्ट्रभाषा तथा भारत के अधिकांश भाग की साहित्यिक भाषा है।”

अपभ्रंश साहित्य

प्राकृत साहित्य के समान अपभ्रंश भी पर्याप्त समृद्ध है। इसमें महाकाव्यों, खंडकाव्यों, गीतिकाव्यों, लौकिक-प्रेमकाव्यों, धार्मिक रचनाओं, रूपक साहित्य, स्फुट साहित्य तथा गद्य साहित्य की नाना विधाओं की सृष्टि हुई है। इसमें जैन धर्म के सिद्धांत और सिद्धान्तेत्तर साहित्य बौद्ध सिद्धों तथा नाथों के साहित्य तथा शौर्य और शृंगारात्मक लौकिक काव्यों का प्रणयन हुआ है।

जैनों के धर्मपरक काव्यों में जोइन्दु (योगीन्द्र) (11वीं शती) के परमात्म प्रकाश, योगसार तथा सावयधम्मदोहा, देवसेन का समय-सार तथा जैन मुनि रामसिंह (11वीं शती) का पाहुड़ दोहा प्रमुख रचनाएँ हैं।

इनका हम अन्यत्र उल्लेख कर चुके हैं। जैनों के धर्मेतर साहित्य के अंतर्गत स्वयंभू (8वीं शती) के पद्म चरित तथा हरिवंश पुराण तथा पुष्पदंत (ईसा की 10वीं शती का उत्तरार्द्ध) के महापुराण, यशहर चरित और णयकुमार चरित आदि प्रबंध काव्यों की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक के आदिकाल नामक खंड में जैन साहित्य के अंतर्गत की जा चुकी है। धनपाल (11वीं शती) की भविष्यत कथा का उल्लेख भी उक्त प्रकरण में द्रष्टव्य है। इस परंपरा में मुनि कंकामार (11वीं शती) का करकंडचरित एक उल्लेखनीय कृति है। कथानक रूढ़ियों के अध्ययन की दृष्टि से यह रचना महत्वपूर्ण है।

बौद्ध सिद्धों ने अपने चर्यापदों और दोहों तथा नाथपंथियों ने अपनी वाणियों से अपभ्रंश साहित्य की अभिवृद्धि में मूल्यवान योग दिया है। इसकी चर्चा हम आदिकाल में सिद्ध साहित्य तथा नाथ साहित्य के अंतर्गत कर चुके हैं। अपभ्रंशों के शौर्य एवं प्रेम प्रधान काव्यों के अंतर्गत अब्दुर्रहमान का संदेश रासक एक महत्वपूर्ण गीति काव्य है जिसकी सविस्तर चर्चा हम आदिकाल में कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त हेमचंद्र के शब्दानुसार के आठवें अध्याय तथा पुरातन प्रबंध-संग्रह और प्रबंध चिन्तामणि में प्रेम तथा नीति व शौर्य संबंधी अनेक उत्तमोत्तम दोहे संगृहीत हैं।

9.5 आदिकालीन साहित्य : उपलब्धियाँ एवं निष्कर्ष

हिंदी के प्रारंभिक काल का साहित्य विविधोन्मुखी और समृद्ध है। इसमें जहाँ एक ओर धर्माश्रित काव्यों में वैराग्य की शांत स्रोतस्विनी है, वहाँ दूसरी ओर उसमें शृंगार रस की कलकल निनादिनी सुंदर कल्लोलिनी भी है। इसमें जहाँ एक ओर वीर रस के अदम्य वेग से संपन्न गरजती-कड़कड़ाती तटिनी है वहाँ इसमें लोकाश्रित काव्यों में अनुरंजनकारिणी सरस-पयस्विनी भी है। इसमें हमारा समस्त जातीय जीवन अपनी संपूर्ण क्षमताओं और परिसीमाओं सहित निबद्ध है। उक्त काल का साहित्य हिंदी का संक्रमणकालीन साहित्य है। इसमें पूर्ववर्ती अपभ्रंश काव्यों की परंपराओं का मात्र अंधानुकरण नहीं है। हिन्दी एक जीवन्त भाषा है और वह पूर्ववर्ती साहित्य की जीवन प्राणधारा को लेकर चली है। उसमें उस समय के साहित्यकार की प्रतिभा का यथेष्ट विकास हुआ। इसमें हिंदी के स्वतंत्रचेता कलाकार की स्वयं की प्राणचेतना भी यत्र-तत्र प्रस्फुटित हुई है। और वह कई दिशाओं में पूर्व-परंपरा को पीछे छोड़कर आगे निकल गई है। उसने आगामी हिंदी साहित्य की अनेकविध परंपराओं का मार्ग प्रशस्त किया।

वीरगाथात्मक साहित्य में वीर रस के रोमांचकारी दृश्य तथा आश्रयदाताओं का उद्दाम प्रशस्ति-गान है। इसमें वीर रस की सशक्त कलात्मक अभिव्यंजना हुई है। वीर रस के कवि ने जिस पार्श्व को लिया है, वह सजीव हो उठा है। उसकी प्रतिभा प्राकृतिक सौंदर्य के ग्रहण और उसके प्रतिफल में समर्थ है। उसकी वीर रस पूर्ण कविता में जनजीवन को दीप्त व प्रोत्साहित करने की पूर्ण शक्ति है। उसके शृंगार वर्णनों में रमणी के सुखद-पुष्पाच्छादित पर्यंक से लेकर वीरांगना की अपने पति की वीरगति की कामना तक चित्रित है। इससे स्पष्ट है कि इन सब विषयों तक तत्कालीन कवि की प्रतिभा का विस्तार था। इन सब विषयों का उसने कौशलपूर्ण अभिव्यंजन किया है। उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने डिंगल व पिंगल दोनों शैलियों का कलात्मक उपयोग किया।

उस समय दृश्य काव्य का अभाव था तथा काव्य की गद्य विधा का यथेष्ट विकास नहीं हुआ था। वीरगाथा काल के कवि का कथ्य और शिल्प विधान दोनों मनोरम हैं। छंदों के क्षेत्र में तो मानों उस समय एक क्रांति-सी आ गई थी। छंद प्रयोग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका उपयोग श्रोता और पाठक की बदलती हुई चित्तवृत्ति की अनुरूपता में हुआ है। काव्य रूढ़ियाँ शिल्प विधान का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। उस समय के रासो तथा अन्य शृंगारी काव्यों में शुक दूती दैवी शक्ति तथा संवाद शैली आदि काव्य रूढ़ियाँ प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त हुई हैं जो कि एक विशिष्ट काव्य संस्कृति की सूचक हैं।

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि हिंदी के प्रारंभिक काल की वीरगाथाओं का साहित्य कथ्य और शिल्प विधान की दृष्टियों से पर्याप्त संपन्न है। इस साहित्य की अनेक परंपराएँ और शैलीगत विशेषताएँ परवर्ती हिंदी काव्य में पल्लवित और पुष्पित हुईं।

9.6 आदिकाल के कतिपय रासो-काव्य तथा कवि

दलपति विजय का खुमान रासो

खुमान रासो का मूल लेखक कौन है और उसका समय क्या है? ये दोनों प्रश्न अभी तक विवादास्पद हैं।

नोट

इसके साथ-साथ प्रस्तुत ग्रंथों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध हैं। शिवसिंह सेंगर इसके रचयिता के संबंध में मौन हैं। उसमें केवल यह बताया गया है कि किसी अज्ञातनाम भट्ट ने खुमान रासो नामक काव्य लिखा था, जिसमें श्री रामचंद्र से लेकर खुमान तक के नरपतियों का उल्लेख है। इधर खुमान रासो की जो हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं, उनमें भी कुछ नहीं कहा जा सकता है कि दलपति इस ग्रंथ का मूल लेखक है अथवा उद्धर्ता।

कर्नल टाड ने इस पुस्तक की चर्चा बड़े विस्तार से की है। उन्होंने कहा कि खुमान नाम के तीन शासक हुए हैं जिनमें प्रथम का समय 752 से 808 ई. तक, दूसरे का 813 से 843 तक और तीसरे का 908 से 933 तक था। इस ग्रंथ में जिस खुमान का चरित्र है वह अनुमानतः खुमान द्वितीय है क्योंकि इसमें बगदाद के खलीफा अलमामू (813-833 ई.) के चित्तौड़ पर किये गए आक्रमण का उल्लेख है। जिस खुमान ने खलीफा को पराजित किया था वह द्वितीय है। अनुमान है कि इस ग्रंथ का निर्माण खुमान द्वितीय के समय में हुआ होगा लेकिन दूसरी ओर इसमें प्रताप तक के चरित्र का वर्णन है अतः इसका रचनाकाल 16वीं शती मानने को बाध्य होना पड़ता है। यही कारण है कि आचार्य हजारीप्रसाद इस ग्रंथ के संबंध में लिखते हैं—“हिंदी के विद्वानों ने इन्हें मेवाड़ के रावल खुमान सं. (870) का समकालीन होना अनुमानित किया है जो गलत है। वास्तव में इसका रचना काल सं. 1730 सं. 1760 के मध्य तक है। इस प्रकार इस ग्रंथ की चर्चा हिंदी साहित्य के आदि काल में नहीं होनी चाहिए।”

अगरचंद नाहटा ने अत्यंत तर्कपूर्ण ढंग से हस्तलिखित प्रतियों पर विचार करने के उपरांत इस संबंध में निम्न निष्कर्ष दिये थे—

(1) इस ग्रंथ में बप्पा से लगाकर राजसिंह तक का वृत्तांत है। पर राणा खुमान का वृत्तांत विस्तार से होने के कारण ग्रंथ का नाम खुमानरासो रखा गया है।

(2) इसकी भाषा राजस्थानी है।

(3) इसके रचयिता तपागच्छीय जैन कवि दौलत विजय हैं जिनका दीक्षा से पूर्व का नाम दलपत था।

(4) ग्रंथ का निर्माण सं. 1730 से 1760 के मध्य का है।

इस प्रकार खुमान रासो को हिन्दी का आदि रासो कहना किसी प्रकार युक्तिसंगत नहीं होगा। मोतीलाल मेनारिया ने भी इसका समय 18वीं शताब्दी ठहराया है।

खुमान रासो केवल खुमान के चरित को लेकर नहीं लिखा गया बल्कि उनके वंश के इतिहास को लेकर लिखा गया है। ‘कामश रासो’ में भी यही पद्धति अपनाई गई है।

यह ग्रंथ विविध छंदों में प्रस्तुत किया गया है और कविता की दृष्टि से अत्यंत सरल बन पड़ा है। यथा—

पिउ चित्तौड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज।

जोवे वाट रति विरहिणी खिण खिण अणवै खीज॥

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. वैयाकरणों ने मुख्यतः तीन अपभ्रंशों—नागर, ... और उपनागर की चर्चा की है।

(क) ब्राह्म

(ख) प्राकृत

(ग) संस्कृत

(घ) इनमें से कोई नहीं

6. पालि प्राकृत और अपभ्रंश मध्यकालीन थीं।

(क) आर्य-भाषाएँ

(ख) अनार्य भाषाएँ

(ग) दोनों

(घ) इनमें से कोई नहीं

7. प्राकृत भाषा का समय सामान्यतः से 600 ई. तक है।

(क) 16 ई. पू.

(ख) 600 ई. पू.

(ग) 1600 ई. पू.

(घ) 300 ई.

8. भास के नाटक उपलब्ध हुए हैं, जिनमें कुछ एकांकी भी हैं।

नोट

(क) 17

(ख) 18

(ग) 13

(घ) 23

दलपति नाल्ह का बीसलदेव रासो

हिंदी साहित्य में रासो शब्द का ग्रहण सामान्यतः दो रूपों में हुआ—एक गेय मुक्तक परंपरा और दूसरी नृत्यगीतपरक परंपरा। बीसलदेव रासो प्रथम परंपरा का प्रतिनिधि ग्रंथ है। आदिकाल के गेय साहित्य में इस ग्रंथ की चर्चा विशेष रूप से की जाती है, वस्तुतः बीसलदेव रासो को प्रेमाख्यान काव्यों की कोटि में रखना अधिक संगत है। इसमें विवाह के उपरान्त पति-पत्नी के संपर्क से प्रेम का विकास दिखाया गया है। उक्त रासों में चित्रित प्रोषितपतिका के विरह और बारहमासा आदि के आधार पर इसे संदेश रासक तथा 'ढोला मारू रा दूहा' की कोटि में रखना अधिक वैज्ञानिक होगा। प्रायः इतिहासकारों ने बीसलदेव रासो को वीर काव्यों की कोटि में रखा है, जो इस काव्य की कथा की आत्मा से मेल नहीं खाता है। इसका वास्तविक स्थान हिंदुओं द्वारा रचित प्रेमाख्यानों में ही होना चाहिए। अस्तु, आदिकाल के अन्य रासों ग्रंथों के समान इस ग्रंथ के रचनाकाल, रचयिता और चरितनायक आदि विषय विवादास्पद हैं। नीचे की पंक्तियों में हम क्रमशः उक्त बातों के संबंध में विवेचना करेंगे।

रचनाकाल—प्रस्तुत ग्रंथ के रचना काल का प्रश्न अत्यंत ही विवादास्पद है। आचार्य शुक्ल ने निम्न पद्य के आधार पर इसका रचनाकाल सं. 1212 स्वीकार किया है—

बारह सौ बहोत्तरा मझारि, जेठ दी नवमी बुधवारि।

नाल्ह रसायण आरंभई शारदा तुटी ब्रह्म-कुमारी ॥

सं. 1212 में ज्येष्ठ की नवमी बुधवार को इस ग्रंथ का प्रणयन आरंभ हुआ। उक्त कथन की पुष्टि सं. 1210 से 1220 तक उपलब्ध होने वाले शिलालेखों से भी हो जाती है। ग्रंथ में वर्तमानकालीन क्रिया का प्रयोग भी इसी तथ्य का समर्थन करता है। किंतु कुछ विद्वानों ने निम्न कारणों के आधार पर उक्त काल के संबंध में संदेह प्रकट किया है—

(1) राजा भोज की पुत्री का देहांत लगभग 100 वर्ष पहले हुआ, अतः बीसल के साथ उसका विवाह असंभव है। कोई समकालीन रचयिता इस प्रकार इतिहास के विरुद्ध नहीं लिख सकता।

(2) बीसलदेव अत्यंत पराक्रमी योद्धा थे। उन्होंने कई बार मुसलमानों को नाकों चने चबवाये थे। उन्होंने दिल्ली और झांसी पर अधिकार भी किया था। बीसलदेव रासो में ऐसी वीरतापूर्ण घटनाओं का उल्लेख अवश्य होना चाहिए था।

(3) बीसलदेव जैसा युद्धप्रिय व्यक्ति 12 वर्ष तक उड़ीसा रहा, यह भी असंभव है।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने बीसलदेव का राजमती से विवाह सिद्ध करने के लिए बीसलदेव का समय सं. 1058 सिद्ध किया है। उनका कहना है कि जैपाल 1001 में महमूद से पुनः पराजित हुआ और उसने आत्मघात कर लिया। उसका पुत्र अनगपाल अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव के नेतृत्व में मुसलमानों के विरुद्ध लड़ा था। अतः बीसलदेव का समय 1001 से 1058 है। डॉ. वर्मा के अनुसार राजा भोज 1075 में राज्यासीन हुआ और 40 वर्ष तक उसने राज्य किया।

गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार बीसलदेव का समय सं. 1030 से 1056 तक है। उन्होंने, सं. 1055 से भोज को सिंहासनासीन माना है। ओझा जी के अनुसार बीसलदेव का समय 11वीं शती है। उनका कहना है कि वर्तमान काल की क्रियाएँ भी इसी तथ्य की द्योतक हैं।

मिश्रबंधुओं ने इस ग्रंथ का समय 1220 तथा लाला सीताराम ने 1272 स्वीकार किया है। इधर श्री गजराज बी.ए. (बीकानेर निवासी) ने बीसलदेव रासो की एक प्राचीन प्रति के आधार पर उसका रचना काल सं. 1073 माना है—

संवत सहज तिहत्तर जानि नाल्ह कबीसर सरसीय वाणि।

किन्तु हमारे विचार में यह उक्ति किसी भट्ट की कृपा है जो कि एकमात्र प्रक्षिप्त है। यदि प्रस्तुत ग्रन्थ 1073 में निर्मित हुआ तो इस ग्रन्थ की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश होनी चाहिए थी।

नोट

डॉ. रामकुमार वर्मा पृथ्वीराज विजय की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए लिखते हैं कि अणोर्राज के द्वितीय पुत्र विग्रहराज चतुर्थ के शिलालेख 1210 से सिद्ध होता है कि अणोर्राज की मृत्यु 1201 से 1272 के बीच हुई। यह कथन अपने आपमें विरोधी है। जो बीसलदेव या विग्रहराज 1058 में विद्यमान था यह तृतीय था और 1220 के लगभग चतुर्थ विग्रहराज विद्यमान थे। यहां एक बात और भी विचारणीय है। डॉ. महोदय ने नरपति को बीसलदेव का समकालीन नहीं माना है फिर वर्तमानकालीन क्रियाओं की सार्थकता कैसी? विग्रहराज तृतीय के समय अजमेर बसा ही नहीं थी। तृतीय विग्रहराज के वंशज महाराज अजयराज ने अजमेर बसाया था। अजयराज के पुत्र अणोर्राज ने अनासागर झील बनवाई थी। उसका वर्णन बीसलदेव रासो में उपलब्ध होता है।

इस ग्रन्थ के रचना काल के संबंध में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि कवि ने अतिरंजित कल्पना से काम लिया है। बीसलदेव अत्यंत प्रतापशाली राजा था, वह स्वयं संस्कृत का कवि भी था। उसने अपना हर-केलि नाटक शिलापट्टों पर खुदवाया था। उसके राजकवि सोमेदेव ने 'ललित विग्रहराज' लिखा था। बीसलदेव रासो में बीसलदेव की वीरता का कोई आभास नहीं मिलता। इस बात का भी प्रमाण नहीं कि उसने उड़ीसा को जीता था। ग्रन्थ में बार-बार कहा गया है कि रासो का निर्माण गायन के लिए हुआ है, पर राजपूताने के विद्वानों का कहना है कि बीसलदेव रासो यहाँ कभी भी नहीं गाया गया है। यह तो निश्चित है कि नरपति नाल्ह बीसलदेव का समसामयिक नहीं। राजपूताने में वर्तमानकालीन क्रियाओं का प्रयोग बार-बार देखा गया है। अतः बीसलदेव रासो का रचना-काल 1545 से 1660 है। मोतीलाल मेनारिया ने भी यही रचनाकाल स्वीकार किया है। इनके इस कथन का आधार उक्त ग्रन्थ की भाषा है।

इस प्रकार हमने देखा कि उक्त ग्रन्थ के रचनाकाल के संबंध में तीन संवत् हैं—1212, 1545 से 1560 तथा 1073। हमारे विचारानुसार इस ग्रन्थ का रचना काल संवत् 1212 समीचीन है। बीसलदेव रासो का नायक विग्रहराज चतुर्थ है। विग्रहराज चतुर्थ का राजमती से विवाह भी संभव है। राजमती धारा के परमार वंशज राजा भोज की पुत्री नहीं, जैसलमेर के बसाने वाले रावल भोज देव की सुपुत्री है। रावल भोज देव का शासनकाल 1205 से आरंभ होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का चतुर्थ खण्ड तो प्राप्त नहीं होता। दूसरे और तीसरे में सर्वत्र राजमती को जैसलमेर की राजकुमारी बताया है।

लेखक ने इस ग्रन्थ को इतिहास या वंशावली के रूप में प्रस्तुत नहीं किया। प्रत्युत उन्होंने इसे सरस कल्पना और काव्यमय रूप दिया है। यही कारण है कि इसमें विग्रहराज चतुर्थ की वीरता की उपेक्षा है। बीसलदेव का उड़ीसा प्रस्थान, जगन्नाथपुरी की यात्रा, वहाँ के राजा के निमंत्रण अथवा दिग्विजय की भावना से संभव है कवि ने उसे विरह वर्णन का रूप दे दिया है। पर्याप्त प्रक्षिप्त पाठों के होते पर भी यह रचना 1212 में लिखी गई मालूम पड़ती है। भले ही इसका वर्तमान रूप 16वीं शताब्दी में निर्मित हुआ हो।

रचयिता—इस ग्रन्थ का रचयिता विग्रहराज चतुर्थ का समकालीन कवि नरपति नाल्ह (1212) है। पर इधर मोतीलाल मेनारिया ने अजमेर के नरपति को गुजरात के नरपति नाल्ह से अभिन्न माना है। इनके इस विश्वास का प्रमुख आधार दोनों कवियों का भाव-साम्य है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी भी इस संबंध में मेनारिया के मत से सहमत दिखाई पड़ते हैं। अजमेर के नरपति नाल्ह का समय 1212 है जबकि गुजरात के नरपति नाल्ह का समय 16वीं शती ठहरता है। ऐसी स्थिति में दोनों में एकता स्थापित करना समीचीन नहीं है। रही भावसाम्य की बात, उसका मिल जाना संभव है क्योंकि मानव मन में एकता मिलनी कोई अकल्पनीय वस्तु नहीं। शृंगार प्रकाश के कर्ता भोजराज तथा फ्रायड में भाव साम्य मिलता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि वे दोनों समकालीन थे या उन्होंने एक-दूसरे के भावों का अपहरण किया है। स्वयं कवि ने अपने ग्रन्थ का रचनाकाल 'बाधारा सौ बहोतरा' दिया है। इसमें बहोतरा का अर्थ भले ही 12, 20, 72 किया जाए पर बारह सौ तो स्पष्ट ही है। अतः 16वीं शताब्दी के कवि को 13वीं शती के कवि से आज्ञा मानना समुचित नहीं।

चरित नायक—बीसलदेव रासो का चरित नायक विग्रहराज चतुर्थ है। अजमेर और सांभर के चौहानों में विग्रहराज नाम के राजा मिलते हैं जिन्हें बीसलदेव कहा जाता है। दिल्ली के फिरोजशाह की लाट पर विग्रहराज चतुर्थ द्वारा खुदवाये गए लेख से इस बात की पुष्टि होती है। विग्रहराज तृतीय का. सं. 1150 विक्रमी में तथा विग्रहराज चतुर्थ का सं. 1210 से 1220 वि. तक विद्यमान रहना सिद्ध होता है। बीसलदेव रासो में कोई वंशावली नहीं दी गई है अतः यह निर्णय देना अत्यंत कठिन हो जाता है कि यह कौन सा विग्रहराज चतुर्थ को इस ग्रन्थ का नायक मानना स्वीकार किया है किन्तु श्री ओझा जी ने विग्रहराज तृतीय को इसका नायक मानना अधिक उपयुक्त समझा है। उनका कहना है कि यदि बीसलदेव को विग्रहराज चतुर्थ माना जाय तो राजमती का उससे विवाह इतिहास के विरुद्ध पड़ता है और इसी प्रकार और भी अनेक ऐतिहासिक असंगतियाँ बनी रहती हैं।

वास्तव में नरपति नाल्ह न कोई इतिहासज्ञ था और न ही कोई बड़ा कवि। उसने सुने-सुनाये आख्यान पर लोगों को प्रसन्न करने के लिए काव्य का ढांचा खड़ा किया जिसमें समय-समय पर यथेष्ट मात्रा में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन होता रहा जिसमें उसका असली रूप दब गया और उसमें कई ऐतिहासिक भ्रातियाँ आ गई।

भाषा—इस ग्रन्थ की भाषा को उस युग की भाषा का संधिस्थल कह सकते हैं। इसकी भाषा में एक ओर तो अपभ्रंशपन है और दूसरी ओर हिन्दीपन। भाषा का यह रूप वस्तुतः उसे सं. 1212 की रचना सिद्ध करता है। 11वीं शती की अधिकांश रचनाएँ डिंगल और पिंगल में लिखी गई हैं। अतः यह रचना 13वीं शती की ठहरती है। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डॉ. रामकुमार वर्मा के विचार द्रष्टव्य हैं—

“भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं, राजस्थानी है।..... इस ग्रन्थ से एक बात का आभास मिलता है। वह यह कि शिल्लिष्ट भाषा में ब्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान में व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा हिन्दी थी जो पिंगल भाषा कहलाती थी। बीसलदेव रासो में बीच-बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिन्दी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है।”

—आचार्य शुक्ल

“बीसलदेव रासो का व्याकरण अपभ्रंश के नियमों का पालन कर रहा है। कारक, क्रियाओं और संज्ञाओं के रूप अपभ्रंश भाषा के ही हैं। अतएव भाषा की दृष्टि से इस रासो को अपभ्रंश भाषा से सद्यः विकसित हिन्दी का ग्रन्थ कहने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।”

—डॉ. रामकुमार वर्मा

काव्य सौन्दर्य—बीसलदेव रासो एक विरह काव्य है। इसमें चार खण्ड हैं तथा सवा सौ छन्द हैं। इसके प्रथम खण्ड में अजमेर के विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का परमार वंशज राजा भोज की कन्या राजमती से विवाह वर्णित है। द्वितीय खण्ड में राजमती के व्यंग्य पर राजा का उड़ीसा-प्रवास है। तृतीय खण्ड में राजमती का विरह वर्णन तथा 12 वर्षों के अनन्तर राजा का वापस आना उल्लिखित है। चतुर्थ खण्ड में राजमती का मायके चला जाना तथा बीसलदेव का उसे अजमेर वापस ले आने का वर्णन है। यह सारी कथा ललित मुक्तकों में कही गई है। यदि इस कहानी को हटा दिया जाय तो भी इस प्रेम काव्य के मुक्तकों की एकसूत्रता में कोई अन्तर नहीं आता। सन्देश रासक की भाँति बीसलदेव रासो भी मुख्यतः विरह काव्य है। अन्तर इतना है कि बीसलदेव रासो के आरंभ में विवाह के गीत हैं साथ ही बीसलदेव के परदेस जाने का प्रसंग भी वर्णित है। शेष प्रसंग सामान्य रूप से लगभग एक से हैं। अन्तर केवल व्यौरे का है। यह ग्रन्थ विरह के स्वाभाविक चित्र, संयोग और विप्रलंभ शृंगार की सफल उद्भावना और साथ ही प्रकृति के रूप चित्रों से परिपूर्ण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि विविध घटनाओं के वर्णनों के होते हुए भी इस काव्य में इतिवृत्तात्मकता नहीं है। राजमती का चरित्र बड़ा ही सजीव तथा विलक्षण बन पड़ा है। “मध्य युग के समूचे हिन्दी साहित्य में जबान ही इतनी तेज और मन की इतनी खरी नायिका नहीं दीख पड़ती है।” राजा बीसलदेव ने एक दिन राजकीय अभियान की रौ में कहा कि मेरे समान दूसरा भूपाल नहीं। रानी से यह मिथ्याभिमान न सहा गया। उसने कहा उड़ीसा का राजा तुमसे धनी है। जिस प्रकार तुम्हारे राज्य में नमक निकलता है, उसी तरह उसके घर में हीरे की खानों से हीरा निकलता है। राजा इस पर जलभुन गया और वह रूठ गया और रानी के लाख अनुनय-विनय करने पर भी उसने उड़ीसा जाने का संकल्प कर लिया। उस समय के रानी के वचन अत्यंत मार्मिक बन पड़े हैं:—

हेड़ाऊ का तुण्यि हिंउ।

हाथ न फेरइ सउसउ बार॥

अर्थात् मैं हार के उस घोड़े के समान उपेक्षित हूँ जिस पर घोड़े वाला सौ-सौ दिन तक हाथ नहीं फेरता। आगे चलकर वह कहती है कि ताजा घोड़ा यदि उसांसें लेता है तो दागा जाता है, चरता हुआ मृग भी मोहित किया जा सकता है, किन्तु हे सखि! अंचल में पिया को बांधा कैसे जा सकता है?

चांपीया तेजीय जउ रे उससाई

मृग रे चरन्ता मोहिजइ

सखि अंचलि बांधियउ नाह किऊं जाइ ॥

पति की नीरसता पर झल्लाकर राजमती यहाँ तक कहती है—

राउ नहीं सषि भइंस पीडार

राजमती जबान की तेज है तो क्या? आखिर है तो नारी ही। विरह से उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। उसे अपने स्त्री जीवन पर रोना आता है। महेश को उलाहना देती हुई वह कहती है कि स्त्री का जन्म तुमने क्यों किया?

नोट

देने के लिए तो तुम्हारे पास और भी अनेक जन्म थे। तुमने मुझे जंगल का जंतु क्यों नहीं बनाया। यदि वन खंड की काली कोयल ही बनाया होता तो आम और चंपा की डाल पर तो बैठती, अंगूर और बीजोरी के फल तो खाती। वास्तव में उक्त कथन में वासनाभिभूत मध्ययुगीन पुरुष के स्वार्थ और उसकी अति कामुकतामयी रसिकता की शिकार बनी हुई मध्ययुगीन नारी की आत्मा का करुण क्रन्दन एवं चीत्कार है। इसी प्रकार के कथन विद्यापति तथा हेमचंद्र में भी देखे जा सकते हैं। राजमती की आत्मा, विद्रोहिणी, मन अभिमानी और जबान प्रखर है। पुरुष की स्वार्थमय रसिकता ने उसे नारी जीवन से ही विरक्त बना दिया है—

अस्त्रीय जनम काई दीघउ महेस
अवर जनम धारइ घणा रे नरेश,
रानि न सिरजीय रोझड़ी,
घणह न सिरजीय धउलीय गाई।
वनषंड काली कोइली,
हऊं वइसती अंबा नई चंपा की डाल
भषतौ वाष विजोरडी।

आगे वह फिर कहता है कि यदि तुमने मुझे नारी ही बनाया तो राजरानी न बनाकर आंजनी (जाटनी) क्यों नहीं बनाया। तब मैं अपने भरतार के साथ खेत कमाती, अच्छी लोमपटी पहती, तुंग तुरंग के समान अपना गात स्वामी के गात से भिड़ातीं, स्वामी को सामने से लेती और हँस-हँसकर प्रिय की बात पूछती। कितनी बड़ी विवशता है कि किसी राजा की रानी होना—कितना बड़ा अभिशाप है। राजा के वापस लौटने पर रानी की कैची जैसी जबान से फिर न रहा गया और उसने ताना मार ही दिया—

स्वामी घी विणजियउ नइ जीतियउ तेल।

हे स्वामी! तुमने वाणिज्य तो घी कर जरूर किया किंतु जीता तेल ही। इतनी सुंदर नारी से विवाह तो किया किंतु उसके उपभोग करने का सौभाग्य तुम्हें न मिल सका। अभिव्यक्ति की ताजगी और भावों की तीव्रता में बीसलदेव रासो संदेश रासक से कहीं अधिक लोक-जीवन के रंग में रंगा हुआ है। इससे यह सिद्ध है कि हिंदी साहित्य के अभ्युदय काल में लोक-जीवन का स्पर्श अधिक गहराई के साथ होने लगा था। बीसलदेव रासो पर लोक-तत्त्व का प्रभाव बहुत गहरा है।

विप्रलंभ की अवस्था में कवि ने जो बारहमासा दिया है वह भी अपने ढंग का अकेला है चैत्रमास का छंद देखिए—

चैत्र मासई चतुरंगी हे नारि।
प्रीय बिण जीविजई किसई अधारि।
कंचूयउ भीजइ हसइ।
सात सहेलीय बइठी छइ पाइ।

विरह काव्य होने के कारण बीसलदेव रासो में संभोग के मांसलतापूर्ण चित्रों का प्रायः अभाव है। इस दृष्टि से यह संदेश परंपरा में आता है। कालिदास के मेघदूत की परंपरा में नहीं, क्योंकि कालिदास का यक्ष प्रकृति से अतिरसिक है। वियोग काल में अनुभूतियाँ तरल और सूक्ष्म हो जाती हैं। किंतु कालिदास का यक्ष वियोग काल में संदेश देते समय भी संयोग के मांसल दृश्यों को नहीं भूलता।

इस रचना में आदि से अंत तक एक ही छंद प्रयोग हुआ है। संपूर्ण रचना गेय है। प्रत्येक छंद स्वतंत्र गीत है और केदारा राग में गाये जाने के लिए लिखा गया है। यह रचना नृत्य-गीत के रूप में प्रस्तुत की जाती है।

इसमें कहीं-कहीं पर साधारण और अक्रमिक शैली में घटनाओं का वर्णन मिलता है और कई स्थानों पर 'बेटी राजा भोज की' बीज में ही जोड़ दिया गया है। दूसरी बात यह है कि कथानक के अंतर्गत आने वाले संवाद कई जगह उलझे हुए हैं। कहीं-कहीं पर चित्रण अत्यंत नीरस और भौंडा हो गया है। किंतु इन त्रुटियों के होते हुए भी बीसलदेव रासो अपनी गेयता, संक्षिप्तता और सरस चित्रणों के फलस्वरूप पाठकों को प्रभावित करता रहेगा।



टास्क

डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार राजा भोज कब राज्यासीन हुआ और उसने कितने वर्ष राज्य किया?

जगनिक का परमाल रासो (आल्हा खंड)

जगनिक कालिंजर (चंलेद राज्य) के राजा परमार्दिदेव का दरबारी कवि था। परमार्दिदेव कन्नौज-नरेश जयचंद का सामन्त था या अधीनस्थ कोई राजा था। परमार्दिदेव राजा जयचंद की सदा सहायता किया करता था। एक दफा पृथ्वीराज चौहान ने चंदेल राज्य पर किसी ब्याज से आक्रमण किया जिसमें बनाफर शाखा के दो क्षत्रिय वीर आल्हा और ऊदल वीरगति को प्राप्त हुए। जगनिक ने इन्हीं दो वीरों की गाथा को लेकर काव्य लिखा। बहुत दिनों तक इस काव्य को पृथ्वीराज रासो का खंड 'महोबा खंड' के रूप में समझा गया। सं. 1976 में नागरी प्रचारिणी सभा काशी से यह रचना प्रकाशित हुई है जिसके संपादक डॉ. श्यामसुंदर दास ने भूमिका में लिखा है, "जिन प्रतियों के आधार पर यह संस्करण संपादित हुआ है, उनमें यह नाम नहीं है। उनमें इसको चंद्रकृत पृथ्वीराज रासो का महोबा खंड लिखा हुआ है। किंतु वास्तव में यह पृथ्वीराज रासो में दिये हुए एक वर्णन के आधार पर लिखा हुआ एक स्वतंत्र ग्रंथ है। यद्यपि इस ग्रंथ का मूल नाम प्रतियों में पृथ्वीराज रासो दिया हुआ है पर इस नाम से प्रकाशित करना लोगों को भ्रम में डालना होगा। अतएव मैंने इसे परमाल रासो नाम देने का साहस किया है।"

फर्रूखाबाद के कलक्टर मि. चार्ल्स इलियट ने लोक में प्रचलित आल्हा-ऊदल संबंधी गीतों का संग्रह आल्हाखंड के नाम से छपवाया था। डॉ. हजारीप्रसाद इस ग्रंथ के संबंध में लिखते हैं—"निःसंदेह इस नये रूप में बहुत-सी नई बातें आ गई हैं और जगनिक के मूल काव्य का क्या रूप था, यह कहना कठिन हो गया है। अनुमानतः इस संग्रह का वीरत्वपूर्ण स्वर तो सुरक्षित है, लेकिन भाषा और कथानकों में बहुत अधिक परिवर्तन हो गया है। इसलिए चंदबरदायी के पृथ्वीराज रासो की तरह इस ग्रंथ को भी अर्द्ध-प्रामाणिक कह सकते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि या तो जगनिक का काव्य बहुत दिनों तक बुन्देलखंड के बाहर प्रसारित नहीं हुआ या यह रचा ही बहुत बाद में गया। पुराने साहित्य में इस अत्यंत लोकप्रिय काव्य का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता और गोस्वामी तुलसीदास जी ने इस श्रेणी के काव्य को शायद सुना ही नहीं था। यदि उन्होंने सुना होता तो अपने स्वभाव और नियम के अनुसार इस पद्धति को भी अवश्य रामय बनाते।"

निःसंदेह इस रचना में अनेक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए फिर भी इसमें जगनिक की हृदयस्पर्शी भावधारा अजस्रगति से प्रवाहित होकर आज तक रसिकों के मन को आप्लावित करती आई है—कवि के लिए यह कम महत्त्व की बात नहीं है। यह आल्हा खंड आज भी वर्षा ऋतु में गाया जाता है। इन गीतों को आल्हा रासो भी कहा जाता है, क्योंकि उस समय गेय साहित्य को रासो की संज्ञा से अभिहित किया जाता था।

9.7 सारांश (Summary)

- संस्कृत साहित्य को मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) वैदिक साहित्य, (ख) लौकिक संस्कृत साहित्य। वैदिक साहित्य के अंतर्गत चारों वेद, वेदांग, ब्राह्मण-ग्रन्थ तथा उपनिषद् आदि हैं और लौकिक संस्कृत साहित्य अपने व्यापक अर्थ में धार्मिक तथा ऐहिकतापरक काव्यों, प्रबन्ध काव्यों, गीति काव्यों, नाटकों, मुक्तक काव्यों, कथा साहित्य, अलंकृत गद्य काव्यों, इतिहास एवं पुराणों, समीक्षाशास्त्र, नाना वैज्ञानिक विषयों, पत्थरों और ताम्रपत्रों के साहित्य को समाविष्ट कर लेता है। लौकिक संस्कृत साहित्य का प्रतिपाद्य भाषा-शैली तथा परिवेश की दृष्टि से वैदिक साहित्य से किंचित भिन्न है।
- महाभारत अपने आप में भारतीय साहित्य का एक समग्र रूप है। इसमें कौरव-पांडवों के युद्ध की ऐतिहासिक घटना, उस युग की तथा परवर्ती समय की नैतिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, धार्मिक चेतना तत्त्ववादों और कल्पनाप्रवण आख्यानों से ऐसे आच्छादित हो गई है कि वह नगण्य-सी प्रतीत होती है। भारतीय दृष्टिकोण से महाभारत पाँचवाँ वेद, इतिहास, पुराण, स्मृति, शास्त्र और काव्य सभी कुछ है। जो कुछ भारत और भारतीय साहित्य में है वह सब कुछ महाभारत में भी है।
- पालि साहित्य को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) त्रिपिटक (तिपिटक), (ख) अनुपिटक। त्रिपिटक बौद्ध धर्म का सिद्धांतपरक साहित्य है जबकि अनुपिटक सिद्धांतोत्तर साहित्य है। इसे अनुपालि साहित्य भी कहा जाता है। त्रिपिटक के अंतर्गत मुख्य रूप से सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक आते हैं। सुत्तपिटक और विनयपिटक में बुद्ध के उपदेशों और शिक्षाओं का संग्रह राजगृह में बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् 485 ई. पू. में आयोजित प्रथम संगीति सामन्ति के अवसर पर किया गया। दूसरी संगीति इसके लगभग एक सौ साल के बाद वैशाली में हुई। तीसरी संगीति देवानाप्रिय अशोक के काल में पाटलिपुत्र में हुई।

नोट

- महाराष्ट्री, शौरसेनी, अर्द्धमागधी, मागधी तथा पेशाची आदि प्रमुख साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ हैं। इनमें मुक्तक कथाकाव्य, नाटक, धार्मिक साहित्य तथा इतर साहित्य की विपुल सृष्टि हुई है। प्राकृतों में महाराष्ट्री सर्वप्रमुख एवं सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। किसी समय यह विंध्याचल से हिमाचल तक के समूचे भारत की एक परिनिष्ठित साहित्यिक और सांस्कृतिक भाषा थी।
- प्राकृत साहित्य के समान अपभ्रंश भी पर्याप्त समृद्ध है। इसमें महाकाव्यों, खंडकाव्यों, गीतिकाव्यों, लौकिक-प्रेमकाव्यों, धार्मिक रचनाओं, रूपक साहित्य, स्फुट साहित्य तथा गद्य साहित्य की नाना विधाओं की सृष्टि हुई है। इसमें जैन धर्म के सिद्धांत और सिद्धान्तोत्तर साहित्य बौद्ध सिद्धों तथा नाथों के साहित्य तथा शौर्य और शृंगारात्मक लौकिक काव्यों का प्रणयन हुआ है।
- हिंदी के प्रारंभिक काल का साहित्य विविधोन्मुखी और समृद्ध है। इसमें जहाँ एक ओर धर्माश्रित काव्यों में वैराग्य की शांत स्रोतस्विनी है, वहाँ दूसरी ओर उसमें शृंगार रस की कलकल निनादिनी सुंदर कल्लोलिनी भी है।
- उक्त काल का साहित्य हिंदी का संक्रमणकालीन साहित्य है। इसमें पूर्ववर्ती अपभ्रंश काव्यों की परंपराओं का मात्र अंधानुकरण नहीं है। हिन्दी एक जीवन्त भाषा है और वह पूर्ववर्ती साहित्य की जीवन प्राणधारा को लेकर चली है।

9.8 शब्दकोश (Keywords)

अल्पकालीन	—	थोड़े समय का
प्रामाणिक	—	प्रमाणयुक्त
लज्जास्पद	—	लज्जायुक्त

9.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. संस्कृत भाषा एवं इसके वाङ्मय स्वरूप की विवेचना करें।
2. पालि भाषा की व्युत्पत्ति एवं इसके साहित्य पर प्रकाश डालें।
3. 'अपभ्रंश साहित्य' पर टिप्पणी लिखिए।
4. प्राकृत भाषा और उसके साहित्य का वर्णन कीजिए।
5. दलपति नाल्ह के बीसलदेव रासो का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|------------|----------|--------|--------------|
| 1. महाभारत | 2. पुराण | 3. दो | 4. विनय पिटक |
| 5. (क) | 6. (क) | 7. (ख) | 8. (ग) |

9.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - डॉ. ईश्वरदत्त शील, आभारानी।
2. हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।
3. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास - विश्वनाथ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन।
4. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - बाबू गुलाबराय, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन।

इकाई-10: पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

- 10.1 चन्दबरदायी : पृथ्वीराज रासो
- 10.2 पृथ्वीराज रासो के विभिन्न संस्करण और उसका उद्घरण
- 10.3 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता
- 10.4 आदिकालीन रासो ग्रन्थों की प्रामाणिकता और अस्तित्व
- 10.5 ग्रहण व त्याग की समस्या
- 10.6 सारांश (Summary)
- 10.7 शब्दकोश (Keywords)
- 10.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)
- 10.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- पृथ्वीराज रासो के विभिन्न संस्करण जानने में।
- आदिकालीन रासो ग्रन्थों की प्रामाणिकता और अस्तित्व को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कई विद्वानों ने चंद के पूर्व पुरुषों को मगध से आया हुआ बताया है किंतु रासो में लिखा है कि चंद का जन्म लौहार में हुआ। कहते हैं कि चंद पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर का दरबारी और पीछे पृथ्वीराज का मंत्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत-सी भूमि चंद को दी थी। नागौर में अब तक भी चंद के वंशज रहते हैं।

इधर प्रो. वूलर आदि विद्वानों ने चंद के अस्तित्व को मानने से बिलकुल इन्कार कर दिया है। प्रो. महोदय का कथन है कि जयनक रचित पृथ्वीराज विजय नामक संस्कृत काव्य में पृथ्वीराज की राजसभा का वर्णन किया है पर उसमें चंद का कहीं भी नाम नहीं है। उसमें पृथ्वीराज के दरबारी बंदाजन पृथ्वीभट्ट का उल्लेख है।

प्रारंभ में रासो को एक प्रामाणिक ग्रंथ समझा गया। कर्नल टाड ने इसे प्रामाणिक समझकर इसके साहित्यिक सौंदर्य पर मुग्ध होकर इसके लगभग तीस हजार पद्यों का अंग्रेजी अनुवाद किया था। फ्रेंच विद्वान गार्सा द तौसी ने भी इसे प्रामाणिक माना था। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने तो इसका प्रकाशन भी आरंभ कर दिया था, किंतु इसी बीच 1875 ई. में डॉ. वूलर को काश्मीर में जयनक रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक संस्कृत काव्य उपलब्ध हुआ। ऐतिहासिकता की दृष्टि से इस ग्रंथ में वर्णित घटनाएँ उसे रासो की अपेक्षा शुद्ध प्रतीत हुई। ऐसी स्थिति में प्रो. वूलर को रासो की प्रामाणिकता पर संदेह हुआ और उसने उसका प्रकाशन कार्य स्थगित करवा दिया। वैसे तो रासो की प्रामाणिकता पर संदेह करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति जोधपुर के कविराज मुरारीदीन तथा उदयपुर

नोट

के कविराज श्यामलदास थे किंतु डॉ. वूलर के संदेहपूर्ण दृष्टिकोण से अन्य भारतीय विद्वानों को इस दिशा में काफी प्रेरणा मिली, जिनमें गौरीशंकर हीराचंद्र ओझा विशेष उल्लेखनीय हैं।

10.1 चंदबरदायी : पृथ्वीराज रासो

चंद : व्यक्ति और चरित—चंद हिंदी साहित्य का एक ऐसा विलक्षण प्रतिभासंपन्न कवि है जिसकी कृति ‘पृथ्वीराज रासो’ और उसका निजी अस्तित्व आज तक प्रश्नवाची चिह्न (?) से संयुक्त है। आज पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता अत्यंत विवादास्पद विषय है। हिंदी के कुछ विद्वानों ने रासो को सर्वथा अप्रामाणिक, कुछ एक ने प्रामाणिक और कइयों ने अर्द्ध-प्रामाणिक माना है। इस वितंडावाद से रासोकार का व्यक्तित्व नितान्त धूमिल हो गया है।

परंपरागत तौसी चंद को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि ये पृथ्वीराज के साथ वि.स. 1206 में पैदा हुए थे। ये जगाति गोत्र के भट्ट ब्राह्मण थे और इनका जन्म लाहौर में हुआ। जालंधरी इनकी इष्ट देवी थीं। जिनकी कृपा से चंद अदृश्य काव्य तक का भी निर्माण कर सकते थे। चंद पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं थे, अपितु सखा और सामन्त भी थे। षट्-भाषा-व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंद-शास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि में ये पूर्णतया दक्ष थे। इनका जीवन पृथ्वीराज से एकमात्र अभिन्न था। ये सभा, युद्ध, आखेट तथा यात्रादि में सदा महाराज के साथ रहा करते थे। जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज चौहान को बंदी बनाकर गजनी ले गया तब चंद भी वहाँ पहुँचे और रासो का लेखन-कार्य अपने पुत्र जल्हण को सौंप गए—

पुस्तक जल्हण हत्थ दें चलि गज्जन नृप काज।

गजनी पहुँचकर चंद ने सम्राट चौहान को मुक्त करवाने के लिए पृथ्वीराज द्वारा शब्दबेधी बाण चलाने की योजना बनाई। पृथ्वीराज ने चंद के संकेत पर बाण चलाकर गोरी का काम तमाम कर दिया, तत्पश्चात् चंद और पृथ्वीराज ने कटार मारकर आत्मोत्सर्ग किया।

कई विद्वानों ने चंद के पूर्व पुरुषों को मगध से आया हुआ बताया है किंतु रासो में लिखा है कि चंद का जन्म लौहार में हुआ। कहते हैं कि चंद पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर का दरबारी और पीछे पृथ्वीराज का मंत्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और, वहीं बहुत-सी भूमि चंद को दी थी। नागौर में अब तक भी चंद के वंशज रहते हैं।

इधर प्रो. वूलर आदि विद्वानों ने चंद के अस्तित्व को मानने से बिलकुल इंकार कर दिया है। प्रो. महोदय का कथन है कि जयनक रचित पृथ्वीराज विजय नामक संस्कृत काव्य में पृथ्वीराज की राज-सभा का वर्णन किया है पर उसमें चंद का कहीं भी नाम नहीं है। उसमें पृथ्वीराज के दरबारी बंजीन पृथ्वी भट्ट का उल्लेख है।

तनयश्चंद्रराजस्य चंद्रराज इवाभवत्।

संग्रहं यः सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यथाजात्॥

पृथ्वीराज विजय के उपरोक्त श्लोक के आधार पर चंद्रराज नामक किसी कवि का होना तो सिद्ध होता है, पर यह नाम चंदबरदायी का सूचक नहीं। ओझा जी ने भी इसे चंद्रक कवि का सूचक बताया है जिसका उल्लेख काश्मीरी कवि क्षेमेंद्र ने भी किया है। इसी तथ्य की पुष्टि कुछ-एक शिलालेखों से भी हो जाती है। उनमें चंद का कहीं भी उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त 15वीं सदी में रचित हम्मीर महाकाव्य में चौहान वंश का वर्णन तो है पर चंद का नाम भी नहीं है। इसी प्रकार उस समय में लिखित ‘रंभामंजरी’ नामक नाटकों में रासो या चंद का कहीं भी उल्लेख नहीं है। उक्त तथ्यों के आधार पर ही चंद की अस्तित्वहीनता स्वीकार करना संगत प्रतीत नहीं होता। किसी ग्रंथ अथवा शिलालेख में अन्य कवि का नाम न होना कोई प्रबल तर्क नहीं है। ईर्ष्यावश या किसी अन्य कारणवश उसका उल्लेख न किया जाना नितान्त संभव है। दूसरी बात यह भी है कि जयनक या हम्मीर महाकाव्यकार कोई इतिहास प्रस्तुत नहीं कर रहे थे। बाण ने अपनी कादम्बरी में अनेक कवियों को श्रद्धांजलि अर्पित की है पर फिर भी कुछ-एक कवियों का वहाँ उल्लेख नहीं है किंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि संस्कृत साहित्य में कवि है ही नहीं। सच तो यह है कि हमारे यहाँ कुछ मिथ्या और निरर्थक मान्यताएँ और धारणाएँ चल निकली हैं जैसे रामायण के राम और रावण आदि पात्र एकमात्र कल्पित हैं, कौटिल्य एवं चाणक्य सर्वथा कल्पित (Mythical) है। अस्तु! प्रबंध संग्रहों के संपादक मुनि जिनविजय ने लिखा है—“इससे यह प्रमाणित होता है कि चंद कवि निश्चयतः एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिंदू सम्राट पृथ्वीराज का समकालीन और

उसका सम्मानित राजकवि था। उसी ने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिए देशव्यापी प्राकृत भाषा में एक काव्य रचना की थी जो पृथ्वीराज रासो के नाम से प्रसिद्ध हुई।”



नोट्स परंपरागत तौसी चंद को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं।

चंदबरदायी ने षड्-भाषा कुरान तथा पुराणों के ज्ञाता होने का दावा किया है....षड्-भाषा कुरानच पुराण विदित मया। वर्णरत्नाकर के लेखक ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने षड्-भाषाओं के अंतर्गत संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट, पैशाची, शौरसेनी तथा मागधी का उल्लेख किया है। उनके अनुसार-शकारी, आभारी, चांडाली, सावली, द्राविड़ी, औत्कलि और विजातीया ये सात उपभाषाएँ हैं। (वर्णरत्नाकर पृ. 44) हमारा अनुमान है कि चंदबरदायी को उपर्युक्त भाषाओं का विशिष्ट ज्ञान था और यह कोई अजब बात नहीं कि पृथ्वीराज रासो अपने मूल रूप में प्राकृत-भाषा में या तत्संबंधी-अपभ्रंशों में प्रणीत हुआ हो तथा बाद में उसकी भाषा में आवश्यकतानुसार परिवर्तन की प्रक्रिया चलती रही हो।

शताब्दियों से चली आई चंदबरदायी विषयक जनश्रुति-परंपरा को एकमात्र कपोल-कल्पित नहीं कहा जा सकता है। निःसंदेह चंद की जीवनी के संबंध में जितनी सामग्री उपलब्ध है, वह नितान्त विश्वसनीय एवं संतोषजनक नहीं। इस संबंध में विशेष अनुसंधान की आवश्यकता है।



क्या आप जानते हैं? चंदबरदायी ने षड्-भाषा कुरान तथा पुराणों के ज्ञाता होने का दावा किया है।

10.2 पृथ्वीराज रासो के विभिन्न संस्करण और उसका उद्धारण

पृथ्वीराज रासो के कई संस्करण मिलते हैं जिनमें मुख्य निम्न हैं—

(क) **वृहत् रूपांतर**—इसकी कई प्रतियाँ उदयपुर राज्य के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं तथा इसके आधार पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित संस्करण तैयार किया गया था। इसकी सभी उपलब्ध प्रतियाँ सं. 1750 के पश्चात् की हैं। वैसे नागरी प्रचारिणी सभा वाले संस्करण का आधार सं. 1642 की प्रति को बताया जाता है। इसमें 69 समय (सर्ग) हैं तथा 16306 छंद हैं।

(ख) **मध्यम रूपांतर**—इसकी कुछ प्रतियाँ अबोहर के साहित्य सदन, बीकानेर के जैन ज्ञान भंडार और श्रीयुत अगरचंद नाहटा के पास सुरक्षित हैं। पं. मथुराप्रसाद दीक्षित ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है। इसकी छंद संख्या सात हजार है तथा इसकी सब उपलब्ध प्रतियाँ सं. 1700 के पश्चात् की हैं।

(ग) **लघु रूपांतर**—इसकी तीन प्रतियाँ बीकानेर राज्य के अनूप संस्कृत पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। यह 19 सर्गों में विभाजित है तथा श्लोक संख्या 3500 हैं। इनमें से कुछ प्रतियों के अंत में ऐसी पंक्तियाँ हैं जिनसे पता चलता है कि इस संस्करण का संकलन किसी चंद्रसिंह नामक व्यक्ति द्वारा हुआ था।

(घ) **लघुतम रूपांतर**—यह संस्करण श्री अगरचंद नाहटा द्वारा खोजा गया था। इसमें अध्यायों का विभाजन नहीं है तथा श्लोक संख्या 1300 हैं। डॉ. दशरथ शर्मा ने इसी संस्करण को प्रामाणिक माना है।

उद्धारण कार्य—रासो के उद्धारण कार्य में तीन व्यक्तियों का नाम लिया जाता है—(क) झल्लर (जल्हन), (ख) चंद्रसिंह (ग) अमरसिंह।

(क) झल्लर या जल्हन कवि चंदबरदायी का पुत्र था। गजनी जाते समय चंद अपने पुत्र जल्हन को रासो को पूरा करने का आदेश दे गये थे—

पुस्तक जल्हन हथ्य दै चलि गज्जन नृप काज।

भारतीय साहित्य में यह कोई नई बात नहीं। कवि बाण की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र ने कादम्बरी का उत्तरार्द्ध भाग लिखकर उसे पूर्ण किया था। जल्हन की उद्धर्ता न समझकर कर्ता ही समझना चाहिए।

नोट

(ख) चंद्रसिंह—रासो के लघुरूपांतर में 'चंद्रसिंह उद्धरिय इम' यह पाठ उपलब्ध होता है। यह चंद्रसिंह कौन है इसका उत्तर डॉ. उदयनारायण तिवारी अपनी पुस्तक 'वीर' काव्य संग्रह में देते हुए लिखते हैं—“चौदसिंह अथवा चंद्रसिंह महाराजा मानसिंह के छोटे भाई तथा अकबर के सेनापति सूरजसिंह के पुत्र थे। इस प्रकार चंद्रसिंह मानसिंह का भतीजा था।”

(ग) अमरसिंह—अमरसिंह द्वितीय भी रासो के उद्धर्ता माने जाते हैं। इनका शासनकाल सं. 1775 से 1808 है। इसके उद्धार कार्य को प्रमाणित करने के लिए निम्न दोहा उपस्थित किया जाता है—

छन्द प्रबन्ध कवित्त यति, साटक शाह दुहत्थ।

लघु गुरु मंडित खँडि यह पिंगल अमर भरत्थ॥

10.3 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

प्रारंभ में रासो को एक प्रामाणिक ग्रंथ समझा गया। कर्नल टाड ने इसे प्रामाणिक समझकर इसके साहित्यिक सौंदर्य पर मुग्ध होकर इसके लगभग तीस हजार पद्यों का अंग्रेजी अनुवाद किया था। फ्रेंच विद्वान गार्सा द तॉसी ने भी इसे प्रामाणिक माना था। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने तो इसका प्रकाशन भी आरंभ कर दिया था, किंतु इसी बीच 1875 ई. में डॉ. वूलर को काश्मीर में जयनक रचित 'पृथ्वीराज विजय' नामक संस्कृत काव्य उपलब्ध हुआ। ऐतिहासिकता की दृष्टि से इस ग्रंथ में वर्णित घटनायें उसे रासो की अपेक्षा शुद्ध प्रतीत हुई। ऐसी स्थिति में प्रो. वूलर को रासो की प्रामाणिकता पर संदेह हुआ और उसने उसका प्रकाशन कार्य स्थगित करवा दिया। वैसे तो रासो की प्रामाणिकता पर संदेह करने वाले सर्वप्रथम व्यक्ति जोधपुर के कविराज मुरारीदीन तथा उदयपुर के कविराज श्यामलदास थे किंतु डॉ. वूलर के संदेहपूर्ण दृष्टिकोण से अन्य भारतीय विद्वानों को इस दिशा में काफी प्रेरणा मिली, जिनमें गौरीशंकर हीराचंद्र ओझा विशेष उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अकाद्यों युक्तियों से रासो को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इधर डॉ. दशरथ शर्मा ने ओझा जी की तमाम शंकाओं को निर्मूल सिद्ध करने के लिए तथा रासो को प्रामाणिक ग्रंथ सिद्ध करने के लिए उल्लेखनीय प्रयत्न किये हैं। सच यह है कि हिंदी साहित्य में रासो की प्रामाणिकता का प्रश्न आज तक विवादास्पद बना हुआ है। कुछ आलोचक रासों को नितान्त अनैतिहासिक मानते हैं जबकि कुछ विद्वान इसे सर्वथा प्रामाणिक मानते हैं। इस संबंध में विद्वानों का तीसरा वर्ग रासो की अर्द्ध-प्रामाणिक रचना मानता है। चौथा वर्ग ऐसा है जो चंद को पृथ्वीराज का समकालीन तो मानता है पर इनके मतानुसार चंद ने रासो की रचना नहीं की। रासो के आलोचकों के ये चार वर्ग निम्नलिखित हैं—

प्रथम वर्ग—रासो को सर्वथा अप्रामाणिक मानता है। यह वर्ग चंद के अस्तित्व को तथा रासो को पृथ्वीराज की समकालीन रचना भी नहीं मानता। इस पक्ष के समर्थक हैं कविराज श्यामलदास, कविराज मुरारीदास, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डॉ. वूलर, मारिसन, मुंशी देवी प्रसाद, श्री अमृतलाल शील, श्री रामचंद्र शुक्ल तथा डॉ. रामकुमार वर्मा।

द्वितीय वर्ग—यह वर्ग रासो के वर्तमान रूप को प्रामाणिक तथा चंद को पृथ्वीराज का समकालीन मानता है। इस पक्ष के समर्थक हैं—श्यामसुंदरदास, मथुराप्रसाद दीक्षित, मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या, मिश्रबंधु तथा मोतीलाल मेनारिया आदि। इनमें कुछ रासो में प्रक्षिप्त अंशों का बहुत बड़ी संख्या में होना मानते हैं।

तृतीय वर्ग—यह वर्ग मानता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चंद नामक कवि था जिसने रासो लिखा था किंतु वह मूल रूप में अप्राप्य है। आज उसका परिवर्तित एवं विकृत रूप उपलब्ध होता है। इस पक्ष के समर्थक हैं—डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी, मुनि जिनविजय, अगरचंद नाहटा, डॉ. दशरथ शर्मा, कविराज मोहनसिंह और हजारीप्रसाद। ये विद्वान रासो को अर्द्ध-प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं।

चतुर्थ वर्ग—यह वर्ग मानता है कि चंद पृथ्वीराज का समकालीन था परंतु उसने प्रबंध रूप में रासो की रचना नहीं की। जैन ग्रंथशाला में प्राप्त पदों को उसकी फुटकर रचना मानता है। नरोत्तम स्वामी का यही मत है।

रासो की अप्रामाणिकता के कारण—रासो को अप्रामाणिक मानने के मुख्यतः तीन कारण हैं—(क) घटना वैषम्य, (ख) काल वैषम्य, (ग) भाषा संबंधी अव्यवस्था।

(क) घटना वैषम्य—रासो में दिये गये अनेक नाम तथा घटनायें इतिहाससम्मत नहीं हैं। उदाहरणार्थ—

1. रासो में परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रिय अग्निवंशी माने गए हैं जबकि प्राचीन ग्रंथों और शिलालेखों के आधार पर ये सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं।

- चौहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्र का नाम, सामंतों का नाम आदि ऐतिहासिक शिलालेखों तथा पृथ्वीराज विजय नामक ग्रंथ से मेल नहीं खाते। पृथ्वीराज की माँ अनंगपाल की लड़की नहीं थी और न ही जयचंद अनंगपाल का दौहित्र तथा राठौरवंशी था। शिलालेखों में उसे गहरवार क्षत्रिय बताया गया है।
- ओझा जी ने पृथ्वीराज तथा जयचंद की शत्रुता तथा संयोगिता स्वयंवर की बात को भी अनैतिहासिक कहा है।
- इतिहास के अनुसार अनंगपाल उस समय दिल्ली का राजा नहीं था और न ही पृथ्वीराज को उसने गोद लिया था। पृथ्वीराज अजमेर का शासक था न कि दिल्ली का। बीसलदेव पहले से ही दिल्ली राज्य को अजमेर राज्य में सम्मिलित कर चुके थे।
- पृथ्वीराज की माँ का नाम कर्पूरदेवी था, न कि कमला; जैसा रासो में वर्णित है।
- पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राजा समरसिंह से नहीं हुआ था क्योंकि शिलालेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि समरसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् 109 वर्ष तक जीवित रहे।
- गुजरात के राजा भीमसिंह का पृथ्वीराज द्वारा वध भी अनैतिहासिक है, क्योंकि राजा भीमसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् 50 वर्ष तक जीवित रहे थे। भीमसिंह पृथ्वीराज के समय बालक ही था।
- शहाबुद्दीन का मृत्यु संबंधी इतिवृत्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है, क्योंकि गोरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथों नहीं, गख्खरों के हाथों से हुई।
- रासो में पृथ्वीराज के 11 वर्ष से लेकर 36 वर्ष तक की आयु तक चौदह विवाहों का वर्णन है जबकि इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गई थी। अतः इतने विवाह असंभव हैं।
- शहाबुद्दीन द्वारा समरसिंह का वध और पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध इतिहास विरुद्ध है।

(ख) काल वैषम्य—रासो में दी गई तिथियाँ तथा संवत् भी अशुद्ध हैं। कर्नल टाड के अनुसार रासो में दिये गए संवत् तथा दूसरे ऐतिहासिक संवत्तों में सौ वर्ष का अंतर है।

- रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु का संवत् 1158 है जबकि इतिहास से वह संवत् 1148 है। पृथ्वीराज का जन्म रासो में सं. 1115 है। इतिहास से वह 1220 ठहरता है।
- आबू पर भीम चालुक्य का आक्रमण शहाबुद्दीन के साथ पुराडोर युद्ध की तिथियाँ भी अशुद्ध हैं।
- पृथ्वीराज की जीवन घटनाएँ—उसका दिल्ली जाना, मेवाती मुगल युद्ध, संयोगिता-स्वयंवर आदि घटनाओं का सं. 1460 के आसपास रचित हम्मीर महाकाव्य में कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है।
- रासो के अनुसार शहाबुद्दीन गौरी संवत्-1219 में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था परंतु इतिहास के अनुसार सं. 1263 में गख्खरों के द्वारा उसका वध किया गया था।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रासो एक जाली ग्रंथ है। यदि चंदबरदाई पृथ्वीराज का समकालीन होता और रासो उसकी कृति होती तो कदाचित् इतनी भयंकर भूलें न होतीं। इस विषय में आचार्य शुक्ल लिखते हैं—“इस संबंध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि यह ग्रंथ पूरा जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर चंद के कुछ पद्य भी बिखरे हों। पर उनका पता लगाना असंभव है। यदि किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और इसमें कुछ संवत् तो ठीक होते।”

(ग) भाषा-संबंधी अव्यवस्था—रासो में अरबी फारसी के बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है जो चंद के समय किसी भी प्रकार प्रयोग में नहीं लाये जा सकते थे। इस प्रकार रासो की भाषा चंद के समय की न होकर सोलहवीं शताब्दी की ठहरती है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने इसी आधार पर इसे सोलहवीं शती की रचना माना है। आचार्य शुक्ल का इस संबंध में कहना है, “यह ग्रंथ (पृथ्वीराज रासो) ने तो भाषा के इतिहास और न ही साहित्य के जिज्ञासुओं के काम का है।”

रासो को प्रामाणिक मानने वालों का मत—रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। इसमें बहुत कुछ प्रक्षेप होने के कारण इसका रूप विकृत जरूर हो गया है, पर इस विशाल ग्रंथ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चित रूप से साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। रासो के लघुतम संस्करण

नोट

में प्रक्षेप अधिक संख्या में नहीं हैं। मुनि जिनविजय का कहना है कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था और उसकी भाषा अपभ्रंश थी। ए. के. चटर्जी का भी ऐसा ही विश्वास है। क्योंकि 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में रासो के चार छंद ऐसे मिले हैं, जो रासो की लघुतम प्रतियों में भी हैं। यह प्रति लगभग पंद्रहवीं शताब्दी की मानी गई है। डॉ. हजारीप्रसाद का मत है, "इन पद्यों के प्रकाशन के बाद अब इस विषय में किसी को संदेह नहीं रह गया है कि चंद नामक कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रंथ भी लिखा है। सौभाग्य रासो में भी ये कुछ छंद कुछ विकृत रूप में प्राप्त हो गए हैं। इस पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रासो में चंद के मूल छंद अवश्य मिले हुए हैं।"

डॉ. दशरथ शर्मा ने रासो पर आरोपित शंकाओं का खंडन करते हुए कहा है—

1. मूल रासो न तो जली ग्रंथ है और न उसकी रचना सं. सोलह सौ के आसपास हुई थी। इधर मिली हुई रासो की लघुतम प्रतियों के आधार पर घटना वैषम्य, काल वैषम्य एवं भाषा संबंधी अव्यवस्थाओं का निराकरण हो जाता है। इन प्रतियों में इतिहास विषयक त्रुटिपूर्ण घटनाओं का कहीं भी उल्लेख नहीं है।
2. राजपूत कुलों की आबू के अग्निकुंड से उत्पत्ति का उल्लेख भी इस प्रति में नहीं है। उसमें केवल इतना लिखा है कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान मानिक राय उत्पन्न हुआ। सुर्जन-चरित्र, हम्मीर काव्य और पुष्कर तीर्थ में भी यह कथा इसी प्रकार है।
3. ओझा जी के अनुसार रासो की अशुद्ध वंशावली का यह विस्तार बीकानेर की लघुतम प्रति में नहीं है। पृथ्वीराज विजय में और इस प्रति की वंशावली में कुछ ही नामों का अंतर है।
4. अनंगपाल और पृथ्वीराज के संबंध की अशुद्धि इस प्रति में भी है। शर्मा जी उसका कोई कारण नहीं बता सके।
5. संयोगिता-स्वयंवर का वर्णन सभी प्रतियों में विस्तारपूर्वक है। लघुतम प्रति में केवल इच्छिनी के विवाह का वर्णन है।
6. पृथा का विवाह तथा शहाबुद्दीन-समरसिंह युद्ध और भीम-सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज और सोमेश्वर के युद्ध का इस प्रति में कहीं उल्लेख नहीं। उसमें पृथ्वीराज और पद्मावती के विवाह की कथा भी नहीं है।
7. लघुतम प्रति में कैमास-वध का वर्णन है। पृथ्वीराज विजय के अनुसार वह पृथ्वीराज का प्रधान था। वह मूल रासो की कथा है।

डॉ. दशरथ शर्मा का कहना है कि रासो की अप्रामाणिकता के संबंध में दी गई सब युक्तियाँ हेत्वाभास हैं। वे आगे लिखते हैं—

“सारांश यह कि अपने मूल रूप में रासो की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि बीकानेर की प्रति से भी रासो की पुरानी प्रति को खोज निकाला जाये। यदि रासो की प्राचीनतम प्रति मिल जाये तो उसमें निश्चित रूप से सुर्जन-चरित में उद्धृत बातें मिलेंगी, क्योंकि यह संस्कृत में रासो का सारांश है।”

इधर काल-वैषम्य का समाधान करते हुए पं. मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने 'अनंद' संवत् की कल्पना की है। अनंद अर्थात् अ=शून्य (0) और नंद=नौ (9) के अंक जोड़ने से 90 वर्ष का व्यवधान सभी तिथियों में ठीक बैठता है। पर ओझा जी का कहना है कि राजस्थान में विक्रम संवत् का प्रचलन रहा है। अतः इस काव्य में भी संवत् का व्यवहार होना चाहिए था। अस्तु पृथ्वीराज का दरबारी कवि जयनक कश्मीरी था और वह संस्कृत का कवि था। उसके द्वारा चंदबरदायी के अनुल्लेख से पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती है। सबसे पहली बात तो यह है कि जयनक ने कदाचित् कवि सुलभ सहज ईर्ष्यावश ऐसा किया हो या यह भी संभव है कि प्राचीन काल के छोटे-छोटे राज्यों में भाषा कवि को संस्कृत कवियों के सम्मुख अत्यंत गौण स्थान मिला करता था। वे साधारण-भाट या चारण-कवि से अधिक सम्मान के पात्र नहीं समझे जाते थे। वह अनुमान है कि बेचारे चंदबरदाई की भी संस्कृत कवि के सामने दयनीय स्थिति रही होगी। संस्कृत पंडितों के द्वारा तत्कालीन भाषा कवि को तुच्छ और नगण्य समझा गया। लोक में वे भाट की संज्ञा से अभिहित किये जाते थे। संभवतः ऐसे भाट कवि अपनी प्रतिभा का विशेष सम्मान प्राप्त न करके प्रशस्तिपरक अतिशयोक्तियों द्वारा आश्रयदाता को रिझाकर जीवनयापन करते रहे हों।

डॉ. हजारीप्रसाद ने रासो को अर्द्धप्रामाणिक रचना स्वीकार किया है। उनका कहना है कि इस रासो का काव्य रूप दसवीं शताब्दी के साहित्य के काव्य रूप से समानता रखता है। इसकी संवाद-प्रवृत्ति और रासो-प्रवृत्ति और

कीर्तिपताका और संदेश रासक से साम्य रखती हैं। इसमें सभी प्राचीन कथानक रूढ़ियों का सुंदर निर्वाह हुआ है। 12वीं शती की भाषा की संयुक्ताक्षरमय अनुस्वारान्त प्रवृत्ति इसमें उपलब्ध होती है। रासो विशुद्ध रूप से इतिहास ग्रंथ नहीं है प्रत्युत काव्यग्रंथ है। हर्षचरित का समान रासो में भी यत्र-तत्र दैवी शक्ति का आरोप है। वस्तुस्थिति यह है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में इतिहास को सीमित भौतिक अर्थ में ग्रहण न करके उसे व्यापक सांस्कृतिक रूप में ग्रहण किया गया। उसमें तथ्यों (facts) और कल्पना (fiction) का अद्भुत सम्मिश्रण है तथा निजधरी कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। इसके साथ उसमें संभावनाओं पर अधिक बल है। डॉ. हजारीप्रसाद का विचार है कि रासो की रचना शुक-शुकी के संवाद के रूप में हुई थी अतः जिन सर्गों का आरंभ शुक-शुकी संवाद से होता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिए। इस आधार पर आपने निम्नांकित सभी को प्रामाणिक मानने का सुझाव दिया है—(1) प्रारंभिक अंश, (2) इच्छिनी का विवाह, (3) शशिव्रता का गंधर्व-विवाह, (4) तोमर पाहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, (5) संयोगिता का विवाह, (6) कैमास-वध, (7) गोरी-वध संबंधी इतिवृत्त। रासो के संबंध में डॉ. नामवरसिंह की भी उपर्युक्त मान्यता है। उनका कहना है कि शुक का दौत्य कार्य, नायिका की अप्सरा का अवतार कहना, महादेव के मंदिर में नायक-नायिका का मिलना, सिंहलद्वीप, फल द्वारा संतान की उत्पत्ति, लिंग परिवर्तन आदि बातें अनैतिहासिकता की द्योतक नहीं बल्कि कथानक रूढ़ि के निर्वाह की सूचक हैं। पृथ्वीराज रासो ऐसी रूढ़ियों का कोश है।...इनमें से कितनी चंद द्वारा नियोजित हैं और कितनी दूसरों के द्वारा इसको अलग कर पाना खेल नहीं है।”

डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने डॉ. हजारीप्रसाद के मत की आलोचना करते हुए लिखा है कि प्रक्षेपकारों ने भी शुक-शुकी के संवाद से प्रक्षिप्त सर्गों की रचना न की होगी, इसका क्या प्रमाण है? जिन सर्गों को द्विवेदी जी ने प्रामाणिक माना है उनमें भी संभाव है, प्रक्षिप्त अंश हों।

रासो की भाषा संबंधी गड़बड़ी का समाधान करते हुए रासो की प्रामाणिकता के समर्थकों का कहना है कि उस समय मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हो गये थे। अतः लाहौर का निवासी होने के कारण चंद की भाषा में उन शब्दों का प्रयोग उचित और तर्कसंगत है। यदि अरबी-फारसी के शब्दों के आधार पर रासो अप्रामाणिक है तो सूर और तुलसी के काव्य भी अप्रामाणिक मानना पड़ेगा क्योंकि उसमें भी उर्दू और फारसी के शब्द उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार रासो की प्रामाणिकता के संबंध में अनेक मत प्रचलित हैं। हमारे विचारानुसार रासो सर्वथा अप्रामाणिक नहीं है। उसका मूल रूप अभी प्राप्त नहीं है। रासो का लघुतम संस्करण उसके मूल रूप से अधिक निकट है। हमारे कवि लोग जानबूझकर चरित नायक के गौरव की रक्षा के लिए ऐतिहासिक तथ्यों में परिवर्तन करते रहे हैं। चंद इसके अपवाद नहीं हैं। साथ ही यह भी मानना होगा कि बारहवीं शताब्दी तक हिंदी का विकास इतना अधिक नहीं हुआ था कि वह साहित्य में प्रयुक्त होती। अतः रासो का मूलतः अपभ्रंश में रचा जाना ही अधिक संभव है, अस्तु, रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता के विषय में हिंदी साहित्य में इतना अधिक कहा-सुना गया है कि एक साधारण पाठक हैरान रह जाता है कि वह इसे असली कहें या जाली? डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, “निरर्थक मंच से जो दुस्तर फेन राशि तैयार हुई है उसे पार करके ग्रंथ के साहित्यिक रस तक पहुँचाना हिंदी के विद्यार्थी के लिए असंभव-सा व्यापार हो गया है।”

रासो का काव्य-सौंदर्य—भले ही रासो की प्रामाणिकता के संबंध में विद्वानों में मतभेद है, किंतु इसकी साहित्यिक गरिमा को सबने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। रासो को चाहे एक सफल महाकाव्य कहा जाये अथवा विशालकाय काव्य कहा जाये, इन दोनों रूपों में इसका साहित्यिक सौष्ठव अक्षुण्ण है। इसमें प्रधानता: दो रस हैं—वीर और शृंगार और दोनों का सुंदर परिपाक हुआ है। पृथ्वीराज रणबांकुरा भी है और सलोना-लुभावना जवान भी। चंद ने शोभा एवं सौंदर्य के चित्रण में अपूर्व कल्पना-शक्ति से काम लिया है। डॉ. हजारीप्रसाद इस संबंध में लिखते हैं—“शोभा चाहे प्रकृति की हो या मनुष्य की हो, परंपरा प्रचलित रूढ़ उपमानों के सहारे ही निखरी है। अधीनस्थ सामंतों की स्वामिभक्ति और पराक्रम अत्यंत उज्ज्वल रूप में प्रकट हुए हैं।” पृथ्वीराज और जयचंद के विरोध का कारण चाहे संयोगिता अपहरण हो या न हो किंतु कवि ने रसरज की अभिव्यक्ति के लिए सुंदर प्रसंग ढूँढ़ निकाला है। युद्धों का मूल कारण किसी नारी को कल्पित करके जहाँ एक ओर प्रेम-चित्रण के प्रसंगों को खड़ा किया है यहाँ विशुद्ध द्वेष की अभिव्यक्ति को भी क्षीण नहीं होने दिया है। पृथ्वीराज का गोरी को बार-बार क्षमा कर देना भले ही इतिहाससम्मत न हो किंतु इससे नायक के चरित्र की उदारता का अभीष्ट प्रभाव पाठकों के हृदयपटल पर अंकित हो जाता है।

नोट

वर्णनात्मकता—वस्तु-वर्णन में रासोकार ने एक सफल कवि-हृदय का परिचय दिया है। नगर, उपवन, वन, सरोवर, दुर्ग, सेना और युद्ध आदि के वर्णन अनुपम बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ युद्ध का वर्णन देखिए—

न को हार नहि जित्त, रहे रहहिं सूरवर।

धर उप्पर धर परत करत, अनि युद्ध महाभर॥

इस प्रकार रासो में स्थिर तथा गतिशील दोनों प्रकार के दृश्यों का अंकन हुआ है।

भाव-व्यंजना—रासो में वीर और शृंगार रस की अभिव्यक्ति अत्यंत भव्य रूप से हुई है। वीर रस का एक दर्पपूर्ण चित्र फड़कती हुई ओजस्विनी भाषा में देखिए—

बज्जिय घोर निसान रान चौहान चहुं दिसि।

सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि॥

उटिट् राज पृथ्वी राज बाग लग्ग वीरनट।

कढ़त वेग मनोवेग लगत बीज झट्ट घट्ट॥

पद्मावती के सौंदर्य-चित्रण में शृंगार रस की छटा दर्शनीय बन पड़ी है—

मनहु कला ससभान कला सोलह सों बनिय।

बाल वैस ससि ता समीप अमृत रस पिनिय॥

विगसि कमल स्त्रिग भ्रमर धेनु खंजन प्रिग लुटिटय।

हीर कील अरु बिंब मोती नख-सिख अहि घुटिटय॥

छप्पनि गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै संचिय।

पद्मिनी रूप पद्मावतिय मनहु काम कामिनी रचिय॥

कवि चंद ने शृंगार रस के अन्य अंगों—वयःसंधि, यौवनागम्, अनुराग, प्रथम मिलन और ब्रीड़ा आदि का भी सुंदर वर्णन किया है।

वीर और शृंगार रस के अतिरिक्त अन्य रसों की अभिव्यंजना भी रासो में प्रसंगानुसार हुई है। रौद्र और भयानक रसों का चित्रण तो स्थान-स्थान पर है, कहीं-कहीं पर हास्य रस के भी सुंदर छींटे हैं। रासो में शांत रस का प्रायः अभाव है।

रासोकार ने भाव-सौंदर्य में वृद्धि के लिए अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, भ्रम, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों का भी सुंदर प्रयोग किया है। वैसे रासो जैसे विशाल काव्य में प्रायः सभी अलंकार मिल जाते हैं। इससे रासोकार का काव्य-शास्त्र के गढ़ ज्ञान का परिचय मिलता है।

रासो में 68 प्रकार के छंद पाए जाते हैं और कहीं-कहीं छंद परिवर्तन में अस्वाभाविकता भी आ गई है। कुछ भी हो, रासोकार में सर्वत्र एक महाकवि की सी प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यदि रासोकार वीर रस के मूल भाव की व्यक्तिगत राग-द्वेष पर आधारित न करके उसे व्यापक राष्ट्रीय चेतना पर आधारित करता तो अच्छा होता। दूसरे, रासो में वर्णित प्रेम-भाव में अभीष्ट गहनता भी नहीं आ पाई है। किंतु इन त्रुटियों के लिए चंद को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि वह युग संकुचित राष्ट्रीयता और सामंती विलासिता का था। वस्तुतः रासो और उसके कर्ता कवि चंद का महत्त्व हिंदी साहित्य में अक्षुण्ण है।

डॉ. विपिनबिहारी त्रिवेदी ने रासो और रासोकार का मूल्यांकन करते हुए निम्नांकित शब्दों में भले ही कुछ अतिशयोक्ति से काम लिया है फिर भी उसमें बहुत कुछ सत्य है—“हिंदी के आदि कवि चंदवरदाई (चिंद बलछिउ) का पृथ्वीराज रासो 12वीं शती के दिल्ली और अजमेर के पराक्रमी हिंदू सम्राट पृथ्वीराज चौहान तृतीय तथा उसके महान कान्यकुब्जेश्वर जयचंद, गहड़वाल, गुर्जरेश्वर, भीमदेव, चालुक्य और गजनी के अधिपति सुल्तान शहाबुद्दीन गोरी के राज्य, रीति-नीति, शासन-व्यवस्था, सैनिक, सेना, सेनापति, युद्ध-शैली, दूत, गुप्तचर, व्यापार मार्ग आदि का एक प्रमाण, समता-विषमता की शृंखलाओं से जुड़ा हुआ, ऐतिहासिक अनैतिहासिक वृत्तों से आच्छादित, पौराणिक कथाओं से लेकर कल्पित कथाओं का अक्षय तूणीर, प्राचीन काव्य-परंपराओं और नवीन का प्रतिपादक, भौगोलिक वृत्तों की रहस्यमय गुफा, सहस्रों हिंदू-मुस्लिम योद्धाओं के पराक्रम का मात्र-कोश, प्राकृत अपभ्रंशकालीन सार्थक अभिव्यंजना करने में सक्षम, सफल छंदों की विराट पृष्ठभूमि हिंदी गुजराती और राजस्थानी भाषाओं के संक्रांतिकालीन रचना, गौड़ीय भाषाओं की अभिसंधि का उत्कृष्ट निदर्शन, समकालीन युग का

सांस्कृतिक प्रमाण, उत्तर भारत का आर्थिक मानचित्र, विभिन्न मतावलम्बियों के दार्शनिक तत्वों का आख्याता तथा मानव की चित्तवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषक, यह अपने ढंग का एक अप्रतिम महाकाव्य है, परंतु हिंदी रचनाओं में संभवतः सबसे अधिक विवादग्रस्त है।”

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. कवि चंदबरदायी का पुत्र था।
2. भी रासो के उद्धर्ता माने जाते हैं।
3. में डॉ. वूलर को कश्मीर में जयनक रचित ‘पृथ्वीराज विजय’ नामक संस्कृतकाव्य उपलब्ध हुआ।
4. रासो में की अभिव्यक्ति अत्यन्त भव्य रूप से हुई है।

10.4 आदिकालीन रासो ग्रंथों की प्रामाणिकता और अस्तित्व

आदिकाल में रचित जिन कतिपय रासो ग्रंथों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है उनके विषय में कभी-कभी प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का प्रश्न खड़ा कर दिया जाता है। हम्मीर रासो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसके कुछ छंद प्राकृत पैंगलम् में मिलते हैं और इसी आधार पर इसका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। बीसलदेव रासो तथा परमाल रासो मूलतः गेय काव्य थे। अतः समय-समय पर इनके मूल रूपों में परिवर्तन और परिवर्द्धन प्रक्रिया निरंतर चलती रही। खुमान रासो में क्षेपकों की यह प्रक्रिया और भी जोरों से चली। पृथ्वीराज रासो के अनेक संस्करण मिलते हैं और आज तक भी यह समस्या बनी हुई है कि किस संस्करण को प्रामाणिक कहा जाये। निःसंदेह इन ग्रंथों के मूल रूप अथवा प्रामाणिक संस्करण नहीं मिल पाते हैं किंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इन ग्रंथों का प्रणयन आदिकाल में नहीं हुआ और उस समय इनका अस्तित्व नहीं था। निःसंदेह सभी रासो ग्रंथ सर्वांश में तो प्रामाणिक नहीं हैं किंतु इन्हें सर्वथा उत्तरकालीन प्रणीत मानकर सर्वथा अप्रामाणिक या अस्तित्वहीन भी नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में उक्त ग्रंथ कुछ अंशों में प्रामाणिक हैं और कुछ अंशों में अप्रामाणिक हैं। इनकी स्थिति रामायण, महाभारत तथा भास के नाटकों जैसी है। जैसे रामायण आदि में समय-समय पर परिवर्तन और परिवर्द्धन होते रहे हैं वैसे रासो ग्रंथों में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। रामायणादि में परिवर्तन की प्रक्रिया में भाषागत परिवर्तन नहीं हुआ जबकि रासो ग्रंथों में विषयगत परिवर्तन के साथ-साथ भाषागत परिवर्तन बड़ी क्षिप्र गति से हुआ और कभी-कभी तो यहाँ तक संदेह हो जाता है कि इनका प्रणयन कदाचित् पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में हुआ। अस्तु रासो ग्रंथों के आकार और रूपगत परिवर्तन के आधार पर इनके अस्तित्व संदिग्ध या इन्हें सर्वथा अप्रामाणिक समझना नितांत असमीचीन होगा। यदि आकार वृद्धि एवं रूप परिवर्तन की अप्रामाणिकता का निर्णायक तत्व स्वीकार कर लिया जाए तो फिर कबीर, सूर, मीरा तथा बिहारी आदि कवियों की रचनाएँ भी उक्त मानदंड पर पूरी नहीं उतर सकतीं, किंतु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अतः उक्त रासो ग्रंथों को आदिकालीन इतिहास की काल-सीमा में प्रणीत सामग्री के रूप में स्वीकार करना न्यायसंगत है। उपर्युक्त रासो ग्रंथ कुछ अंशों में प्रामाणिक हैं। निश्चय ही इनका सृजन आदिकाल में हुआ बाद में इनमें रूप व आकारगत परिवर्तनों की गति अबाध रूप से चलती रही।

10.5 ग्रहण व त्याग की समस्या

हिंदी के आदिकाल के साहित्य का प्रणयन संस्कृत तथा अपभ्रंश साहित्य के निर्माण के समानांतर हुआ। उस समय संस्कृत साहित्य के ज्योतिष, दर्शन व स्मृति ग्रंथों पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। संस्कृत की वृहत्त्रयी में परिगणित नैषध चरित जैसे महाकाव्य का निर्माण इसी काल में हुआ। शृंगार प्रकाश तथा सरस्वती कंठाभरण के लेखक भोजराज, साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ तथा क्षेमेंद्र जैसे आचार्य कवि, कुंतक और महिमभट्ट जैसे काव्यशास्त्री तथा जयदेव, सोमदेव तथा कल्हण जैसे सुकवि इसी काल में हुए। इसी समय में अपभ्रंश साहित्य के समर्थ कवि एवं आचार्य हेमचंद्र ने अपने साहित्य का प्रणयन किया। इसी समय में ही शुद्ध अपभ्रंश की रचनाएँ—पउम चरित, स्वयंभू-छंद, महापुराण, जसहर चरित, भविष्यत कथा तथा संदेश रासक आदि निर्मित हुईं। सौभाग्यवश इसी समय हिंदी के सिद्ध काव्य, नाथा साहित्य, श्रावकाचार, राउलवेल तथा भरतेश्वर बाहुबली रास

नोट

आदि ग्रंथ भी प्रणीत हुए जिनका अपभ्रंश भाषा भाग एक प्रभावी तत्त्व है और वे मूलतः हिंदी में ही लिखित हैं। इससे स्पष्ट है कि हिंदी का आदिकाल विविध साहित्य के प्रणयन की दृष्टि से एक संक्रमणकाल है। अब प्रश्न उठता है कि आदिकाल में रचित विविध काव्यों में से हिंदी साहित्य के अंतर्गत कौन से काव्यग्रंथ हैं और कौन से त्याज्य? उत्तर स्पष्ट है कि विशुद्ध अपभ्रंश भाषा में रचित काव्यों को हिंदी की परिधि में समेटना उचित नहीं है किंतु ऐसी रचनाएँ जिनमें अपभ्रंश भाषा एक प्रभावी तत्त्व के रूप से काम कर रही है, उन्हें निःसंकोच हिंदी में सम्मिलित कर लेना होगा। हिंदी के उत्तरोत्तर विकसित रूप के अध्ययन की दृष्टि से भी ऐसा करना वांछनीय है। चौसर आदि की अंग्रेजी आज की अंग्रेजी से रूपमाता दृष्टि से काफी भिन्न है किंतु उस पुरानी अंग्रेजी को आज की अंग्रेजी के रूपगत अध्ययन के लिए एक आवश्यक अभिनांश के रूप में ग्रहण किया जाता है।



टास्क

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रासो को कैसी रचना स्वीकार किया है?

इसी प्रकार पृथ्वीराज रासो आदि ग्रंथ आदिकाल की परिधि से बाहर नहीं हैं। मूलतः वे इसी काल में लिखे गए थे। बाद में उनमें रूप और आकारगत परिवर्तन आते रहे। मात्र परिवर्तन को यदि राज्य का निर्णायक तत्त्व मान लिया जाए तब कबीर, सूर तथा बिहारी आदि की रचनाएँ भी हिंदी साहित्य की परिधि से दूर जा पड़ेंगी।

आचार्य शुक्ल ने आदिकाल में रचित सिद्धों और नाथों के साहित्य को धार्मिक और सांप्रदायिक कहकर उसे शुद्ध रागात्मक साहित्य की कोटि में न रखने का तर्क देकर प्रकारान्तर से उक्त धर्मानुप्राणिता रचनाओं को हिंदी के आदिकालीन साहित्य की परिधि से बाहर रखने की सलाह दी है किंतु हमारे विचारानुसार आचार्य शुक्ल ने इन रचनाओं का मूल्यांकन करते समय न्याय नहीं किया है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने सिद्ध साहित्य को हिंदी में परिगणित करने के पक्ष में जोरदार शब्दों में लिखा है कि “सिद्ध साहित्य का महत्त्व इस बात में बहुत अधिक है कि इससे हमारे साहित्य की आदि रूप की सामग्री प्रामाणिक ढंग से प्राप्त होती है। सिद्ध व नाथ साहित्य में शताब्दियों से आने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक विचारधारा का स्पष्ट उल्लेख है।” आचार्य द्विवेदी के विचार इस विषय में और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं—“कई रचनाएँ जो मूलतः जैन धर्म भावना से प्रेरित होकर लिखी गई हैं, निःसंदेह उत्तम काव्य हैं और हमीर रासो की भाँति हों। साहित्यिक इतिहास के लिए स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बौद्ध सिद्धों की रचनाओं के बारे में कही जा सकती है।” केवल धार्मिक या सांप्रदायिक होने से किसी रचना को सगात्मक साहित्य की कोटि से बहिर्भूत नहीं किया जा सकता। तुलसी का रामचरितमानस तथा सूर का सूरसागर धर्म एवं संप्रदाय की भावनाओं से अनुप्राणित होते हुए भी उत्तमोत्तम साहित्य का निदर्शन है। अतः सिद्ध व नाथ साहित्य, श्रावकाचार तथा धरतेश्वर बाहुबली-रास एवं रासो आदि ग्रंथों को आदिकाल के साहित्य की सामग्री मानना न्यायसंगत है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. रासो में प्रकार के छंद पाए जाते हैं।

(क) 68	(ख) 78
(ग) 88	(घ) 98
6. रासो विशुद्ध रूप से इतिहास ग्रंथ नहीं है प्रत्युत है।

(क) लोकग्रंथ	(ख) काव्यग्रंथ
(ग) शृंगार ग्रंथ	(घ) इनमें से कोई नहीं
7. रासो में पृथ्वीराज के जन्म का संवत् है।

(क) 1115	(ख) 1215
(ग) 1315	(घ) 1415

8. रासो के अनुसार शहाबुद्दीन गोरी में पृथ्वीराज द्वारा मारा गया था।

नोट

(क) संवत् 1219

(ख) संवत् 1119

(ग) संवत् 1319

(घ) संवत् 1419

10.6 सारांश (Summary)

- हिंदी साहित्य में रासो की प्रामाणिकता का प्रश्न आज तक विवादास्पद बना हुआ है। कुछ आलोचक रासो को नितान्त अनैतिहासिक मानते हैं जबकि कुछ विद्वान इसे सर्वथा प्रामाणिक मानते हैं। इस संबंध में विद्वानों का तीसरा वर्ग रासो की अर्द्ध-प्रामाणिक रचना मानता है। चौथा वर्ग ऐसा है जो चंद को पृथ्वीराज का समकालीन तो मानता है पर इनके मतानुसार चंद ने रासो की रचना नहीं की।
- रासो एकदम जाली पुस्तक नहीं है। इसमें बहुत कुछ प्रक्षेप होने के कारण इसका रूप विकृत जरूर हो गया है, पर इस विशाल ग्रंथ में कुछ सार भी अवश्य है। इसका मूल रूप निश्चित रूप से साहित्य और भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।
- रासो के लघुतम संस्करण में प्रक्षेप अधिक संख्या में नहीं हैं। मुनि जिनविजय का कहना है कि रासो का मूल रूप अल्पकाय था और उसकी भाषा अपभ्रंश थी। ए. के. चटर्जी का भी ऐसा ही विश्वास है। क्योंकि 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में रासो के चार छंद ऐसे मिले हैं, जो रासो की लघुतम प्रतियों में भी हैं। यह प्रति लगभग पंद्रहवीं शताब्दी की मानी गई है।
- हिंदी के आदिकाल के साहित्य का प्रणयन संस्कृत तथा अपभ्रंश साहित्य के निर्माण के समानांतर हुआ। उस समय संस्कृत साहित्य के ज्योतिष, दर्शन व स्मृति ग्रंथों पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं। शृंगार प्रकाश तथा सरस्वती कंठाभरण के लेखक भोजराज, साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ तथा क्षेमेंद्र जैसे आचार्य कवि, कुंतक और महिमभट्ट जैसे काव्यशास्त्री तथा जयदेव, सोमदेव तथा कल्हण जैसे सुकवि इसी काल में हुए।
- पृथ्वीराज रासो आदि ग्रंथ आदिकाल की परिधि से बाहर नहीं हैं। मूलतः वे इसी काल में लिखे गए थे। बाद में उनमें रूप और आकारगत परिवर्तन आते रहे। मात्र परिवर्तन को यदि राज्य का निर्णायक तत्त्व मान लिया जाए तब कबीर, सूर तथा बिहारी आदि की रचनाएँ भी हिंदी साहित्य की परिधि से दूर जा पड़ेंगी।

10.7 शब्दकोश (Keywords)

स्वीकार्य	— स्वीकार करने योग्य
समकालीन	— एक ही समय का
सर्वदा	— हमेशा, निरन्तर

10.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

- पृथ्वीराज रासो के विभिन्न संस्करणों का वर्णन कीजिए।
- पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता का उल्लेख कीजिए।
- रासो को प्रामाणिक मानने वालों का मत व्यक्त कीजिए।
- रासो के काव्य-सौंदर्य का विवेचन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|----------|--------------------|------------|---------------------|
| 1. जल्हण | 2. अमरसिंह द्वितीय | 3. 1875 ई. | 4. वीर और शृंगार रस |
| 5. (क) | 6. (ख) | 7. (क) | 8. (क) |

10.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



- हिंदी साहित्य का इतिहास - श्यामचन्द्र कपूर, प्रभात प्रकाशन।

पुस्तकें

इकाई-11: पृथ्वीराज रासो की अप्रामाणिकता/अर्द्धप्रामाणिकता

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 अप्रामाणिकता के लिए तर्क

11.2 काव्योत्कर्ष

11.3 सारांश (Summary)

11.4 शब्दकोश (Keywords)

11.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

11.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- अप्रामाणिकता के तर्क जानने में।
- काव्योत्कर्ष जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

वस्तुतः आरम्भ में यह ग्रन्थ विवादास्पद नहीं था। कर्नल टॉड ने इसकी वर्णन-शैली तथा काव्य-सौन्दर्य पर रीझकर इसके लगभग 30 हजार छन्दों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। तासी भी इसकी प्रामाणिकता में सदेह नहीं करते थे। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने इस ग्रन्थ का मुद्रण भी आरम्भ कराया था। सन् 1875 ई. में डॉ. बूलर ने 'पृथ्वीराज विजय' ग्रन्थ के आधार पर इसे अप्रामाणिक रचना घोषित किया। फलतः राजस्थान के कुछ इतिवृत्त-खेजियों-कविराजा मुरारिदान-श्यामलदान-गौरीशंकर-हीराचन्द ओझा आदि ने इस काव्य को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए सायास तर्क जुटाये। इन विद्वानों के तर्कों को निराधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया डॉ. दशरथ शर्मा ने। वस्तुतः यह विवाद इतना उलझ गया है कि अब तक कुछ विद्वान इसे अप्रामाणिक कृति सिद्ध करने में जुटे हुए हैं। वे एतदर्थ नये-नये तर्क खोजते रहते हैं। कुछ विद्वान ऐसे भी हैं, जो उनके द्वारा खोज गये तर्क को निराधार सिद्ध करने के लिए सामग्री जुटाते रहते हैं।

11.1 अप्रामाणिकता के लिए तर्क

जो लोग 'रासो' को अप्रामाणिक रचना मानते हैं, उनके तर्क निम्नलिखित हैं:

- (1) 'रासो' में उल्लिखित घटनाएँ और नाम इतिहास से मेल नहीं खाते। इसमें परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रियों को अग्निवंशी माना गया है जबकि वे सूर्यवंशी प्रमाणित हुए हैं।
- (2) पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, संयोगिता-स्वयंवर आदि घटनाएँ इतिहास से मेल नहीं खातीं।
- (3) अनंगपाल पृथ्वीराज तथा बीसलदेव के राज्यों के सन्दर्भ भी अशुद्ध हैं।
- (4) पृथ्वीराज की माँ का नाम कर्पूरी था, जो 'रासो' में कमला बताया गया है।

नोट

- (5) पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राणा समरसिंह के साथ बताया गया है, जो अशुद्ध है।
- (6) पृथ्वीराज द्वारा गुजरात के राजा भीमसिंह का वध भी इतिहास-सम्मत नहीं है।
- (7) 'रासो' में पृथ्वीराज के चौदह विवाहों का वर्णन है, जो इतिहास से मेल नहीं खाता।
- (8) पृथ्वीराज के हाथों गोरी की मृत्यु की सूचना भी इतिहास-सम्मत नहीं है।
- (9) पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध भी इतिहास-सम्मत नहीं है।
- (10) 'रासो' में दी गई तिथियाँ अशुद्ध हैं। सभी तिथियों में इतिहास की तिथियों से प्रायः 90-100 वर्षों का अन्तर है।



नोट्स रासो में वर्णित घटनाएँ और नाम इतिहास से मेल नहीं खाते।

यदि उपर्युक्त तथ्यों को ही अन्तिम प्रमाण मान लिया जाये, तब तो 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक रचना ही कहा जा सकता है, किन्तु दूसरे पक्ष के तर्क भी इस सम्बन्ध में विचारणीय हैं:

- (1) डॉ. दशरथ शर्मा का मत है कि इसका मूल रूप प्रक्षेपों में छिपा हुआ है। इधर जो लघुतम प्रतियाँ मिली हैं, उनमें इतिहास सम्बन्धी अशुद्धियाँ नहीं हैं।
- (2) घटनाओं में 90-100 वर्षों का जो अन्तर है, वह संवत् की भिन्नता के कारण है। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने 'अनन्द संवत्' की कल्पना की है और उसके अनुसार तिथियाँ भी शुद्ध सिद्ध होती हैं।
- (3) डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'पृथ्वीराज रासो' में बारहवीं शताब्दी की भाषा की संयुक्ताक्षरमयी अनुस्वारान्त प्रवृत्ति मिलती है, जिससे यह बारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ सिद्ध होता है।
- (4) 'रासो' इतिहास-ग्रन्थ न होकर काव्य-रचना है, अतः उसमें इतिहास का सत्य खोजना और उसके न मिलने पर उसे अप्रामाणिक घोषित करना अनुचित है।
- (5) डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत भी है कि 'पृथ्वीराज रासो' की रचना शुक-शुकी-संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गों में यह शैली नहीं मिलती उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहिए। यदि यह तर्क मान लिया जाये तो वे ही अंश प्रायः प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं, जिनमें इतिहास-विरुद्ध तथ्य हैं।
- (6) जिन लोगों ने 'रासो' में अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग देखकर उसे जाली ग्रन्थ माना है, उसके विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि चन्द लाहौर का निवासी था। वहाँ उस समय मुसलमानों का प्रभाव पड़ चुका था, अतः उसकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का मिश्रण होना सहज है।



क्या आप जानते हैं? रासो में परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रियों को अग्निवंशी माना गया है।

वस्तुतः विद्वानों ने बाल की खाल निकालने की चेष्टा में अनेक ऐसे तर्क प्रस्तुत किये हैं, जो इस काव्य की प्रामाणिकता के लिए उचित कसौटी नहीं बन सकते। 'पृथ्वीराज रासो' ही नहीं 'रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'बीजक' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर भी यदि अनेक प्रकार के तर्क दिये जाएँ तो उनकी अप्रामाणिकता भी किसी-न-किसी सीमा तक सन्देह का विषय बन सकती है। 'रामचरितमानस' में तो प्रक्षिप्त अंश स्वीकार किये भी जाते हैं। कई ऐसे पद भी मिलते हैं, जो सूर और मीरा दोनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः प्रक्षिप्तांशों या इतिहास-विरोधी कथनों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। चन्द ने पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं का जैसा सजीव वर्णन किया है, उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि वह पृथ्वीराज का समकालीन कवि था। अतः 'रासो' को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। यदि इस विवाद में कोई सत्यांश झलकता भी है, तो वह इतना ही कि 'पृथ्वीराज रासो' में पर्याप्त प्रक्षिप्त अंशों का भी समावेश हुआ है।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. डॉ. दशरथ का मत है कि रासो का मूल रूप में छिपा हुआ है।
2. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'पृथ्वीराज रासो' की रचना के रूप में हुई थी।
3. 'रासो' न होकर काव्य रचना है।
4. कर्नल टॉड ने 'रासो' के लगभग का अंग्रेजी में अनुवाद किया है।

11.2 काव्योत्कर्ष

चन्दबरदायी ने इस ग्रन्थ में अनेक घटनाओं का समावेश किया है तथा कुछ घटनाएँ बाद में भी चारणों ने जोड़ी हैं, जिससे ऐसा लगता है कि यह काव्य एक घटना-कोश है, परन्तु समस्त घटनाचक्र के भीतर कवि ने अपनी रस-दृष्टि का नियोजित रूप में विस्तार किया है। अतः इसे 'महाभारत' की तरह एक विशाल महाकाव्य मान सकते हैं। इस काव्य में दो रस प्रमुख हैं—शृंगार और वीर। ये दोनों रस पृथ्वीराज चौहान के चरित्र के दो पार्श्व उन्मुक्त करते हैं। वह जितना वीर है उतना ही शृंगार-प्रेमी भी है। कवि ने एक ओर तो युद्धों के वर्णन में वीरता और पराक्रम की अद्भुत सृष्टि की है, दूसरी ओर रूप-सौन्दर्य और प्रेम के भी सरस चित्र उतारे हैं। नारी दोनों रसों के केन्द्र में है। उसे पाने के लिए युद्ध होते हैं और पा लेने पर जीवन का विलास-पक्ष अपनी पूरी रमणीयता के साथ उभरता है। ध्यान देने की बात यह है कि प्रेम और शौर्य के सभी चित्रों में कवि ने कुछ नैतिक मर्यादाओं का निर्वाह किया है, जिनके कारण रस की सात्विकता सुरक्षित रही है।



टास्क 'पृथ्वीराज रासो' के संबंध में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का क्या मत है?

'पृथ्वीराज रासो' में वस्तु-वर्णन का भी आधिक्य है। कवि ने बड़ी तन्मयता के साथ नगरों, वनों, सरोवरों, किलों आदि का वर्णन किया है। युद्ध-क्षेत्र के दृश्य तो अद्भुत प्रतिभा का परिचय देते ही हैं। कवि ने समय और क्रिया को एक साथ बिम्बों में बांधकर रंग और ध्वनियों को भी रूपायित कर दिया है। भाव, वस्तु और ध्वनि की सम्मिलित प्रभावान्विति के उदाहरण 'पृथ्वीराज रासो' में भरे पड़े हैं। एक उदाहरण देखिए:

बज्जिय घोर निसांन रान चौहान चहूँ दिसि।

सकल दूर सामन्त समर बल जंत्र मंत्र तिसि।

उदिठ राज प्रथिराज बाग लग्न मनहु वीर नट।

कढ़त तेग मन बेग लगत मनहु बीजु झट्ट घट्ट॥

नारी-सौन्दर्य का भी एक चित्र देखिए:

मनहु कला ससिभान कला सोलह सो बन्निया।

बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निया।

बिगसि कमल म्निग भ्रमर नैनु खंजन म्निग लुट्टिया।

हीर कीर अरु बिम्ब मोती नख सिख अहिघुट्टिया।

छत्रपति गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिया।

पद्मिनी रूप पदावतिय, मनहु काम कामिनी रचिया॥

वीर और शृंगार रसों के पोषण के लिए आवश्यकतानुसार अन्य रसों की भी योजना की गयी है और उनके वर्णन में भी कवि ने उतनी ही तन्मयता दिखलायी है।

'पृथ्वीराज रासो' की भाषा के सम्बन्ध में भी विवाद रहा है। वस्तुतः यह काव्य पिंगल शैली में लिखा गया है। जो ब्रजभाषा का वह रूप है जिसमें राजस्थानी बोलियों का मिश्रण है। कवि ने तत्कालीन सभी प्रचलित शब्दों

का स्वतंत्रता से प्रयोग किया है। शब्द-चयन रसानुकूल है अतः वीर रस के चित्रणों में प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। जहाँ तक भाषा की शक्ति का प्रश्न है, कवि ने अभिधेय भाषा को भी पर्याप्त प्रभावशाली रूप दिया है। लाक्षणिक तथा ध्वन्यात्मक शब्दावली ने भी प्रायः भाषा-सौन्दर्य की वृद्धि की है। अलंकारों का चन्द ने सहज प्रयोग किया है। शायद ही कोई अलंकार ऐसा हो जिसे उन्होंने छोड़ा हो। लगभग अड़सठ प्रकार के छन्दों में लिखा गया यह महाकाव्य सभी दृष्टियों से आदिकाल की एक श्रेष्ठ कृति सिद्ध होता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

- पृथ्वीराज रासो में दो रस प्रमुख हैं।
 (क) शृंगार और वीर (ख) केवल शृंगार
 (ग) केवल वीर (घ) इनमें से कोई नहीं
- पृथ्वीराज चौहान के चरित्र के दो पार्श्व उन्मुक्त करते हैं—वह जितना वीर है उतना ही भी है।
 (क) शृंगार-प्रेमी (ख) शिकार-प्रेमी
 (ग) कला प्रेमी (घ) इनमें से कोई नहीं
- पृथ्वीराज रासो का ग्रंथ सिद्ध होता है।
 (क) बारहवीं शताब्दी (ख) नौवीं शताब्दी
 (ग) अठारहवीं शताब्दी (घ) दूसरी शताब्दी
- चंद का समकालीन कवि था।
 (क) पृथ्वीराज (ख) डॉ. दशरथ शर्मा
 (ग) द्विवेदी (घ) सूरदास

11.3 सारांश (Summary)

- डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'पृथ्वीराज रासो' में बारहवीं शताब्दी की भाषा की संयुक्ताक्षरमयी अनुस्वारान्त प्रवृत्ति मिलती है, जिससे यह बारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ सिद्ध होता है।
- चन्द लाहौर का निवासी था। वहाँ उस समय मुसलमानों का प्रभाव पड़ चुका था, अतः उसकी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों का मिश्रण होना सहज है। विद्वानों ने बाल की खाल निकालने की चेष्टा में अनेक ऐसे तर्क प्रस्तुत किये हैं, जो इस काव्य की प्रामाणिकता के लिए उचित कसौटी नहीं बन सकते।
- चन्दबरदायी ने इस ग्रन्थ में अनेक घटनाओं का समावेश किया है तथा कुछ घटनाएँ बाद में भी चारणों ने जोड़ी हैं, जिससे ऐसा लगता है कि यह काव्य एक घटना-कोश है, परन्तु समस्त घटनाचक्र के भीतर कवि ने अपनी रस-दृष्टि का नियोजित रूप में विस्तार किया है। अतः इसे 'महाभारत' की तरह एक विशाल महाकाव्य मान सकते हैं।
- 'पृथ्वीराज रासो' में वस्तु-वर्णन का भी आधिक्य है। कवि ने बड़ी तन्मयता के साथ नगरों, वनों, सरोवरों, किलों आदि का वर्णन किया है। युद्ध-क्षेत्र के दृश्य तो अद्भुत प्रतिभा का परिचय देते ही हैं।
- 'पृथ्वीराज रासो' की भाषा के सम्बन्ध में भी विवाद रहा है। वस्तुतः यह काव्य पिंगल शैली में लिखा गया है। जो ब्रजभाषा का वह रूप है जिसमें राजस्थानी बोलियों का मिश्रण है।

11.4 शब्दकोश (Keywords)

- काव्योत्कर्ष — काव्य का उत्कर्ष
 सरोवर — तालाब
 अप्रामाणिक — जिसकी सर्वमान्य पुष्टि ना हो, जिसकी सत्यता संदिग्ध हो।

नोट

11.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. 'रासो' को अप्रामाणिक रचना क्यों माना जाता है? स्पष्ट कीजिए।
2. 'पृथ्वीराज रासो' एक प्रामाणिक ग्रंथ है। इस संबंध में डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत व्यक्त कीजिए।
3. पृथ्वीराज रासो में प्रस्तुत नारी-सौंदर्य का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|-------------|-------------------|-----------------|------------------|
| 1. प्रश्नों | 2. शुक-शुकी संवाद | 3. इतिहास ग्रंथ | 4. 30 हजार छंदों |
| 5. (क) | 6. (क) | 7. (क) | 8. (क) |

11.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

पुस्तकें

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - डॉ. ईश्वरदत्त शील, आभारानी।
2. हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।
3. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास - विश्वनाथ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन।
4. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - बाबू गुलाबराय, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन।
5. हिंदी साहित्य का इतिहास - विजेन्द्र स्नातक, साहित्य अकादमी।

इकाई-12: कबीर की भक्ति का स्वरूप एवं भेद

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 स्वभाव व चारित्रिक विशेषताएँ

12.2 आदि ग्रंथ में संग्रहीत कबीर की रचनाएँ

12.3 भक्ति का स्वरूप

12.4 भक्ति के भेद

12.5 सारांश (Summary)

12.6 शब्दकोश (Keywords)

12.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

12.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- कबीर की चारित्रिक विशेषताएँ जानने में।
- कबीर की भक्ति का स्वरूप एवं भेद को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

‘व्यक्तित्व’ शब्द से तात्पर्य व्यक्ति के आंतरिक व बाह्य स्वरूप की परिगणना से है। जिस प्रकार व्यक्ति का स्वरूप होगा उसी प्रकार वह अपने कार्यों या अपने स्वभाव को ढालता है। यह बात कबीरदास जी के लिए भी उचित है जिस प्रकार का चित्र या वर्णन मिलता है, वह कुछ ऐसा है—

“कबीर साहब एक मंझले कद के व्यक्ति जान पड़ते हैं। इनकी मुखाकृति बहुत लम्बी नहीं है और इनके पायजामे आदि की बनावट से सूचित होता है कि ये कदाचित पछहिं के रहने वाले हैं, किन्तु प्रायः इस प्रकार के एक अन्य चित्र से जिसमें...प्रतीत होता है कि इनका शरीर लम्बा था, इनका चेहरा काफी लम्बा था और इनके पहनावे में धोती आदि को देखने से समझ पड़ता है कि ये किसी पूर्वी प्रांत के निवासी रहे होंगे।”

—कबीर-चौड़ा के चित्र

कबीरदास के कई अन्य चित्र भी मिलते हैं, जैसे कई चित्रों में तो उन्हें सूफियों की तरह रंग-बिरंगे कपड़ों से सिया हुआ चोगा पहना हुआ दिखाया गया है। जिसमें उन्होंने तिलक व तुलसी माला नहीं पहनी अपितु सिर पर उन्हीं की तरह नुकीली टोपी पहनी हुई दर्शायी गई है। कई चित्रों में उन्हें करघे पर काम करता हुआ दिखाया है। एक चित्र में उन्होंने सिर्फ धोती व सिर पर मोटे कपड़े की टोपी धारण की है। वैसे कबीर साहब क्या पहनते-ओढ़ते थे, इसका विवरण नहीं मिलता। डॉ. सरनाम सिंह शर्मा के अनुसार—उनके रहन-सहन के बारे में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। हाँ, कुछ चित्र जिनके प्रामाणिक होने में संदेह है, ही मिलते हैं। कबीर के अन्तःसाक्ष्य के रूप में हम कुछ उक्तियाँ देख सकते हैं। उनमें से यह पद है जो कबीरवाणी से उद्धृत है—

नोट

“कारनि कौन संवारे देहा, पहु तन जारि वरिहुवे हैं बेहा।
चोवा चन्दन चनचत अंगा, सो तन जरत काठ के संग्गा।
बहुत जतन करि देह मुच्याई, अगिनि देह के जबुक खाई।
जा सिरि रचि रचि बांधन पाया, ता सिरि चंच संवारत कागा।
कहि कबीर तन झूठा भाई, केवल राम रह्यो ल्यौ लाई॥”

यह पद वैराग्य भावना के बारे में बताता है। इससे कबीर के मूलभूत स्वभाव पर प्रकाश पड़ रहा है। एक और पद में उन्होंने अपने केशों के बारे में बात की है—

“हमारे कौन सहे सिरि भारा

सिर की शोभा सिरजन हारा

टेढ़ी पाग बड़ जूरा, जारि भए भस्म की कूरा,

कहे कबीर राम राया, हरि कै रंगै मूंड मुड़ाया।

इससे ऐसा लगता है कि कबीर सिर पर कोई भार पसंद नहीं करते थे। सिर की शोभा वे ईश्वर को मानते थे; टेढ़ी पागड़ी या केश रखना भी उन्हें पसन्द नहीं था। इस पद से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे सिर मुड़ाये रहते थे।

इन सभी अनुमानों में कबीर का जुलाहा रूप अधिक वास्तविक लगता है।

12.1 स्वभाव व चारित्रिक विशेषताएँ

कबीरदास की वाणी तो योग और भक्ति का मेल है। योगी टूट जाता था किन्तु झुकता नहीं था, दूसरा यानी भक्त झुक जाता था परन्तु टूटता नहीं था। भक्त सामाजिक जाति-भेद ऊँच-नीच की भावना इत्यादि को स्वीकार लेता था व स्वयं को संसार में एक भटका हुआ प्राणी समझकर पश्चाताप का उपाय खोजता था किन्तु ठीक विपरीत हठयोगी सामाजिक कुरीतियों को अपनी वाणी द्वारा फटकारता था व स्वयं को अन्य मनुष्यों में सबसे उच्च श्रेणी का समझता था। योगी प्रेम को दुर्बल मानता था व भक्त ज्ञानमार्ग को भक्ति मार्ग से भिन्न समझता था। साधारण गृहस्थ के मन में शंका बैठ गई कि योग बिना मुक्ति असंभव है और माया एक पिशाचिनी है जिससे छुटकारा पाना असंभव है। भक्तिमार्ग की बात सुनकर साधारण जन निश्चिन्त हो गया कि यदि एक बार भी ईश्वर का नाम जिह्वा से ले लें तो यह भवसागर पार हो जाएगा। अर्थात् एक (योग) ने उसे उतना ही सरल कह दिया।

कबीर के स्वभाव में स्पष्टतः योगियों-सी सुदृढ़ता व भक्तों-सी करुणा देखी जा सकती है।

“कबीरदास ने यह अक्खड़ता योगियों से विरासत में पायी थी। संसार में भटकते हुए जीवों को देखकर करुणा के अश्रु से वे कातर नहीं हो जाते थे बल्कि और भी कठोर होकर फटकार लगाते थे। वे प्रह्लाद की भाँति सर्व जगत के पाप को अपने ऊपर ले लेने की वांछा से विचलित नहीं हो पड़ते थे बल्कि और भी कठोर और भी शुष्क होकर सुरत और निरत का उपदेश देते थे।”

—कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

‘ज्ञान का गेंद कर सुर्त का डंड कर

खेल चौगान-मैदान मांही।

जगत का भरमना छोड़ दे बाल के

आय जा भेष-भगवत पाहीं॥”

—शब्द, पृ. 50

अक्खड़ता के गुण का प्रयोग वे तब करते हैं जब उन्हें किसी आडम्बरी मनुष्य सामाजिक कुरीतियों या, योगियों पर चोट करनी होती है, जैसे यदि वे योगी को फटकारना चाह रहे हैं तो उसी की भाषा में उससे बात कहेंगे—

“इंगला बिनसै पिंगला बिनसै बिनसै सुषमनि नाड़ी।

जब उनमनि तारी टूटे, तब कहं रही तुम्हारी॥”



नोट्स

आचार्य द्विवेदी के अनुसार—“विरोधी के अस्त्र से विरोधी को घायल करने की कला में कबीर उस्ताद हैं।”

नोट

कबीरदास तो स्वभाव के फक्कड़ भी हैं—मोह-ममता से कहीं ऊँचे। कोई सिद्धान्त यदि उनकी कसौटी पर खरा उतरता है तो वह है—सत्य का, जिसे वे बिना संकोच या दुराव-छिपाव के अपनाए रहे। अन्याय का विरोध-स्वर के बिना संकोच या दुराव-छिपाव के अपनाए रहे। अन्याय का विरोध-स्वर वह बिना किसी लाग-लपेट के उठाते थे, उन्हें किसी का भय नहीं था। हिन्दू हो या मुसलमान, राजा हो या कोई बड़ा अधिकारी, योगी हो या अवधूत, द्वैत या अद्वैत के अनुयायी, यदि किन्हीं में भी कुछ गलत देखते तो बोल देते थे। कबीर का साथी भी वही हो सकता था जो ऐसा हो। वे तो कहते थे कि मेरे साथ वही चल सकता है जो अपनी मोहमाया-ममता को त्याग कर चले। उनकी स्वयं की उक्ति है—

‘हम घर जारा आपना, लिया मुराड़ा हाथ।
अब घर जारों तासुका, जो चले हमारे साथ।’

—स. क. सा. 518

सबके लिए उनके मन में प्रेम-भावना थी बिना किसी बैर या स्वार्थ-भावना के। उन्होंने कहा है—

‘कबिरा खड़ा बजार में, सबकी माँगे खैर।
ना काऊ से दोस्ती, ना काऊ से बैर॥’

मोहमाया न रखने व स्वार्थ-भावना न होने के कारण संत कबीर सिर से पैर तक मस्तमौला थे। उन्हें अपने लिए इस दुनिया से कुछ लाभ न लेना था, जो करना था बेधड़क कर गुजरते थे। उन्हें अपने पुराने कृत्यों का कोई दुख नहीं था, न ही वर्तमान में अपने द्वारा किए गए काम को वे पूर्ण समझते थे—वे सचमुच मस्त व्यक्ति थे। कबीर तो क्रान्तिदृष्टा थे जिन्हें जीवन में किए-कराए कर्मों का लेखा-जोखा नहीं रखना था। वे तो प्रेम-दिवाने थे—जिन्हें अपने प्रिय का पलभर भी वियोग नहीं सहन करना पड़ता था, जिनका प्रिय सदा उनके साथ था—

हमन हैं इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
रहे आज्ञाद या जग से हमन दुनिया से यारी क्या॥
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इन्तजारी क्या।

—शब्द., पृ. 16-17

“...इसीलिए ये फक्कड़ राम किसी के धोखे में आने वाले न थे। दिल जम गया तो ठीक है और न जमा तो राम-राम करके आगे चल दिये।”

—कबीर : द्विवेदी, पृ. 158

कबीर का प्रेममार्ग में अखण्ड विश्वास था जो अंत तक न टूटा। वे तो इस मार्ग के वीर-साधक थे।

कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम-अगाध।
सीस उतारि पगतलि धरै, तब निकट प्रेम का स्वाद॥

इसके लिए उनके मन में कोई संशय या दुविधा नहीं थी—उनका प्रेम सिर्फ बातों का ही नहीं था अपितु वे तो इस पर चले थे।

भगति दुहेली राम की, नहिं कायर का काम।
सीस, उतारै हाथि, करि, सो लेसी हरि नाम॥

—क. ग्रं., पृ. 77

उनके प्रेम में मादकता नहीं है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं है पर कठोरता है। असंयम नहीं है पर मौज है, उच्छृंखलता नहीं है पर स्वाधीनता है, अधानुकरण नहीं है पर विश्वास है। कबीर के प्रेम में घोर आत्मसमर्पण है।

नोट

“...कबीर की घर फूंक मस्ती, फक्कड़ाना लापरवाही और निर्मम अखण्डता उनके अखण्ड-आत्मविश्वास का परिणाम थी। उन्होंने कभी अपने ज्ञान को, गुरु को और अपनी साधना को सन्देह की नजरों से नहीं देखा।”

—कबीर : द्विवेदी, पृ. 160

भाषा—जिसमें कबीर स्वयं को व्यक्त करते हैं वह भी उनके स्वभावानुसार है अर्थात् इंकृत कर देने वाली-जितनी सीधी-सादी उतनी ही तेज भी है। द्विवेदी जी कहते हैं कि इनकी भाषा साफ चोट करने वाली है—इतना सहज होकर दूसरे पर चोट कर देते हैं जिससे इन्हें हम ‘व्यंग्यों की जान’ कह सकते हैं।

“...भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के आगे प्रचण्ड; दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त; भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय।” ऐसा था कबीरदास का व्यक्तित्व।

—कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 167

कृतित्व—कबीरदास के नाम से वैसे तो कई रचनाएँ मिलती हैं। किन्तु ये प्रामाणिक सिद्ध नहीं हुई। कबीरपंथियों ने तो उनकी वाणी का कोई अन्त नहीं माना, सम्भवतः श्रद्धा की प्रमुखता के कारण। उनके हाथ की लिखी कोई पुस्तक नहीं है, क्यों? ऐसा माना जाता है कि वे निरक्षर थे। उनकी रचनाएँ जो मानी जाती हैं उनमें भाषा-शैली में एकरूपता नहीं है। कबीर के नाम से उपलब्ध रचनाओं को कबीरदास की मानना—एक प्रचलन—सा हो गया है। शायद इसीलिए विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई पुस्तक-सूचियाँ काफी लम्बी हैं।

जैसा कि कबीर ने स्वयं एक साखी में कहा है—

‘मसि कागद छुयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।

चारिउ जुग को महातम, मुखहिं जनाई बात॥’

इससे ज्ञात होता है कि कबीर मौखिक प्रवचनों में अधिक विश्वास रखते थे। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुमानानुसार—“वे अपनी रचनाएँ सत्संगों अथवा प्रवचनों के अवसरों पर आवश्यकतानुसार करते जाते होंगे और उन्हें श्रोताओं में से कई लोग लिख भी लेते होंगे—ऐसी रचनाओं का कभी अस्पष्ट सुन पड़ने के कारण, कभी लेखक के अल्प ज्ञान के कारण अथवा अन्य भी कारणों से विकृत हो जाना भी असम्भव नहीं है।”

कबीर वाणी लोकप्रिय हो गई थी शायद इसीलिए भी श्रोताओं ने अपने कथन भी उसमें जोड़ दिये हैं। कई रचनाएँ जो कबीर की कही जाती हैं जैसे, अनुराग सागर, अलिफनामा, कबीर अष्टक, कबीर गोरख गोष्ठी, कबीर की साखी, कबीर की बानी, साधो का अंग इत्यादि।

किन्तु इनमें से बहुत अप्रामाणिक हैं—कुछ इतिहाससम्मत भी नहीं हैं। कुछ विद्वानों ने उनके ग्रंथों के बारे में चर्चा की है जैसे—डॉ. रामकुमार वर्मा, रामदास गौड़, डॉ. बड़थवाल, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, हरिऔध इत्यादि। यदि प्रामाणिक रचनाएँ देखें तो तीन ही हैं—कबीर ग्रंथावली, बीजक, आदि ग्रंथ।



नोट्स कबीरदास की वाणी तो योग और भक्ति का मेल है।

12.2 आदि ग्रंथ में संग्रहीत कबीर की रचनाएँ

अर्थात् ‘गुरु ग्रंथ साहिब’। यह सिख धर्म के अनुयायियों का सर्वमान्य ग्रन्थ है। इसमें दसों गुरुओं की वाणियाँ संग्रहीत हैं। इसके पदों का संग्रह संवत् 1661 के भाद्रपद मास की प्रतिपदा को हुआ था। ‘आदि ग्रंथ’ में संग्रहीत कबीर साहब की रचनाएँ व ‘कबीर की ग्रंथावली’ की रचनाओं में कुछ-भिन्नता है। आदि ग्रंथ में जो रचनाएँ हैं वे उनके व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालती हैं। हालाँकि पंजाबीपन का प्रभाव इनमें अधिक है। गुरु ग्रंथ साहिब की तीन प्रतिलिपियाँ मानी जाती हैं जो कि भिन्न कालों में लिखी गई हैं। एक मांगट (जि. गुजरात), दूसरी ‘दमदमा साहब’ में और तीसरी अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के समय से उपलब्ध नहीं है। ऐसा होने के कारण ही शायद रचनाओं की संख्या के बारे में मतभेद है।

कबीर ग्रंथावली का पाठ—इस ग्रंथ का संग्रह काल सं. 1561 माना है। बाबू श्यामसुन्दरदास ने यह सम्भावना की भी तो इसका अर्थ यह हुआ कि ग्रंथावली का संग्रह कबीर के जीवनकाल में हुआ है, यह उसकी

अप्रामाणिकता का एक कारण है। दूसरा सन्देह है कि जिस स्याही से पुष्पिका में यह लिखा गया है और जो हस्तलिखित है वह दूसरी स्याही से लिखा गया है। इसलिए इसका काल संदिग्ध लगता है।

बीजक का पाठ—कबीर-पंथियों का पूज्य और विश्वसनीय ग्रन्थ माना जाता है। इसका संग्रह काल ज्ञात नहीं है, फिर भी अनुमान है कि यह 17वीं शताब्दी विक्रमी संवत् में किसी समय एकत्रित की गई है। इसमें साखियाँ अंगों के अनुसार नहीं मिलतीं जैसी अन्य दो ग्रंथों में मिलती हैं। इसकी भाषा भी अन्य दो से कुछ भिन्न है। यह है पुरानी पूर्वी हिन्दी।

कबीर वाणी में मुख्य काव्य रूप—आज कबीर दास की जितनी भी रचनाएँ मिलती हैं वे मुख्यतः तीन रूपों में मिलती हैं—साखी, पद व रमैनी। अन्य रूपों का भी प्रयोग मिलता है जैसे—चौंतीसा, बावनी, विप्रमतीसी, बार, थिंती, चांचर, वसंत, हिंडोला, बेलि, विरहुली, कहस व उलटबाँसी शैली।

साखी—‘साखी’ शब्द संस्कृत के ‘साक्षी’ शब्द का अपभ्रंशरूप है। इसका अर्थ है चश्मदीद गवाह, ऐसा व्यक्ति जिसने घटना को अपनी आँखों से देखा है। कबीर ने स्वयं कहा है कि साखी उन्होंने रचना-कौशल दिखाने के लिए नहीं, वरन् संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रयुक्त किया है। कबीर कहते हैं—

‘तुम जिन जानो गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।

केवल कहि समझाइया, आतम साधन सारा॥’

× × ×

‘साखी’ आखी ज्ञान की, समुझि देखि मन माहीं!

बिन साखी संसार का, झगड़ा छूटत नाहीं॥’

साखी की कोई परिभाषा नहीं दी जा सकती। साखी में प्रधानतः दो पंक्तियाँ और चार चरण होते हैं। एक पंक्ति व तीन पंक्तियों की भी साखी होती है। सामान्य पाठक ‘साखी’ व दोहे में कोई भेद नहीं समझते जो संशयात्मक है। कबीर के पूर्ववर्ती व परवर्ती संतों ने ‘साखी’ को ही उपदेश का सशक्त साधन बनाया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि “असल में साक्षी (साखी) का मतलब ही यह है कि पूर्वतर साधकों की बात पर कबीर साहब अपनी साक्षी या गवाही दे रहे हैं। अर्थात् इस सत्य का अनुभव वे भी कर चुके हैं।”

डॉ. भगवतस्वरूप मिश्र ‘कबीर साहब’ में सम्पादित एक लेख में कहते हैं कि, “...यद्यपि कबीर की साखियाँ अपेक्षाकृत अत्यन्त सरल एवं सहज प्रतीत होती हैं, पर उनमें कुछ गम्भीर अनुभूतिजन्य तत्व गर्भित हैं... इस प्रकार संतों की साखी शब्द में साक्षी, सीख, अर्थ-गुह्यता तथा अर्थ-गाम्भीर्य आदि अनेक अर्थ छवियाँ गुणार्थ (connotation) के रूप में विद्यमान हैं।”

—संत कबीर का साखी साहित्य, पृ. 417

कबीर की साखियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—सामाजिक भावबोध प्रधान व आध्यात्मिक भावबोध प्रधान। इन साखियों में आदर्श, मानव जीव की संसार-यात्रा और उसका सामाजिक स्वरूप देखा जा सकता है।

पद—कबीर वाणी के पद आध्यात्मिक भावबोध प्रधान अधिक हैं जबकि साखी सामाजिक = बोध प्रधान थीं। इसमें वे धार्मिक समन्वय पर बल देते हैं। धार्मिक ग्रंथों की भावना का इन्होंने आदर किया है। इन पदों में उपदेश अधिक हैं जोकि समकालीन साधकों को चेताने के लिए प्रयुक्त हैं। इसमें वैराग्यमूलक, सिद्धान्तपरक एवं विरह-मिलन के पद हैं। ‘उलटबाँसी’ पद भी लोकप्रिय हैं जिनको इन्होंने ‘उलटिवेद’ या उलटावेद भी कहा है (ग्रं. (तिवारी), पद 137) ‘विरह-मिलन’ के पद अधिक सुन्दर बन पड़े हैं। जिनमें भक्ति की प्रगाढ़ता, सांकेतिक प्रतीकात्मक शैली, दाम्पत्य जीवन की छवियाँ, विवाह के अवसर का सजीव चित्रण, प्रेमोल्लास इत्यादि ने इन पदों को सजीवता प्रदान की है। कुछ पद द्रष्टव्य हैं—

दुलहिनि गावहु मंगलचार।

हम घरि आए हो राजा राम भरतार॥

—क. ग्रं. पद 2

‘हरि मोरा पिड मैं हरि की बहुरिया

राम बड़े मैं तनक लहुरिया॥’

—क. ग्रं. पद 2

नोट

अन्य पद हैं—

संतो भाइ आइ ग्यान की आंधी रे।

भ्रम की टाटी सबै उडांणीं, माया रहै न बांधी॥

× × ×

मन रे जागत रहिये भाई।

गाफिल होइ वसत मति खोवै, चोर मुसै घर जाई॥



क्या आप जानते हैं कबीरदास स्वभाव से फक्कड़ और मस्तमौला थे।

रमैनी—कबीर से पूर्व रमैनी बहुत कम मिलती है। वैसे दोहा-चौपाई छन्द जो रमैनी में प्रयुक्त होते हैं, वे पुराने हैं। डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थवाल कहते हैं कि—

“हिन्दी उस चौपाई लिखने की लोकप्रिय शैली के लिए कबीर की ऋणी है जिसमें दोहे गुम्फित रहते हैं।”

—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदा, पृ. 344

“...प्रतीत होता है कि उस समय पूर्वी प्रदेशों की साधारण जनता में रामकथा के आधार पर दोहा-चौपाई शैली की रचनाओं को रमैनी ही कहा जाता रहेगा। कबीर ने इसी पद्धति से प्रभावित होकर निर्गुण राम के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए।”

—कबीर के काव्य रूप—डॉ. नजीर मुहम्मद, पृ. 71

कबीर ‘ग्रंथावली’ व ‘बीजक’ में रमैनी नामक रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

‘रमैनी’ शब्द का अर्थ विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न ढंग से किया है। कुछ विद्वान कहते हैं कि रमैनी तो ‘वेदशास्त्र में रमण कराने वाली वाणी’ है। इसी प्रकार स्वसम्पादित कबीर बीजक के सम्पादक श्री विचार दास के अनुसार—‘रमैनी’ ‘रामणी’ शब्द का रूपांतर है तथा वे मानते हैं कि इसका विषय जीवात्मा की सांसारिक क्रीड़ाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन है। जहाँ तक इन परिभाषाओं का प्रश्न है तो कबीर की रमैणियों का विषय इतना सीमित नहीं है वे तो उस परमतत्त्व की व्याख्या भी इसके अन्तर्गत करते हैं। इसी प्रकार संत कबीर को वेदों में इतना विश्वास नहीं था, वे तो अपने प्रिय से सीधा सम्पर्क स्थापित करते थे। उन्हें किसी बिचौलिए की तनिक भी आवश्यकता नहीं थी तो फिर वे वेदों की वाणी को क्यों लिखने लगे।

रमैनी का सीधा सम्बन्ध रामायण से है। डॉ. नजीर मुहम्मद के अनुसार—“...रामायण से रामायणी, रमयनी और फिर रमैनी हो जाना स्वाभाविक है।...साधारण जनता के बीच रामायण का रमैनी हो जाना सम्भव है। कबीर ने इनमें अनवतारी राम का महत्त्व प्रकट किया है। उनका राम दशरथी राम से भिन्न अजन्मा है।” —पृ. 90

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि “मेरा अनुमान है कि दोहा = चौपाइयों में लिखी गई तुलसीदास की रामायण के प्रभाव ने कबीर-पंथियों को भी अपनी रामायण बनाने को प्रोत्साहित किया है...दोहा-चौपाई में लिखित पदों को रमैनी कहा जाने लगा।”

—हिन्दी साहित्य, पृ. 125

कबीर बीजक की एक साखी में यह बताया गया है कि—

जो मिलिया सो गुरु मिलिया, सीख न मिलिया कोय।

छः लाख छानबे रमैनी, एक जीव पर होय॥

डॉ. बड़थवाल व पारसा नाथ तिवारी ने ‘रमैनी’ को कबीर कृत ही माना है। यह उनका अपना काव्यरूप है।

कबीर की भक्ति ने भारतीय जनमानस को उस समय अवलम्बन प्रदान किया था जब वह सिद्धों और योगियों की गुह्यसाधना से ऊब रही थी। कबीरकालीन परिस्थितियों में धार्मिक अवस्था का अवलोकन करते समय हम देख चुके हैं कि उस समय प्रचलित नाना धर्म-साधनाएँ किस प्रकार जनता को भूलभुलैया में डाल रही थीं। इस महान संत ने अपनी प्रेमाभक्ति का ऐसा सबल और दृढ़ अवलम्बन धर्म-प्राण जनता को प्रदान किया कि वह

राम-रस में भाव-विह्वल हो डूब उठी। यद्यपि कबीर से पूर्व रामानन्द ने भी भक्ति की ऐसी ही भावपूर्ण धारा बहाई थी, किन्तु उसका प्रसार सीमित क्षेत्र तक ही रहा। रामानन्द को—

नोट

‘भक्ति द्राविण ऊपजी, लाये रामानन्द।’

का श्रेय तो अवश्य प्राप्त है, किन्तु उसका व्यापक प्रसार और प्रचार कबीर के द्वारा ही हुआ। उसे ‘सप्त द्वीप नवखण्ड’ में कबीर ने ही प्रकट किया था।

12.3 भक्ति का स्वरूप

कबीर की भक्ति पर वैष्णव-विचारधारा का आंशिक प्रभाव पड़ा है। कबीर पर पड़ने वाले आध्यात्मिक प्रभावों में इसका विश्लेषण किया जा चुका है। कबीर की भक्ति के विवेचन से पूर्व यह आवश्यक हो जाता है कि हम यह देखें कि भारतीय भक्ति का स्वरूप किस प्रकार वर्णित है। आचार्यों ने इनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से की है। रामानुजाचार्य जी ने ‘ब्रह्मसूत्र’ का भाष्य प्रस्तुत करते हुए भक्ति की व्याख्या में कहा है—

“ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयते।”

परमात्मा के निरन्तर स्मरण को ही भक्ति कहते हैं।

व्यास ने इसकी व्याख्या में कहा है कि प्रणिधान वह भक्ति है, जिनके द्वारा परमेश्वर उस योगी पर कृपादृष्टि करते हैं तथा उसकी इच्छाओं की पूर्ति निमित्त उसे वरदान देते हैं—

“प्राभिधानाद् भक्ति विशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्यात्यभिध्यानमात्रण...।”

—पातञ्जल दर्शन, प्रथम अध्याय, व्यासभाष्य।

पातञ्जल के इसी ‘ईश्वरप्राणिधानाद्वा’ सूत्र की व्याख्या में भोज ने भक्ति का स्वरूप समझाया है, वह वल्लभ के पुष्टि-समर्पण के अत्यन्त निकट है। उनका कथन है कि प्रणिधान वह भक्ति है जिसमें इन्द्रिय-भोगादिक सम्पूर्ण फलाकांक्षाओं का त्याग करके सब कर्म उस परम गुरु परमात्मा को समर्पित कर दिए जाते हैं—

“प्राणिधानं तत्र भक्ति-विशेषो विशिष्टमुपासनं सर्वक्रियाणामपि।

विषयसुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन् गुरावर्पयति॥”

—पातञ्जल दर्शन, प्रथम अध्याय, भोजवृत्ति।

भक्ति की अत्यन्त सुन्दर व्याख्या भक्तराज प्रह्लाद ने की उनका कथन है कि जैसी तीव्रसक्ति अविवेकी पुरुष को इन्द्रिय-विषयों में होती है उसी प्रकार की आसक्ति आपका (प्रभु का) स्मरण करते समय मेरे हृदय से निकल न जाएँ—

“या प्रीतिरविवेकाना विषयेष्वनपायिनी।

त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥”

—विष्णुपुराण, 1, 20, 19।

नारद भक्ति सूत्रान्तर्गत भक्ति की महिमा बताते हुए कहा है—

“सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।”

वह (भक्ति) ईश्वर के प्रति प्रेमरूप है एवं साथ ही—

“अमृतस्वरूपा च।”

वह अमृत-स्वरूप भी है। उसका स्वरूप-विश्लेषण नारद ने इस प्रकार किया है—

“तदर्पिताखिलाचारिता तर्द्धिस्मरणे परमव्याकुलतेति॥”

पराशर ने उसको विधि-विहित कर्मों में सीमित करते हुए भी अनुरागपूर्ण माना है—

“पूजादिष्वनुरागः।”

शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र में उसे परा कोटि की मानते हुए ईश्वर के प्रति परम अनुरागरूप, माना है—

“सा परानुरक्तिरीश्वरे।”

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. कबीर की भक्ति पर का आशिक प्रभाव पड़ा है।
2. रमैनी का सीधा संबंध से है।
3. रामानुजाचार्य ने का भाष्य प्रस्तुत करते हुए भक्ति की व्याख्या की है।
4. पंतजलि के सूत्र की व्याख्या में भोज ने भक्ति का स्वरूप समझाया है।

12.4 भक्ति के भेद

नारद ने भक्ति के दो रूप माने हैं—

1. प्रेमरूपा, 2. गौणी।

प्रेमरूपा भक्ति के उन्होंने दो भेद किए हैं प्रथम ‘कामरूपा’—जिसमें एक ही भाव की प्रधानता रहती है, जैसी गोपियों की कृष्ण में। द्वितीय ‘सम्बन्धरूपा’ जिसमें दास्य, सख्य, वात्सल्य, आत्मनिवेदनादि भाव आते हैं। कबीर की भक्ति में यद्यपि प्रधानता ‘कामरूपा’ की ही है, किन्तु सम्बन्धरूपा के भी उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं—

“कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवडी, जित खैचै तित जाउँ॥”

—दास्यासक्ति

X X X

“मोरे घर आय राम भरतार।

तन रति कर मैं मन रति करिहौं, पाँचों तत्व बराती।

रामदेव मोहे व्याहन आये, मैं जोवत मदमाती॥”

—कांतासक्ति।

X X X

“हरि जननी मैं बालक तोरा।

काहि न अवगुन बक्सह मोरा।”

—वात्सल्यासक्ति।

इसी भाँति अन्य आसक्तियों के भी उदाहरण कबीर में प्राप्त होते हैं।

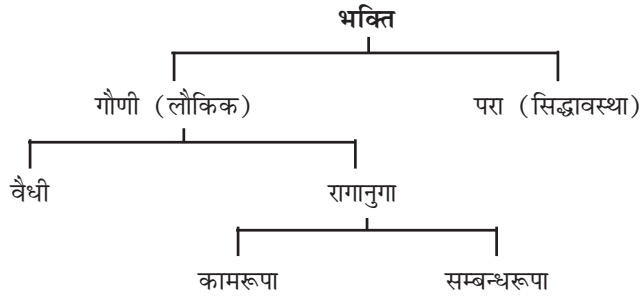
प्रेमरूपा भक्ति को तीन वर्गों में रखा गया है—

1. **गौण**—जो सांसारिकता के समीप है।
2. **मुख्य**—प्रेम-समुख पर जगत के प्रति उदासीन नहीं।
3. **अनन्य**—स्पृहारहित, ज्ञान, कर्म आदि से ऊपर अराध्य में लीन रहना।

कबीर की भक्ति इस वर्ग विभाग में 'अनन्य' कोटि में आती है, क्योंकि वहाँ 'सब तज, हरि भजन' की ही भावना है।

गौणी के भी नारद ने तीन भेद किए हैं—सात्विकी, राजसी एवं तामसी। कबीर की भक्ति सात्विकी कोटि में आती है।

चैतन्य सम्प्रदाय में भी भक्ति का लगभग इसी प्रकार का विभाजन किया गया है। उसे इस प्रकार से निर्दिष्ट किया जा सकता है।



इस विभाजन में कबीर की भक्ति 'परा'—सिद्धावस्था के अन्तर्गत आती है।

1. निर्गुण ब्रह्म—कबीर ने अपनी भक्ति में जिस आराध्य का वर्णन किया है वह उपनिषदों की अद्वैती भावना के प्रभाव से प्रभावित है। कबीर की ब्रह्मभावना यद्यपि अधिकांशतः अद्वैती है, किन्तु कहीं-कहीं अद्वैत से भिन्न है। इसका कारण यह है कि कबीर किसी सिद्धान्त के अनुयायी या प्रस्थापक नहीं बल्कि उन्होंने ब्रह्म का जो कुछ भी वर्णन किया है वह अनुभव के आधार पर किया है। कबीर प्रथम साधक हैं, और बाद में कवि। अतः भक्ति-साधना में जिस-जिस रूप में ये ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार करते जाते हैं, उसी-उसी रूप में उसे बताते हैं। वे कविता के माध्यम में 'निज ब्रह्म-विचार-आत्म साधना' को व्यक्त करते हैं। यही कारण है कि कबीर के ब्रह्म का स्वरूप हमारे सम्मुख कभी किसी रूप में तो कभी किसी रूप में आता है। ब्रह्म के स्वरूप-परिवर्तन का वास्तविक कारण यही है कि वह किसी भी दार्शनिकवाद के मानदण्ड से परे है, तार्किक विवाद से ऊपर है, पुस्तकीय विद्या से अगम्य पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है।

डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दों में—

“वह ऐसा गुलाब है जो किसी बाग में नहीं लगाया जा सकता, केवल उसकी सुगन्ध ही पाई जा सकती है। वह ऐसी सरिता है कि हम उसे किसी प्रशस्त वन में नहीं देख सकते, वरन् उसे कलकल नाद करते हुए ही सुन सकते हैं।”

अनुभूति के विविध स्तरों के द्वारा ही वह कहीं अद्वैत है और कहीं द्वैताद्वैत, कहीं विशिष्टाद्वैत, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अधिकांशतः कबीर ने अद्वैती भावनानुकूल उस ब्रह्म का वर्णन किया है। जब कबीर कहते हैं—

“कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूँढ़ै बन माहिं।

ऐसे घट घट राम है, दुनियाँ देखे नाहिं॥”

× × ×

“मृगा पास कस्तूरी बास, आप न खोजै खोजै घास।”

तो वे ईश्वर की अद्वैत सत्ता को स्वीकार करते हैं। वास्तव में उनका प्रभु रोमप्रतिरोम और सृष्टि के कण-कण में परिष्कृत है। वह हृदयस्थ होते हुए भी दूर दिखाई देता है, किन्तु जब वह प्रियतम पास में ही है तो उसे संदेश भेजने की क्या आवश्यकता है? इसीलिए कबीर कहते हैं—

“प्रियतम को पतिया लिखूँ, जो कहीं होय विदेस।

तन में, मन में, नैन में, ताकौ कहा संदेस॥”

वास्तव में प्रियतम के इस प्रकार के संदेश-प्रेषण को तो वे दिखाया-मात्र, कृत्रिम प्रेम का परिचायक मानते हैं, क्योंकि जहाँ देखो, वहीं उस ईश्वर-प्रिय की सत्ता विद्यमान है—

“कागद लिखै सो कागदी, कि व्यवहारी जीव।

आतम दृष्टि कहा लिखै, जित देखै तित पीव॥”

कबीर ने उस ब्रह्म की स्थिति सर्वत्र उसी भाँति मानी है जिस प्रकार अद्वैत भावना के पोषक प्रतिबिम्बवाद में। हमारा कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कबीर ने अद्वैती भावना का अनुगमन कर प्रतिबिम्बवाद को भी अपने काव्य में प्रयुक्त किया, वे तो उस ईश्वर की सर्वव्यापकता को अनुभव करते थे। इसीलिए उन्होंने कहा था—

“ज्यूँ जल में प्रतिबिम्ब, त्यूँ सकल रामहि जानीजै॥”

नोट

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कबीर की भक्ति का आलम्बन अद्वैती भावनानुकूल है। निम्नस्थ प्रसिद्ध साखी तो उन्हें एकदम अद्वैती सिद्ध कर देती है—

“जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।

फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इहि तथ कथ्यौ ग्यानी॥”

अद्वैतवादी भावना के साथ यह पूर्ण स्पष्ट है कि उनका ब्रह्म निर्गुण निराकार है—

“जाके मुँह माथा नहीं, नाही रूप सुरूप।

पहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप॥”

किन्तु जब वे इस ब्रह्म को समस्त संसार को बनाने वाला, बिगाड़ने वाला मानते हैं तो निर्गुण का अस्तित्व प्रश्नसूचक चिह्न के साथ रखना पड़ता है।

“सात समुद्र की मसी करूँ, लेखनी सब बनराइ।

सब धरती कागद करूँ प्रभु गुण लिखा न जाइ॥”

जिस ईश्वर के गुणों का इतना विस्तार है, यह निरुपाधि, निर्विषय, निर्गुण कैसे रहा? इतना ही नहीं, कहीं कहीं तो यह निरुपाधि ब्रह्म सोपाधि, सविशेष, सगुण एवं साकार तथा वैष्णवों के समान अवतारी हुआ जान पड़ता है, यथा—

“पंडिता मन रंजिता, भगति हेति त्यों लाइ रे।

प्रेम प्रीति गोपाल भजि नर, और कारण जाइ रे।

दाम छै पणि काम नाही, ग्यान छै पणि धंध रे।

श्रवण छै पणि सुरति नाही, नैन छै पणि अंध रे।

जाकै नाभि पदम सु उदित ब्रह्मा, चरन गंग तरंगा।

कहै कबीर हरि भगति बाँछू, जगत गुर गोब्यंद रे॥”

भला निर्गुण-निराकार की नाभि से ब्रह्मा और चरणों से गंगा निकलने की क्या संगति? वास्तव में ऐसे कथन कबीर ने भक्ति की झोंके में ही कहे हैं और इन स्थलों पर उन्हें सूर-तुलसी आदि भक्तों की कोटि से अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में उनके निराकार ब्रह्म का अर्थ निर्विषय कदापि नहीं, इसीलिए कबीर के न चाहते हुए भी उसमें गुणों का आरोप स्वतः हो गया है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने भी स्वीकार किया है—“कबीरदास के निर्गुण ब्रह्म में गुण का अर्थ सत्त्व, रज आदि गुण हैं, इसलिए निर्गुण ब्रह्म का अर्थ वे निराकार, निस्सीम आदि समझते हैं, निर्विषय नहीं।”

2. साकार ब्रह्म—कबीर की निर्गुण-भक्ति में ‘साकार’ ब्रह्म के जो तत्त्व आ गये हैं उनके विषय में यही कहा जा सकता है कि वे कोरे तीव्र भक्ति-भाव के ही द्योतक नहीं, अपितु जन-मन में ‘साकार’ स्वरूप की जो उपासना प्रचलित थी, उसका पूर्ण विरोध करते हुए भी कबीर स्वयं कहीं-कहीं उसके प्रभाव से बच नहीं पाये हैं। वास्तव में लोक-प्रचलित परम्परा का पूर्ण बहिष्कार सम्भव भी नहीं है।

शुक्ल जी ने कबीर में केवल शुष्क ज्ञान ही माना है, इसीलिए उन्होंने सन्तों का पृथक् वर्ग कर उसे ‘ज्ञानमार्गी’ नाम दिया है, किन्तु वास्तविकता इस मान्यता से कोसों दूर है। कबीर की भक्ति में, और विशेष रूप से उस स्थल पर, जहाँ उनकी आत्मा अपने प्रिय से विरहिणी रूप में आत्म-निवेदन करती है, भावों की सरसतम विधि प्राप्त होती है, यथा—

“फाड़ि पुटौला धज करों, कामड़िली पहिराऊँ।

जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोइ भेष कराऊँ॥”

वास्तव में रामानन्द के द्वारा उन्हें राम की ऐसी मधुरा भक्ति प्राप्त हुई, जिसकी सरसता निस्संदेह विस्मय की वस्तु है। इन्हीं को पाकर कबीर ‘वीर’ हो गये—सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस, सबसे तेज।

3. मुक्ति—कबीर ने भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन माना है, स्थान-स्थान पर भक्ति की महत्ता उन्होंने प्रतिपादित की है—

“भक्ति नसैनी मुक्ति की॥”

× × ×

“क्या जप क्या तप क्या संजम, क्या व्रत और क्या अस्नान।

जब लगि जुगत न जानिये, भाव भक्ति भगवान॥”

मुक्ति के साथ-साथ संसार के दुःख-शमन की भी साधना प्रभु-भक्ति ही है—

“भाव भगति बिसवास बिन, कटै न संसै मूल।

कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नहीं रे मूल॥”

4. सती और शूर—कबीर के भगवत्-प्रेम के आदर्श दो ही हैं—‘सती’ और ‘शूर’। सती के आदर्श चुनने में एक तो प्रेम की अनन्यता प्रकट होती है, दूसरे भक्त भगवान के अधिक निकट आ जाता है। वास्तव में ‘सती’ भाव का आचरण करने पर भक्त तो अपने गुरुतर कर्तव्य से मुक्त हो जाता है और उत्तरदायित्व प्रभु पर आ जाता है—

“उस समर्थ का दास हौं, कदै न होइ अकाज।

पतिव्रता नांगी रहै, तो उस ही पुरुष की लाज॥”

शूरवीर का आदर्श इसलिए अपनाया गया है कि वास्तव में साधना-मार्ग में जीवन की कठिनता, साहस और लक्ष्य के लिए दत्तचित होने की आवश्यकता शूर के ही समान है, जिस भाँति शूरवीर युद्ध-क्षेत्र में लोहे की करारी मार के सम्मुख भी तिलभर भी नहीं मुड़ता और प्राणोत्सर्ग कर अपने कर्तव्य की रक्षा करता है, वही स्थिति सच्चे भक्त के लिए आवश्यक है। शूरवीर और सच्चे भक्त की एकमात्र कसौटी यही है—

“सूरा तबही परषिये, लड़ै धनी के हेत।

पुरिजा पुरिजा है पड़ै, तऊ न छाड़ै खेत॥”

संसार जिस मृत्यु से भय खाता है, शूर और भक्त उसी का अभिनन्दन हैंसते-हँसते अपने लक्ष्य के लिए कर लेते हैं—

“जिस मरनै थैं जग डरै, सो मेरे आनन्द।

कब मरहूँ कब देखहूँ, पूरन परमानन्द॥”

5. अनन्य भाव—ये दोनों आदर्श ही कबीर की भक्ति की अनन्यता में सहायता पहुँचाते हैं। कबीर ने भी अपने आराध्य के लिए अपना सर्वस्व ‘मार्जार शिशु-न्यायवत्’ कर दिया है। सर्वस्व समर्पण के साथ-साथ अपने अस्तित्व को साध्य में लीन करने की उत्कृष्ट भावना कबीर में परिलक्षित होती है। यही कारण है कि वे ईश्वर के गुलाम बनने में भी नहीं हिचकते—

“मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाई।

तन मन धन मेरा राम जी के ताई॥”

इससे भी आगे बढ़कर वे अपने को मानव कहते ही नहीं, ईश्वर-सामीप्य और सर्वदा एकमेव रहने की कामना ही उनसे यह कहलाती है—

“कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाऊं।

गले राम की जेबड़ी, जित खैचें तित जाऊं॥”

इस पद पर झूमकर हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है—

“निरीह सारल्य का यह चरम दृष्टान्त है, आत्मसमर्पण की यह हद है। इतने पर भी मन को प्रतीति नहीं होती कि यह प्रेम रस पर्याप्त है। क्या जाने उस प्रियतम को कौन-सा ढंग पसन्द हो, कौन-सी वेशभूषा रुचिकर हो। हाय उस अजब मस्ताने प्रिय का समागम कैसा होता होगा?”

6. विरह—विरह भी कबीर की भक्ति-पद्धति का प्रमुख अंग है। प्रियतम के विषय में वे कहते हैं—

“मन परतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढंग।

क्या जाणौं उस पीव सूँ, कैसी रहसी रंग॥”

ऐसे अद्भुत प्रियतम को जब आत्मा नहीं पाती तो उसके वियोग में खूब तड़पती है। कबीर-काव्य की यह तड़पन मीन से कम नहीं। जब से गुरु ने उस परमात्मा का ज्ञान कराया तब ही से भक्त उसके लिए आकुल-व्याकुल है—

नोट

“गूंगा हुआ बावला, बहरा हुआ कान।

पाऊँ थै पंगुल भया, सतगुरु मारा बाना॥”

उस प्रिय के वियोग में प्रियतम का हृदय अहर्निश छटपटाता रहता है—

“तलफै बिन बालम मोर जिवा।

दिन नहीं चैन, रात नहीं निंदिया, तलफ तलफ कै भोर किया॥”

कबीर की भक्तात्मा ने इस विरह का जो वर्णन किया है, वह इतना स्वाभाविक और मार्मिक है कि लगता है कि कबीर का कबीरत्व, पौरुषत्व यहाँ समाप्त हो गया है, और उनकी आत्मा ने स्त्री रूप में प्रियतम के लिए ये शब्द कहे हैं। प्रिय से संदेश पाने के लिए आत्मा इस भाँति छटपटाती है मानो यदि उसे अभीष्ट की प्राप्ति न हुई तो न जाने क्या होगा—

“बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाड़।

एक सबद कह पीव का कबर मिलेंगे आड़॥”

वह केवल मात्र भेंट की इच्छुक है। भक्तात्मा का प्रभु-दर्शन के अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन ही नहीं, इसलिए वह यह न पूछकर कि प्रिय कुशल हैं अथवा नहीं, मुझे भी याद करते हैं या नहीं—केवल यही कहती है—

“एक सबद कह पीव का, कबर मिलेंगे आड़।”

जो यह भी ध्वनित करती है कि और काम को तो छोड़ पथिक, पहले यही बता कि वे कब आएंगे। किन्तु शीघ्र ही भक्त इस कल्पना-जगत से नीचे उतर इस वास्तविकता पर आता है—

“आड़ न सकौं तुझ पै, सकूँ न तुझ बुलाड़।

जियरा यौही लेहुगे, बिरह तपाड़ तपाड़॥”

इस दूरी के व्यवधान को दूर करना तो भक्त की सामर्थ्य से बाहर है, किन्तु प्रिय से मिलना फिर भी चाहता है। इसीलिए कहता है—

“यहु तन जारौं मसि करौं, लिखौं राम का नाउँ।

लेखणि करूँ करंकी की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥”

किन्तु बेचारा भक्त इस विरहाग्नि में भी कहाँ तक जले, जब उसका दुःख सहन शक्ति की सीमा से बाहर हो उठता है, जब भक्त का हृदय प्रिय वियोग में टूक-टूक हुआ जाता है तब विवश हो उसे ईश्वर को आक्रोशपूर्ण यह ताना देना पड़ता है—

“कै बिरहणि कूँ मीच दै, कै आपा दिखलाय।

आठ पहर का दाइरणा, मो पै सहा न जाय॥”

वास्तव में यह प्रेम का चरमोत्कर्ष है जो प्रभु-प्रियतम के अभाव में भी आत्मा-परमात्मा, भक्त-भगवान के अटूट प्रेम की उद्घोषणा कर रहा है। उनकी इस प्रेम-भावना का विवेचन करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है—

“इस प्रेम में मादकता नहीं है, पर मस्ती है। कर्कशता नहीं है, पर कठोरता है। असंयम नहीं है पर स्वाधीनता है। अन्धानुकरण नहीं है, पर विश्वास है। उजड़ता नहीं है, पर अक्खड़ता है। इसकी प्रचंडता सरलता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त है।”

7. निष्काम भाव—यदि कबीर को प्रभु की प्राप्ति भी हो जाए तो उससे वे कोई कामना सिद्धि की बात नहीं सोचते। उनकी एकमात्र कामना है—

“नैन की करि कोठरी, पुतली पलंग बिछाय।

पलकन की चिक डारिकै, पिय कूँ लेऊँ रिझाय॥”

या दूसरी कामना है—

“नैना अंतरि आव तूं, ज्यूँ हौं नैन झपेउँ।

ना मैं देखूँ और कूँ, ना तुम देखन देऊँ॥”

भक्ति में कामना के तो कबीर घोर विरोधी थे, तभी तो उन्होंने कहा था—

“जब लगि भगति सकामता तब लगि निष्फल सेवा॥”

इसलिए अन्त समय उस प्रभु की भक्ति करने, नाम जपने का उपदेश उन्होंने दिया था—

नोट

“कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।

तेल घटया बाती बुझी, सोबैगा दिन राति॥”

कबीर की इस भक्ति में ज्ञान—पुस्तकीय ज्ञान—का कोई महत्त्व नहीं क्योंकि उनका विश्वास है कि ईश्वर में अटूट लय ही मुक्ति के लिए पर्याप्त है, ज्ञान तो संसार की गुत्थी में उलझा देता है। भक्त के लिए इतना ही ज्ञान पर्याप्त है कि वह विषय-वासनाओं से मुक्त हो ईश्वर-भजन करे—

“पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोया।

एकै आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय॥”

इसी भाँति—

“कबीर पढ़िवा दूर कर, पोथी देय बहाय।

बावन आषर सोध कर, रमै ममैं चित लाय॥”

8. साधन—कबीर ने भक्ति के द्वार प्रत्येक के लिए खोलकर सबको उसका अधिकारी बताया। वहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि में किसी भी भाँति का भेदभाव नहीं, क्योंकि सबकी रचना उन्हीं पाँच तत्वों से हुई है, सबका स्रष्टा पिता परमात्मा एक ही है—

“जाँति पाँति पूछै नहिं कोई।

हरि को भजै सो हरि का होई॥”

इस भक्ति के द्वार खुले हुए तो सबके लिए हैं, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति भक्ति की प्राप्ति नहीं कर सकता, इसका कारण साधना-भक्ति का मार्ग खाँडे की धार पर चलना ही है। साधना की इस विषमता का वर्णन कबीर ने स्थान-स्थान पर किया है—

“गुरु भक्ति अति कठिन है, ज्यों खाँडे की धार।

बिना सांच पहुँचे नहीं, महाकठिन ब्यौहार॥”

इस भक्ति-साधना के लिए तो साधक को जीवन न्योछावर करने के लिए शीश उतारकर हथेली पर रखना पड़ता है—

“बागड़ देस लूवन का घर है, तहाँ जिनि जाई दाहन का डर है।

सब जगु देखौ कोई न धीरा, परस धूरि सिरि कहत अबीरा।

न तहाँ सरवर न तहाँ पाणी, न तहाँ सतगुर साधू वाणी।

न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा, ऊँचे चढ़ि हँसा भूवा।

देस मालवा गहर गंभीर, डग-डग रोटी पग-पग नीर।

कहै ‘कबीर’ घर ही मनमाना, गूगे का गुड़ गूगे जाना॥”

भक्तिमार्ग में आने वाली जिन बाधाओं का वर्णन कबीर ने किया है उनमें ‘कनक’ और ‘कामिनी’ प्रमुख हैं। इन्हें तो कबीर ‘दुर्गम घाटी दोय’ बताते हैं। इनके अतिरिक्त कुल, कुसंग, लोभ, मान, कपट, आशा और तृष्णा आदि। वस्तुतः यह सब मन द्वारा ही प्रस्तुत होते हैं क्योंकि यह सब मायाजाल मनःसृष्टि के अतिरिक्त कुछ नहीं। इसलिए कबीर ने मनः साधना पर बड़ा बल दिया है—

“काया कसूँ कमाण ज्यूँ, पचतत्त करि बाण।

मारौं तो मन मृग को, नहीं तो मिथ्या जाण॥”

कबीर ने अपनी भक्ति के 3 प्रमुख सहायक साधन बताये हैं—

1. मानव शरीर, 2. गुरु, 3. सत्संग।

84 लक्ष योनियों में मानव शरीर ही एकमात्र ऐसा है जिसमें प्रभु-भक्ति का अवसर है। यदि इसे भी विषयानन्द में गँवा दिया तो फिर पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता—

नोट

“कबीरा हरि की भक्ति करु, तजि विषया रस चौज।

बार-बार न पाई है, मानुस जन्म की मौज॥”

भक्ति-मार्ग पर तो एकमात्र मार्गदर्शक गुरु ही हैं। गुरु के बिना तो भक्ति सम्भव नहीं—

“सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।

लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावन हार॥”

साधु-संगति की महिमा अपार है। भक्ति का तो वह आवश्यक अंग है। इसे कबीर ने स्वर्ग से भी अधिक महत्त्व प्रदान किया है—

“राम-बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोया।

जो सुख साधु-संग में, सो बैकुंठ न होय॥”

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीर की भक्ति पीयूष-सलिला भागीरथी के समान पावन है जिनके पुनीत कूलों पर न जाने कितनों के भटकते मन-कुरंगों को विश्रान्ति मिली है।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. भी कबीर की भक्ति-पद्धति का प्रमुख अंग है।
 (क) विरह (ख) शृंगार
 (ग) वीर रस (घ) इनमें से कोई नहीं
6. कबीरदास के निर्गुण ब्रह्म में गुण का अर्थ आदिगुण हैं।
 (क) दया, करुणा (ख) सत्व, रज
 (ग) क्षमा (घ) इनमें से कोई नहीं
7. कबीर ने भक्ति को का एकमात्र साधन माना है।
 (क) मुक्ति (ख) शक्ति
 (ग) ज्ञान (घ) इनमें से कोई नहीं
8. कबीर के भगवद्-प्रेम के आदर्श दो ही हैं।
 (क) बीजक और साखी (ख) 'सती' और 'शूर'
 (ग) साखी और सबक (घ) इनमें से कोई नहीं

12.5 सारांश (Summary)

- कबीरदास की वाणी तो योग और भक्ति का मेल है। योगी टूट जाता था किन्तु झुकता नहीं था, दूसरा यानी भक्त झुक जाता था परन्तु टूटता नहीं था।
- भक्त सामाजिक जाति-भेद ऊँच-नीच की भावना इत्यादि को स्वीकार लेता था व स्वयं को संसार में एक भटका हुआ प्राणी समझकर पश्चाताप का उपाय खोजता था किन्तु ठीक विपरीत हठयोगी सामाजिक कुरीतियों को अपनी वाणी द्वारा फटकारता था व स्वयं को अन्य मनुष्यों में सबसे उच्च श्रेणी का समझता था। योगी प्रेम को दुर्बल मानता था व भक्त ज्ञानमार्ग को भक्ति मार्ग से भिन्न समझता था।
- कबीरदास तो स्वभाव के फक्कड़ भी हैं—मोह-ममता से कहीं ऊँचे। कोई सिद्धान्त यदि उनकी कसौटी पर खरा उतरता है तो वह है—सत्य का, जिसे वे बिना संकोच या दुराव-छिपाव के अपनाए रहे।
- मोहमाया न रखने व स्वार्थ-भावना न होने के कारण संत कबीर सिर से पैर तक मस्तमौला थे। उन्हें अपने लिए इस दुनिया से कुछ लाभ न लेना था, जो करना था बेधड़क कर गुजरते थे।
- कबीर-पंथियों का पूज्य और विश्वसनीय ग्रन्थ माना जाता है। इसका संग्रह काल ज्ञात नहीं है, फिर भी

अनुमान है कि यह 17वीं शताब्दी विक्रमी संवत् में किसी समय एकत्रित की गई हैं। इसमें साखियाँ अंगों के अनुसार नहीं मिलतीं जैसी अन्य दो ग्रंथों में मिलती हैं।

- कबीर की भक्ति ने भारतीय जनमानस को उस समय अवलम्बन प्रदान किया था जब वह सिद्धों और योगियों की गुह्यसाधना से ऊब रही थी। उस समय प्रचलित नाना धर्म-साधनाएँ जनता को भूलभुलैया में डाल रही थीं। इस महान सन्त ने अपनी प्रेमाभक्ति का ऐसा सबल और दृढ़ अवलम्बन धर्म-प्राण जनता को प्रदान किया कि वह राम-रस में भाव-विह्वल हो डूब उठी।
- कबीर ने अपनी भक्ति में जिस आराध्य का वर्णन किया है वह उपनिषदों की अद्वैती भावना के प्रभाव से प्रभावित है। कबीर की ब्रह्मभावना यद्यपि अधिकांशतः अद्वैती है, किन्तु कहीं-कहीं अद्वैत से भिन्न है। इसका कारण यह है कि कबीर किसी सिद्धान्त के अनुयायी या प्रस्थापक नहीं बल्कि उन्होंने ब्रह्म का जो कुछ भी वर्णन किया है वह अनुभव के आधार पर किया है। कबीर प्रथम साधक हैं, और बाद में कवि।

12.6 शब्दकोश (Keywords)

- हठयोगी – हठयोग करने वाला व्यक्ति, हठ-मार्ग अपनाने वाला।
 अक्खड़ता – निडरता, दो-टूक बोलने वाला, स्पष्टवादिता।
 साखी – चश्मदीद गवाह, ऐसा व्यक्ति जिसने घटना को आँख से देखा हो।

12.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. कबीर के व्यक्तित्व एवं स्वभाव की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन करें।
2. आदिग्रंथ में संग्रहीत कबीर की रचनाओं पर प्रकाश डालें।
3. कबीर की भक्ति के स्वरूप एवं भेद का विश्लेषण करें।
4. 'साखी' शब्द से क्या तात्पर्य है? कबीर की साखी का विश्लेषण करें।
5. कबीर की रमैनी पर टिप्पणी लिखें।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|---------------------|-----------|------------------|--------------------------|
| 1. वैष्णव-विचारधारा | 2. रामायण | 3. 'ब्रह्मसूत्र' | 4. 'ईश्वरप्राणिधानाद्वा' |
| 5. (क) | 6. (ख) | 7. (क) | 8. (ख) |

12.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. हिंदी साहित्य का इतिहास – श्यामचन्द्र कपूर, प्रभात प्रकाशन।
2. हिंदी साहित्य का इतिहास – विजेन्द्र स्नातक, साहित्य अकादमी।
3. हिंदी साहित्य का इतिहास – डॉ. ईश्वरदत्त शील, आभारानी।
4. हिंदी साहित्य का इतिहास – आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।

इकाई-13: कबीर के दोहे : गुरु कौ अंग

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 साखी-भाग

13.2 सारांश (Summary)

13.3 शब्दकोश (Keywords)

13.4 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

13.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- कबीर की साखी को समझने में।

प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय संत परंपरा में और विशेषकर निर्गुण संतों की परंपरा में गुरु को अत्यंत महत्त्व दिया गया है। गुरु की महिमा अनंत है और उसे वही समझ सकता है जिसके ज्ञान चक्षु खुल गए हैं। गुरु ने जो राम-नाम का अमूल्य मंत्र दिया है उसके सामने संसार की समस्त वस्तुएँ तुच्छ और हेय हैं। जिस प्रकार रणभूमि में शूर अपने विरोधी पक्ष को वाण-वर्षा से परास्त कर देता है उसी प्रकार सद्गुरु अपने उपदेश से अपने शिष्य के अहं को नष्टकर आत्मज्ञान से साक्षात्कार कराते हैं। अपनी इस महत्ता के कारण गुरु का स्थान भगवान के स्थान के समान है अर्थात् गुरु एवं गोविन्द दोनों एक ही हैं। इसलिए गुरु की महिमा अनन्त और अवर्णनीय है। सद्गुरु प्रेमरूपी तेल से परिपूर्ण एवं सर्वदा रहनेवाली ज्ञानवर्तिका से युक्त दीपक अपने शिष्य को प्रदानकर इस प्रकाश से ज्ञान-ज्योति जलाकर अपनी मुक्ति का मार्ग ढूंढ निकालने का अवसर प्रदान करते हैं।

13.1 साखी-भाग

गुरुदेव कौ अंग

अंग-परिचय—भारतीय सन्त-परम्परा में और विशेषतः निर्गुण सन्तों की परम्परा में गुरु को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। इस अंग में कबीर ने भी गुरु की महत्ता का वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि इस संसार में गुरु के समान कोई हितैषी और अपना सगा नहीं है, इसलिए मैं अपना तन-मन और सर्वस्व गुरु के प्रति समर्पण करता हूँ जो क्षणभर में ही अपनी कृपा से मनुष्य को देवता बनाने में समर्थ है। गुरु की महिमा अनंत है और इसे वही समझ सकता है जिसके ज्ञान-चक्षु खुल गये हों। गुरु की कृपा जिस व्यक्ति पर होती है, कलियुग का प्रभाव भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता; अर्थात् उस पर पापों और दुष्कर्मों का कोई प्रभाव नहीं हो सकता। गुरु ही अपने शिष्य के अन्तर की ज्योति को प्रज्वलित करने में समर्थ है, वही सच्चा शूरवीर है : गुरु का उपदेश कानों में पड़ते ही शिष्य समस्त प्रकार के सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। ऐसा गुरु भगवान की कृपा से ही प्राप्त होता

है। किन्तु दुर्भाग्यवशात् जिस व्यक्ति को विद्वान् गुरु प्राप्त नहीं होता, उस शिष्य की कभी मुक्ति नहीं हो सकती, बल्कि वह तो अपने साथ अपने शिष्य को भी लेकर डूब जाता है। गुरु की वाणी ही उस संशय को नष्ट करने में समर्थ है, जो समस्त संसार का अपने कठोर पाश में आबद्ध किये हुए है। किन्तु केवल गुरु का मिलना ही मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, बल्कि शिष्य के शुद्ध अन्तःकरण की भी उतनी ही आवश्यकता है, क्योंकि यदि शिष्य के हृदय में किसी प्रकार का विकार है, तो गुरु की कृपा से उसे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। अपनी इसी महत्ता के कारण गुरु का स्थान भगवान के स्थान के समान है; अर्थात् गुरु और गोविन्द दोनों एक ही हैं। जिन लोगों को गुरु की प्राप्ति नहीं होती, तो चाहे जितनी तप और साधना करें किन्तु उनका कोई फल नहीं होता। सर्व प्रकार से समर्थ गुरु से ही परिचय हो जाने पर समस्त सांसारिक और मानसिक दुख नष्ट हो जाते हैं और आत्मा निर्मल होकर प्रभु-भक्ति में तल्लीन हो जाती है। अतः गुरु की महिमा अनंत और अवर्णनीय है।

सतगुरु सवाँन को सगा, सोधि सई न दाति।

हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सई न जाति॥1॥

शब्दार्थ—सवाँन=समान। सोधी = तत्त्वशोधक अर्थात् साधु। सई = समान। दाति = दाता। हरिजन—प्रभु-भक्त।

व्याख्या—(इस संसार में) सद्गुरु के समान अपना कोई निकट सम्बन्धी नहीं है। तत्त्वशोधन वा प्रभु खोज करने वाले साधु के समान कोई दाता नहीं क्योंकि वह अपना समस्त ज्ञानार्णव शिष्य में उड़ेल देता है। दयालु प्रभु तुल्य अपना कोई हितैषी नहीं है और प्रभुभक्तों के समान कोई जाति नहीं है। अर्थात् प्रभुभक्त सब मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं।

विशेष—अनन्वयोपमा, अनुप्रास एवं यमक अलंकार।

बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौं हाड़ी कै बार।

जानि मानिष तैं देवता, करत न लागि बार॥2॥

शब्दार्थ—आपणैं = अपने। हाड़ी = शरीर (अस्थिचर्ममय)

व्याख्या—मैं शरीर को अपने गुरु के ऊपर वार न्योछावर करूँ, मैं उनकी बलि-बलि जाता हूँ, जिन्होंने अत्यंत अल्प समय में मुझे मनुष्य से देवता बना दिया अर्थात् मेरी मानवीय दुर्बलताओं को नष्ट कर मुझे दिव्यगुण युक्त कर दिया।

विशेष—‘बार’ में यमक अलंकार; अर्थ-शक्ति उद्भव स्वतः सम्भव वस्तु में अलंकार ध्वनि। गुरु ब्रह्मा से बढ़कर है, क्योंकि वह क्षणमात्र में मनुष्य को देवता बनाता है, यह ध्वनि व्यतिरेक अलंकार के रूप में है।

सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।

लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार॥3॥

शब्दार्थ—अनंत = अनन्त। लोचन अनंत = ज्ञान चक्षु, प्रज्ञा-चक्षु। अनंत = ब्रह्म।

व्याख्या—सद्गुरु की महिमा अपरम्पार है, उन्होंने मेरे साथ महान उपकार किया है। उन्होंने मेरे (चर्मचक्षुओं के स्थान पर) ज्ञान-चक्षु खोल दिये, दिव्य-दृष्टि प्रदान कर दी, जिसके द्वारा उस अनन्त ब्रह्म के दर्शन हो गये।

विशेष—यमक अलंकार।

राम नाम लै पटंतरे, देबे को कुछ नाहिं।

क्या ले गुरु संतोषिए, हौंस रही मन मांहि॥4॥

शब्दार्थ—पटंतरे = बदले में। संतोषिए = संतुष्ट करूँ। टौंस = प्रबल अभिलाषा।

व्याख्या—गुरु ने राम-नाम का जो अमूल्य मन्त्र दिया है उसके बदले में देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं है क्योंकि उस राम-नाम के सम्मुख समस्त वस्तुएँ तुच्छ और हेय हैं, फिर भला मैं क्या देकर गुरुदेव को सन्तुष्ट करूँ—यही प्रबल अभिलाषा मेरे मन में हुमककर रह जाती है।

विशेष—उपमान न मिलने से उपमानलुप्ता उपमा।

सतगुरु के सदकै करूँ, दिल अपणीं का साछ।

कलियुग हम स्यूं लडि पड्या, मुहकम मेरा बाछ॥5॥

शब्दार्थ—साछ = साक्षी। बाछ = रक्षक।

व्याख्या—मैं सद्गुरु पर प्राणपण से न्योछावर हूँ एवं अपने हृदय को साक्षी करके कहता हूँ कि कलिकाल

नोट

अर्थात् विविध मायामोह के प्रपंच मुझसे जूझ रहे हैं, पापों का और मन का संघर्ष चल रहा है, किन्तु शक्तिसम्पन्न गुरुवर मेरे रक्षक हैं, अतः पाप-पुंज मुझे परास्त नहीं कर सकते।

विशेष—मानवीकरण

सतगुरु लई कमाण करि, बांहण लागा तीर।

एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या सरीर॥6॥

शब्दार्थ—कमाण = धनुष। बांहण लागा = बरसाने लगा।

व्याख्या—सद्गुरु ने हाथ में धनुष धारण कर लिया एवं तीरों की वर्षा करने लगे अर्थात् अध्यवसायपूर्वक प्रयत्नपूर्वक शिष्य को उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। इन उपदेश बाणों में एक बाण इस प्रकार प्रेमपूर्वक चलाया जिसने अन्तर को बेधकर हृदय में घर कर लिया। हृदय तक बाण को पहुँचने के लिए मध्य के समस्त अन्धावरण बेधने पड़े हैं। इसीलिए वह हृदय में जाकर रह गया। यह बाण था प्रेम का।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति (केवल उपमान पक्ष धनुष-बाण का उल्लेख होने से); भक्ति-रस।



नोट्स

कबीर के अनुसार, गुरु की कृपा जिस व्यक्ति पर होती है, कलियुग का प्रभाव भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता।

सतगुरु सांचा सूरिवाँ, सवद जु बाह्या एक।

लागत ही मैं मिल गया, पड़्या कलेजे छेक॥7॥

शब्दार्थ—सूरिवाँ = सूरमा, वीर। बाह्या = मारा। मैं = अहंकार, आत्मज्ञान।

व्याख्या—सद्गुरु सच्चे शूरवीर हैं। जिस प्रकार रणभूमि में सूर अपने विरोधी-पक्ष को बाण-वर्षा से परास्त कर देता है; उसी प्रकार उस सद्गुरु रूपी शूर ने 'शब्द' (उपदेश) का बाण चलाया। उनके लगते ही मेरा 'मैं' अर्थात् अहं नष्ट हो गया अथवा उसके लगते ही मेरा आत्म-ज्ञान से साक्षात्कार हो गया। उस बाण के लगते ही हृदय में प्रेम की टेक का छिद्र हो गया। तात्पर्य यह है कि यह प्रेम उस सद्गुरु के उपदेश रूपी बाण का ही परिणाम है।

विशेष—सांगरूपक अलंकार।

सतगुरु मार्या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि।

अंगि उघाड़ै लागिग्या, गई दवा सूं फूटि॥8॥

शब्दार्थ—मार्या = मारा। भरि = पूर्ण शक्ति से। दवा = दावाग्नि।

व्याख्या—सद्गुरु ने साधक के ऊपर यह उपदेश-बाण पूर्ण शक्ति से खींचकर एवं मूठ को लक्ष्योन्मुख करके सीधा कर मारा जिससे दावाग्नि-सी फूट पड़ी। समस्त वासना, माया आदि जल-जलकर क्षार होने लगे एवं साधक शरीर के वस्त्र, माया आदि आवरण, उतारकर फेंकने लगा अर्थात् उसका वस्तुस्थिति से साक्षात्कार हो गया।

विशेष—उपमा एवं सांगरूपक अलंकार।

हँसै न बोलै उनमनीं, चंचल मेलह्या मारि।

कहे कबीर भीतरि भिद्या, सतगुरु कै हथियारि॥9॥

शब्दार्थ—उनमनी = योग की उत्पन्न दशा। मेलह्या = वृत्तियाँ। भिद्या = बेध दिया।

व्याख्या—योग की उन्मन दशा का वर्णन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि मन की चंचल वृत्तियों को समाप्त कर सद्गुरु के उस उपदेश के (प्रेम के) बाण ने हृदय को बेध दिया। परिणामस्वरूप शिष्य न हँसता है और न बोलता है अर्थात् सांसारिक हासविलास तथा राग-विराग से असम्पृक्त हो गया है।

विशेष—1. रूपकातिशयोक्ति। प्रयोजनवती गूढ़ व्यंग्या लक्षणा। शिष्य में चंचलता का अत्यन्ताभाव व्यंग्य है।

2. उन्मनी अवस्था—हठयोग या राजयोग की सिद्धावस्था है, जिसमें मन समाधिस्य होकर पहुँचता है।

गूंगा हूवा बावला, बहरा हुआ काना।

पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुरु मार्या बाण॥10॥

शब्दार्थ—पाऊँ थैं = पैरों से। पंगुल = पंगु, लँगड़ा।

व्याख्या—सद्गुरु के उपदेश-बाण के लगते ही शिष्य गूंगा, पागल, कानों से बहरा और पैरों से लंगड़ा हो गया। भाव यह है कि शिष्य वाणी का दुरुपयोग व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं करता एवं उसके कान भी प्रेम-भक्ति चर्चा के अतिरिक्त अन्य विषयों के लिए बहरे हैं एवं सांसारिक प्रयत्न से विरत होने के कारण लँगड़ा हो गया। इस विशेष स्थिति के कारण ही उसे पागल बताया गया है।

विशेष—गूढ़ व्यंग्य प्रयोजनवती लक्षणा। शिष्य को प्राप्त होने वाली परम शांति व्यंग्य है।

पीछें लागा जाइ था, लोक बेद के साथि।

आगैं थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि॥11॥

शब्दार्थ—दीपक = ज्ञान की ज्योति।

व्याख्या—मैं (शिष्य) लोक एवं वेदविहित मार्ग का अंधानुकरण करता जा रहा था, किंतु आगे पथ में गुरुदेव मिल गये और उन्होंने ज्ञान का दीपक मेरे हाथ में दे दिया। जिससे मैं अपना पंथ स्वयं खोजकर लक्ष्य (ब्रह्म-प्राप्ति) तक पहुँच सकूँ।

विशेष—सांगरूपक एवं रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।

पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आँवों हट्ट॥12॥

शब्दार्थ—अघट्ट = कभी घटने न वाली। बिसाहुणां = क्रय विक्रय। हट्ट = बाजार।

व्याख्या—सद्गुरु ने प्रेमरूपी तेल से परिपूर्ण एवं सर्वदा रहने वाली ज्ञानवर्तिका से युक्त दीपक मुझे प्रदान किया। इसके प्रकाश में संसाररूपी बाजार में मैंने कर्मों का समस्त क्रय-विक्रय उपयुक्त रीति से कर लिया। अब मैं पुनः इस बाजार में नहीं आऊँगा। अर्थात् इस ज्ञान-ज्योति के द्वारा मैं जीवनमुक्त हो जाऊँगा।

विशेष—1. अलंकार—सांगरूपक एवं रूपकातिशयोक्ति।

2. कबीर के पुनर्जन्म आवागमन में विश्वास का परिचय प्राप्त होता है।

ग्यान प्रकास्या गुरु मिल्या, सो जिनि बीसरि जाई।

जब गोबिन्द कृपा करीं, तब गुरु मिलया आई॥13॥

शब्दार्थ—जिनि = नहीं। बीसरि = छोड़ना।

व्याख्या—गुरुदेव से भेंट होने पर हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो गया। ऐसे ज्ञान स्वरूप गुरु से विमुख नहीं होना चाहिए। यह प्रभु कृपा का ही फल है कि गुरुवर मुझे मिल गये।

विशेष—सद्गुरु की प्राप्ति के लिए कबीर भगवत्कृपा को आवश्यक मानते हैं।

कबीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटैं लूण।

जाति पांति कुल सब मिटे, नांव धरौगे कूण॥14॥

शब्दार्थ—गुरु = गुरु। गरवा = गौरवमय। लूण = नामक। नांव = नाम। कूण = कौन-सा।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि मुझे गौरवमय गुरुदेव के दर्शन हुए, उन्होंने अपने ज्ञान-स्वरूप में मुझे इसी प्रकार एक कर लिया, अपने में मिला लिया, जैसे आटे में नमक मिल जाता है। अर्थात् गुरुदेव से इस प्रकार एक हो जाने पर मेरा स्वतंत्र अस्तित्व न रह गया और मेरे स्वतंत्र व्यक्तित्व के बोधक जाति-पाँति, कुल आदि सब नष्ट हो गये, अब तुम (संसार) मुझे गुरु से पृथक् मानने के लिए किस नाम से पुकारोगे? भाव यह है कि अब मेरा गुरु के ज्ञानस्वरूप के साथ ऐक्य स्थापित हो गया है।

विशेष—प्रथम पंक्ति में प्रतिवस्तूपमा।

जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध।

अंधै अंधा ठेलिया, दून्युं कूप पड़न्त॥15॥

शब्दार्थ—अंधला = अंधा, मूर्ख। खरा = पूर्णरूप से। निरंध = अंध, मूर्ख। कूप = कुआँ।

व्याख्या—यहाँ कबीरदास जी गुरु की योग्यता पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि जिस शिष्य का गुरु भी

नोट

अंधा है, अज्ञानी है एवं शिष्य भी पूर्णरूपेण अंधा, मूढ़ है, वे दोनों लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेंगे। अंधा अंधे को, अज्ञानी अज्ञानी को बिना देखे ही ठेल-ठालकर मार्ग पर बढ़ायेगा तो परिणाम यह होगा कि दोनों ही पतन के कुएँ में गिर पड़ेंगे।

विशेष—यहाँ शब्दों की अभिव्यंजना शक्ति दर्शनीय है।

नां गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या दाव।

दून्युं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव॥6॥

शब्दार्थ—सिष = शिष्य। बूड़े = डूब गये। पाथर = पत्थर, अज्ञान।

व्याख्या—न तो ज्ञानी सद्गुरु ही मिला और न शिष्य वास्तविक परिभाषा में शिष्य अर्थात् ज्ञानाभिलाषी ही था। दोनों ज्ञान के नाम पर लालच का दाँव खेलते रहे, एक-दूसरे को धोखे में डालने का प्रयास करते रहे और इस प्रकार दोनों मंझधार में ही डूब गये, तट-लक्ष्य-तक नहीं पहुँच पाये; जैसे कोई पत्थर की नाव का आश्रय लेकर सागर तैरने का प्रयास करे तो बीच ही में डूब जाए।

विशेष—उपमा अलंकार।

चौसठि दीवा जोड़ करि, चौदह चंदा मांहि।

तिहिं धरि किसकौ चानिणौं, जिहि धरि गोबिंद नांहि॥7॥

शब्दार्थ—जोड़ करि = जलाकर, प्रकाशित करके। चानिणौं = चहेता, अभीप्सित।

व्याख्या—यदि कोई अपने हृदय-मंदिर में चौसठ कलाओं की ज्योति प्रकाशित कर ले और चंद्रमा की चौदह कलाओं के समान प्रकाशपूर्ण चौदह विद्याओं का उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण कर ले अर्थात् पूर्ण ज्ञानी हो जाए, किंतु यदि वह मंदिर प्रभुभक्ति के अभाव में अंधकारपूर्ण है तो वह किसी का अभीप्सित नहीं हो सकता। भाव यह है कि जीवन की सार्थकता भगवत्प्राप्ति में है।

विशेष—1. कबीर यहाँ ज्ञान और भक्ति के संबंध के पोषक हैं, और भक्ति को ज्ञान के ऊपर मानते हैं।

2. चंद्रमा की चौदह कलाएँ कहने से कबीर पर इस्लामी संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है।

निस अंधियारी कारणै, चौरासी लख चंद!

अगि आतुर ऊदै किया, तऊ दिष्टि नहिं मंद॥8॥

शब्दार्थ—निस = निशि, रात, अज्ञान। ऊदै किया = उदित किया, प्राप्त किया। मंद = मूर्ख।

व्याख्या—अपनी अज्ञान की अंधतमसा के कारण तुझे चौरासी लाख योनियों में भटककर उनकी यातना सहनी पड़ी और तब बड़े कष्ट से मानव योनि में आया। मूर्ख फिर भी मेरी आँखें नहीं खुलतीं, तू फिर भी कुमार्ग की ओर ही बढ़ रहा है।

विशेष—कबीर पर वैष्णव प्रभाव देखा जा सकता है।

भली भई जु गुर मिल्या, नहीं तर होतो हांणि।

दीपक दिष्टि पतंगे ज्यूं, पड़ता पूरी जाणि॥9॥

शब्दार्थ—नहीं तर = अन्यथा। पूरी जाणि = सर्वस्व समझकर।

व्याख्या—साधक कहता है कि अच्छा ही हुआ कि गुरुदेव मिल गये, अन्यथा बड़ी भारी हानि होती। जिस प्रकार शलभ दीपशिखा को सर्वस्व जान उस पर जल मरता है उसी प्रकार मैं भी सांसारिक माया के आकर्षणों को सर्वस्व समझकर पतंगे कीड़े के समान जलकर नष्ट हो जाता।

विशेष—द्वितीय पंक्ति में उपमा है।

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पडंत।

कहै कबीर गुर ग्यान थैं, एक आध उबरंत॥20॥

शब्दार्थ—भ्रमि-भ्रमि = मँडरा-मँडराकर। इवै = उसी पर।

व्याख्या—माया रूपी दीपक है और मानव पतंगा है जो मँडरा-मँडराकर, आकर्षित होकर, उसी दीपशिखा पर गिरकर विनष्ट होता है। कबीर कहते हैं कि इस माया-दीप के आकर्षण से कोई एकाध विरले ही गुरु से ज्ञान प्राप्त कर बच पाते हैं।

विशेष—रूपक के द्वारा कवि ने गुरु की महत्ता की व्यंजना कराई है। इस प्रकार अलंकार द्वारा वस्तु ध्वनि है।

सतगुरु बपुरा क्या करै, जे सिषही माहै चूक।

भावै तूँ प्रमोधि ले, ज्यूं बसि बजाई फूक॥21॥

शब्दार्थ—बपुरा = बेचारा। चूक = कमी।

व्याख्या—यदि शिष्य में ही त्रुटि है तो बेचारा ज्ञानी गुरु भी क्या कर सकता है। चाहे उसे किसी प्रकार से समझा दो किंतु सब यों ही क्षण में बाहर निकल जाता है। जैसे वंशी में फूँक क्षणभर रहकर बाहर निकल जाती है और वह बाँसुरी फिर काष्ठ अर्थात् निर्जीव (शिष्य पक्ष में मूढ़) रह जाती है।

विशेष—दृष्टांत अलंकार।

संसै खाया सकल जुगु, संसा किनहूँ न खड्ड।

जे बैधे गुरु अषिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खड्ड॥22॥

शब्दार्थ—संसै = संशय, भ्रम। अषिरां = अक्षर ज्ञान।

व्याख्या—माया के भ्रम ने समस्त जगत को विनष्ट किया है किंतु इस भ्रम को कोई नहीं नष्ट कर पाया। गुरु-ज्ञान की वाणी से प्रभावित जो लोग थे उन्होंने इस माया-भ्रम को चुन-चुनकर नष्ट कर दिया।

विशेष—1. इसमें मानवीकरण से सजीवता आ गई है।

2. अलंकार से वस्तु ध्वनित है। व्यंग्य है—‘शिष्य की परमतत्त्वज्ञता’।

चेतनि चौकी बैसि करि, सतगुरु दीन्हाँ धीर।

निरभ होइ निसक भजि, केवल कहै कबीर॥23॥

शब्दार्थ—चेतनि = ज्ञान। निरभ होइ = निर्भय होकर।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ने ज्ञान की चौकी पर बैठकर शिष्य को प्रबोध देकर धैर्य प्रदान कर कहा कि तुम निर्मल चित्त हो, सांसारिक त्रासों से भयरहित होकर केवल ईश्वर का ही भजन करो।

विशेष—रूपक अलंकार।

सतगुरु मिल्या त का भया, जे मन पाड़ी भोल।

पासि बिनंठा कण्ठड़ा, क्या करै बिचारी चोण॥24॥

शब्दार्थ—पाड़ी = पड़ी हुई है। भोल = भूल, भ्रम। बिनंठा = नष्ट हो गया। चोण = मजीठ।

व्याख्या—जिन लोगों के चित्त भ्रमयुक्त हैं, उन्हें यदि सद्गुरु मिल भी गये तो क्या लाभ होगा? वे ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। यदि वस्त्र को रंगने से पूर्व पुट देने में ही वह नष्ट हो जाये तो सुंदर रंग देने में समर्थ मजीठ बिचारा क्या कर सकता है, फटे हुए वस्त्र को किस प्रकार सुंदर रंग दे। त्रुटिपूर्ण शिष्य के साथ यही अवस्था गुरु की है।

विशेष—1. पासि संस्कृत पुल्लिङ्ग शब्द ‘पास’ है, जिसका अर्थ लाल रंग का जवास होता है। ‘पाशन’ से भी ‘पासि’ का विकास संभव है—अर्थ होगा किनारी के लिए रंगे जाने वाले वस्त्र को विशेष रूप से बाँधना।

2. दृष्टांत अलंकार।

बूढ़े थे परि ऊबरे, गुरु की लहरि चमकि।

भेरा देख्या जरजरा, (तब) ऊतरि पड़े फरकि॥25॥

शब्दार्थ—परि = पर, परंतु। भेड़ा = बेड़ा। जरजरा = जीर्ण-शीर्ण। फरकि = तुरंत, तत्क्षण।

व्याख्या—हम तो इस भवसागर में डूबने को ही थे कि गुरु-कृपा की एक लहर ने हमें पार लगा दिया। उस गुरु कृपा के द्वारा ही हमने देखा कि जिस वेदशास्त्र आदि के बेड़े से हम संसार-सागर पार करना चाहते थे; वह तो जीर्ण-शीर्ण है, अतः हम उससे तत्क्षण कूद पड़े और प्रभु-भक्ति का सम्बल ग्रहण किया। भाव यह है कि केवल गुरु-कृपा से ही भवसागर पार किया जा सकता है।

विशेष—‘गुरु की लहरि चमकि’ में रूपकातिशयोक्ति है। उपमेय ज्ञानधार है। ‘भेरा देखा जरजरा’ में भी यही अलंकार है।

गुरु गोबिंद तौ एक हैं, दूजा यहु आकार।

आपा मेट जीवत मरै, तौ पावै करतार॥26॥

नोट

व्याख्या—गुरु और गोबिंद (ब्रह्म) तो एक ही हैं, उनमें कोई अंतर नहीं है। यह अपना मायाजनित शरीर ही इस भासित द्वैत का कारण है। यदि हम इस अहंत्व, 'अयं निजः परो वा' की भावना को समाप्त कर जीवनमुक्त हो जायें तो प्रभु-ब्रह्म-की प्राप्ति हो सकती है।

विशेष—विरोधाभास के कारण इस साखी में चमत्कार उत्पन्न हो सका है।

कबीर सतगुरु नां मिल्या, रही अधूरी सीष।

स्वांग जती का पहरि करि, धरि-धरि मांगे भीष॥27॥

व्याख्या—कबीरदास जी कहते हैं कि यदि शिष्य को सद्गुरु की प्राप्ति नहीं होती तो उसकी शिक्षा अपूर्ण रह जाती है। तपस्वी वेश धारण करके द्वार-द्वार पर भिक्षा माँगने वाले सद्गुरु नहीं हो सकते।

विशेष—'स्वांग जती का पहरि करि' में एक व्यापक बिंब थोड़े शब्दों में मूर्तिमान हो गया है।

सतगुरु सांचा सूरिवाँ, तातैं लोहिं लुहार।

कसणो दे कंचन किया, ताड़ लिया ततसार॥28॥

शब्दार्थ—तातैं = तप्त। लोहिं = लोहा। लुहार = लोहे का कार्य करने वाला।

व्याख्या—सद्गुरु सच्चा शूरवीर है जो शिष्य को अपने प्रयत्नों से उसी प्रकार योग्य बना देता है, जिस प्रकार लुहार तप्त लोहे को पीट-पीटकर सुघड़ और सुडौल आकार देता है। कबीर कहते हैं कि सद्गुरु शिष्य को परीक्षा की अग्नि में तपा-तपाकर स्वर्णकार की भाँति उसे इस योग्य बना देते हैं कि वह शुद्ध कंचन की कसौटी पर खरा उतर कर ब्रह्म (तत्त्व) को प्राप्त कर ले।

विशेष—1. रूपक।

2. वस्तु से व्यतिरेक अलंकार ध्वनित है।



क्या आप जानते हैं? गुरु की महिमा अनंत है और इसे वही समझ सकता है जिसके ज्ञान चक्षु खुल गए हों।

थापणि पाई थिति भई, सतगुरु दीन्हीं धीर।

कबीर हीरा बणजिया, मानसरोवर तीर॥29॥

शब्दार्थ—थापणि = शिष्य रूप में अपनी स्थापना। बणजिया = वाणिज्य, व्यापार।

व्याख्या—सद्गुरु से शिष्य रूप में स्वीकृति पाकर, उनका शिष्यत्व ग्रहण कर, मेरा चंचल मन स्थिर हो गया और उन्होंने मुझे धैर्य प्रदान किया। इस मन की एकाग्रता से मैं मनरूपी सरोवर पर (हंसों की भाँति) मुक्ता चुग रहा हूँ।

विशेष—मनःसाधना की महत्ता प्रकट की गई है।



टास्क प्रेमरूपा भक्ति को कौन से तीन वर्गों में रखा गया है?

निहचल निधि मिलाइ तत, सतगुरु सास धीर।

निपजी मैं सांझी घणां, बाटै नहीं कबीर॥30॥

शब्दार्थ—निहचल निधि = ब्रह्मा। तत = आत्मा। घणां = बहुत से।

व्याख्या—सद्गुरु के साहस और धैर्य ने आत्मा को ब्रह्म से मिला दिया। इस महामिलन से जो सुख उत्पन्न हुआ उसका भागीदार बनने के लिए बहुत से व्यक्ति व्याकुल हैं, किंतु कबीर उसे बाँटने के लिए प्रस्तुत नहीं, क्योंकि वह परमतत्व का आनंद दूसरे के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः उस आनंद को प्राप्त करने के लिए स्वयं की आत्मा का ब्रह्म से साक्षात्कार आवश्यक है।

विशेष—1. रूपक अलंकार से अमूर्त को मूर्त किया गया है।

2. दूसरी पंक्ति में व्यापक क्रिया-बिंब आकर्षक है।

चौपड़ि माड़ी चौहटे, अरध उरध बाजार।

कहै कबीरा राम जन, खेलौ संत विचार॥31॥

शब्दार्थ—चौपड़ि = चौपड़ का खेल। माड़ी = बिछी है।

व्याख्या—शरीर के चौराहे पर चौपड़ बिछी है। उसके नीचे एवं ऊपर दोनों ओर चक्रों का बाजार लगा हुआ है (योगियों ने शरीर के अंतर्गत षट्चक्रों की स्थिति मानी है जो मूलाधार से प्रारंभ होकर शीर्ष में ब्रह्मरन्ध्र तक बिछे हुए हैं। इन षट्चक्रों का भेदन करके ही कुंडलिनी ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है जहाँ निस्सृत होता है)। कबीरदास जी कहते हैं कि प्रभु-भक्त-संत गण इस खेल को विचारपूर्वक खेलते हैं अर्थात् योगसाधना में प्रवृत्त होते हैं।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति द्वारा एक पूरे सूक्ष्म व्यापार को मूर्त किया गया है।

पासा पकड़ या प्रेम का, सारी किया शरीर।

सतगुरु दाव बताइया, खेलैं दास कबीर॥32॥

व्याख्या—प्रेम के पांसे से शरीर रूपी चौपड़ भक्त कबीर ने खेल प्रारंभ कर दिया है और सद्गुरु दावें बनाते जा रहे हैं। भाव यह है कि साधक ने प्रेम का आश्रय लेकर गुरु के निर्देशन में योगसाधना प्रारंभ कर दी है।

विशेष—रूपक द्वारा, आसक्तिहीन साधना को मूर्त बनाया गया है।

सतगुरु हम सूं रीझि करि, एक कह्या प्रसंग।

बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग॥33॥

शब्दार्थ—रीझि करि = प्रसन्न होकर।

व्याख्या—सद्गुरु ने हम से प्रसन्न होकर प्रभु-भक्ति की ऐसी मनोरम चर्चा छेड़ी कि प्रेम का बादल बरस गया जिससे शरीर का अंग-प्रत्यंग उस प्रेम-जल से सिक्त हो गया।

विशेष—रूपक द्वारा भक्ति की आनंददायिनी अनुभूति को साकार किया गया है।

कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरष्या आइ।

अंतरि भीगी आत्मां, हरी भई बनराइ॥34॥

शब्दार्थ—बनराय = वन-प्रदेश।

व्याख्या—प्रभु-प्रेम का बादल बरसा, जिससे अंतरात्मा उस प्रभु-प्रेम जल से भीग गई और उसी के आनंद में शरीर रूपी वन-प्रदेश में भी हरियाली, उत्फुल्लता छा गई।

विशेष—असंगति अलंकार।

पूरे सूं परचा भया, सब दुख मेल्या दूरि।

निर्मल किन्हीं आत्मां, ताथैं सदा हजूरि॥35॥

शब्दार्थ—परचा = परिचय। मेल्या दूरि = दूर कर दिये। ताथैं = इसी कारण से।

व्याख्या—सर्वसमर्थ पूर्ण गुरु से मेरा परिचय हो गया, उन्होंने समस्त दुःख दूर कर दिये। उन दुःखों के अभाव में आत्मा निर्मल होकर सर्वदा प्रभु-भक्ति में संलग्न रहती है।

विशेष—1. 'हजूर' अरबी का शब्द है, जिसका अर्थ किसी के सम्मुख रहता है, कबीर ने इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है।

2. यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. सद्गुरु की महिमा है।
2. सद्गुरु की प्राप्ति के लिए भगवत्कृपा को आवश्यक मानते हैं।
3. उन्मनी अवस्था की सिद्धवस्था है, जिसमें मन समाधिस्थ होकर पहुँचता है।
4. कबीर पर धर्म का प्रभाव देखा जा सकता है।

नोट

5. कबीर ने सांसारिक माया को तथा मानव को पतंगा कहा है।
6. भक्ति को ज्ञान के ऊपर मानते हैं।
7. कबीर की दृष्टि में गुरु और दोनों एक ही हैं।
8. जिस व्यक्ति को विद्वान नहीं मिलता, उस शिष्य की कभी मुक्ति नहीं हो सकती।

13.2 सारांश (Summary)

- भारतीय सन्त-परम्परा में और विशेषतः निर्गुण सन्तों की परम्परा में गुरु को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है। इस अंग में कबीर ने भी गुरु की महत्ता का वर्णन किया है। उन्होंने बताया है कि इस संसार में गुरु के समान कोई हितैषी और अपना सगा नहीं है, इसलिए मैं अपना तन-मन और सर्वस्व गुरु के प्रति समर्पण करता हूँ जो क्षणभर में ही अपनी कृपा से मनुष्य को देवता बनाने में समर्थ है।
- गुरु की महिमा अनंत है और इसे वही समझ सकता है जिसके ज्ञान-चक्षु खुल गये हों। गुरु की कृपा जिस व्यक्ति पर होती है, कलियुग का प्रभाव भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता; अर्थात् उस पर पापों और दुष्कर्मों का कोई प्रभाव नहीं हो सकता।
- गुरु ही अपने शिष्य के अन्तर की ज्योति को प्रज्वलित करने में समर्थ है, वही सच्चा शूरवीर है : गुरु का उपदेश कानों में पड़ते ही शिष्य समस्त प्रकार के सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। ऐसा गुरु भगवान की कृपा से ही प्राप्त होता है। किन्तु दुर्भाग्यवशात् जिस व्यक्ति को विद्वान् गुरु प्राप्त नहीं होता, उस शिष्य की कभी मुक्ति नहीं हो सकती, बल्कि वह तो अपने साथ अपने शिष्य को भी लेकर डूब जाता है।
- गुरु की वाणी ही उस संशय को नष्ट करने में समर्थ है, जो समस्त संसार का अपने कठोर पाश में आबद्ध किये हुए है, किन्तु केवल गुरु का मिलना ही मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है, बल्कि शिष्य के शुद्ध अन्तःकरण की भी उतनी ही आवश्यकता है, क्योंकि यदि शिष्य के हृदय में किसी प्रकार का विकार है, तो गुरु की कृपा से उसे कोई विशेष लाभ नहीं होगा। अपनी इसी महत्ता के कारण गुरु का स्थान भगवान के स्थान के समान है; अर्थात् गुरु और गोविन्द दोनों एक ही हैं।
- जिन लोगों को गुरु की प्राप्ति नहीं होती, तो चाहे जितनी तप और साधना करें किन्तु उनका कोई फल नहीं होता। सर्व प्रकार से समर्थ गुरु से ही परिचय हो जाने पर समस्त सांसारिक और मानसिक दुख नष्ट हो जाते हैं और आत्मा निर्मल होकर प्रभु-भक्ति में तल्लीन हो जाती है। अतः गुरु की महिमा अनंत और अवर्णनीय है।

13.3 शब्दकोश (Keywords)

मुखाकृति — मुख की आकृति भवसागर — संसार दुर्बल — कमजोर

13.4 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. कबीर की गुरु के प्रति भक्ति की प्रकृति कैसी है?
2. 'सतगुरु मिल्या तो का भया क्या करै बिचारी चोण।' इस दोहे में कबीर क्या सिद्ध करना चाहते हैं?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|------------|---------|------------|-----------|
| 1. अपरंपार | 2. कबीर | 3. हठयोग | 4. वैष्णव |
| 5. दीपक | 6. कबीर | 7. गोविन्द | 8. गुरु |

13.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - श्यामचन्द्र कपूर, प्रभात प्रकाशन।
2. हिंदी साहित्य का इतिहास - विजेन्द्र स्नातक, साहित्य अकादमी।

इकाई-14: कबीर के दोहे : विरह कौ अंग

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 ब्रह्म

14.2 माया

14.3 संसार

14.4 जीवात्मा और शरीर

14.5 विरह कौ अंग

14.6 सारांश (Summary)

14.7 शब्दकोश (Keywords)

14.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

14.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- कबीर की ब्रह्म-भावना को जानने में।
- जीवात्मा और शरीर को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कबीर का लक्ष्य जिस प्रकार कविता करना नहीं था, उसी भाँति दर्शन की गुत्थी को सुलझाना भी उन्हें अभीष्ट नहीं था, किन्तु भक्ति में प्रेम की विविध भाव-व्यंजनाओं के साथ-साथ कबीर की ब्रह्म, जीव, जगत माया आदि से सम्बन्धित विचारधारा भी सम्मुख आई है। इन विचारों के आधार पर ही हम उनकी विभिन्न धारणाओं का पता लगता सकते हैं।

यद्यपि कविता एवं दर्शन दोनों पृथक्-पृथक् क्षेत्र हैं किन्तु फिर भी हम देखते हैं कि कवि भी दार्शनिक होता है, यह दूसरी बात है कि इस रूप में नहीं, जिस रूप में दर्शन का विद्वान। इस सम्बन्ध में महादेवी जी के शब्द द्रष्टव्य हैं-

“कवि में दार्शनिक को खोजना बहुत साधारण हो गया है। जहाँ तक सत्य के मूल रूप का सम्बन्ध है वे दोनों एक-दूसरे के अधिक निकट हैं अवश्य, पर साधन और प्रयोग की दृष्टि से उनका एक होना सहज नहीं। बुद्धि के निम्न स्तर से अपनी खोज आरम्भ करके उसे सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचाकर दार्शनिक सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी सफलता यही है कि सूक्ष्म सत्य के उस रूप तक पहुँचने के लिए वही बौद्धिक दशा सम्भव रहे। अन्तर्जगत का सारा वैभव परखकर सत्य का मूल आँकने का उसे अवकाश नहीं, भाव की गहराई में डूबकर जीवन की थाह लेने का उसे अधिकार नहीं। वह तो चिन्तन-जगत का अधिकारी है। बुद्धि अन्तर का बोध कराकर एकता का निर्देश करती है और हृदय एकता की अनुभूति देकर अन्तर की ओर संकेत करता है। परिणामतः चिन्तन की विभिन्न

नोट

रेखाओं का समानान्तर रहना अनिवार्य हो जाता है। सांख्य जिस रेखा पर बढ़कर सत्य की प्राप्ति करता है, वह वेदान्त को अंगीकृत न होगी और वेदान्त जिस क्रम से चलकर सत्य तक पहुँचता है, उसे योग स्वीकार न कर सकेगा।”

“काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है, इसी से उसका दर्शन न बौद्धिक तर्क-प्रणाली है और न सूक्ष्म बिन्दु तक पहुँचने वाली विशेष विचार-पद्धति। वह तो जीवन को, चेतना अनुभूति के समस्त वैभव के साथ स्वीकार करता है। अतः कवि का दर्शन, जीवन के प्रति उसकी आस्था का दूसरा नाम है।”

रामरसायन से उन्मत्त कबीर सांसारिक जीवन-से विरक्त हो, स्थितप्रज्ञ या जीवनमुक्त की दशा में आ गये थे। इसी अनोखे प्रेम जगत, भावलोक से, जो उनका वास्तविक जीवन रह गया था, कबीर ने जो आस्थाएँ, विचार प्रकट किये हैं, उनसे हमें उनकी विचारधारा, चिन्तन-परिणामों का ज्ञान होता है।



नोट्स

रामरसायन से उन्मत्त कबीर सांसारिक जीवन से विरक्त हो, स्थितप्रज्ञ की दशा में आ गए थे।

14.1 ब्रह्म

कबीर का ब्रह्म उपनिषदों के अद्वैत से ही अधिक प्रभावित है। कबीर की ब्रह्म-भावना आदि से अन्त तक अद्वैतपरक है किन्तु उस अद्वैत की प्राप्ति का प्रारम्भ या प्रयत्न जब कबीर करते हैं, प्रिय परमात्मा से वियुक्त हृदय की मनोभावनाओं की जिस समय अभिव्यक्ति करते हैं, उस समय वे द्वैत भावना से प्रस्थान करते हैं, किन्तु यह द्वैत भ्रमवश है, यही अज्ञान है। इस द्वैत भावना से कबीर की अद्वैत भावना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे सर्वत्र उसका निरूपण उपनिषदों के समान अद्वैती भावना से उत्प्रेरित होकर ही करते हैं-

“कस्तूरी कुण्डल बसै, मृग ढूँढ़े बन माहिं।

ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखे नाहिं॥”

जिस भाँति ब्रह्म को कबीर ने हृदस्थ मानकर पत्रिका आदि लिखने का विरोध किया है, उसी प्रकार प्रतिबिम्बवाद के आश्रय पर उसे सर्वत्र भी माना है-

“ज्यू जल में प्रतिबिम्ब, त्यू सकल रामहिं जानिजै।”

अद्वैतियों के ही समान कबीर का विश्वास है कि ब्रह्म से ही समस्त सृष्टि का निर्माण होता है और उसी के द्वारा उसका स्वरूप नष्ट हो जाता है-

“पानी ही ते हिम भ्या, हिम ही गया बिलाया।

कबीरा जो था सो भया अब कुछ कही न जाय॥”

सृष्टि-निर्माता होने के साथ-साथ यह ब्रह्म पूर्ण निराकार, रूपविहीन, निर्लिप्त है, समस्त सृष्टि के अणु-प्रति-अणु में व्याप्त होकर भी प्रत्येक घट में भी वास करता है-

“शरीर सरोवर भीतर, आछै कमल अनूप।

परम ज्योति पुरुसोत्तम, जाखे रेख न रूप॥”

उसे शरीर, स्थित ज्योतिस्वरूप निराकार मानकर भी कबीर ने अद्वैती-भावानुरूप अखण्ड, एकरस माना है-

“आदि मध्य औ अन्त लौ, अविहड़ सदा अभंग।

कबीर उस कर्ता की, सेवक तजै न संग ॥”

समस्त सृष्टिव्यापी होने के साथ-साथ उस ब्रह्म की महिमा अपार है। वह इतना सामर्थ्यवान है कि बिना इन्द्रियों के, स्वरूप के भी समस्त कार्य कर रहा है-

“बिन मुख खाइ चरन बिन चालै, बिन जिभ्या गुण गावै।

आछै रहै ठौर नहीं छाड़ै, दस दिसिहीं फिरि आवै॥

बिनहीं तालां ताल बजावै, बिन मंदल पर ताला।

बिनहीं सबद अनाहद बाजै, तहाँ निरतत है गोपाला॥”



क्या आप जानते हैं? काव्य में बुद्धि हृदय से अनुशासित रहकर ही सक्रियता पाती है।

नोट

वास्तव में इनकी शक्ति का वर्णन करना सम्भव ही नहीं, वह तो अनुभव की ही वस्तु है-

“पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उन्मान।

कहिबै कूँ शोभा नहीं, देखा ही परवान॥”

कबीर ने इस ब्रह्म को राम, हरि, मुरारि, गोपाल, विष्णु आदि नामों का सम्बोधन देकर भी निर्गुण-निराकार माना है। वैष्णवों के अवतारी नाम देकर भी वे ब्रह्म को उनके समान अवतारधारी नहीं मानते-

“ना जसरथ घरि औतरी आवा, ना लंका का राव सतावा।

देवै कूखि न औतरि आवा, मां जसवै लै गोद खिलावा।

ना वो ग्वालन के संग फिरिया, गोबरधन लै न कर धरिया।

बावन होइ नहीं बलि छलिया, धरनी वेद ले न उधरिया॥”

उनकी उक्तियाँ सगुण भक्त कवियों के समान ही प्राप्त होती हैं। उन स्थलों पर प्रेमातिरेक ने कबीर को सगुण भक्तों की भावभूमि पर ही पहुँचा दिया है-

“माधो मैं ऐसा अपराधी, तेरी जनमि होत नहीं साधी।

कारनि कवन आइ जग जनम्याँ, जनमि कवन सचु पाया।

भौ जल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया।

तुम्ह कृपाल दयाल दमोदर, भगत बछल भौ हारी॥

कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी॥”

अतः यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्म को निर्गुण मानकर भी कबीर उसके सगुण स्वरूप से अछूते नहीं रहे हैं, इसकी यत्किंचित् स्वीकृति उनके निम्न कथन में भी प्राप्त होती है-

“संतो धोखा का सों कहिये।

गुण में निर्गुण निर्गुण में गुण है, बाट छांडि क्या बहिए॥”

अतः हम कह सकते हैं कि कबीर का ब्रह्म अधिकांशतः अद्वैतीस्वरूप का निर्गुण, निराकार, निरुपाधि है, किन्तु कहीं-कहीं उसमें सगुण भावनाओं के लिए भी स्थान है। इसका कारण कबीर की प्रेमाभक्ति और उपनिषदों का ब्रह्म को विरुद्ध धर्माश्रयी चित्रित करना है, जिसका प्रभाव इन पर पड़ा है।

14.2 माया

कबीर ने माया का वर्णन अद्वैतियों के ही समान मिथ्या मानकर किया है। कबीर की माया धर्म और स्वभाव से सांख्यवादियों की प्रकृति से बहुत मिलती-जुलती है। सांख्यानुरूप ही कबीर ने इसे ब्रह्म से सम्बद्ध और त्रिगुणात्मक प्रकृतियुक्त माया कहा है-

“राजस तामस सातिग तीन्यू ये सब तेरी माया॥”

माया ने समस्त संसार को अपने वश में कर चरित्र भ्रष्ट कर रखा है। इसलिए कबीर ने इसे व्यभिचारिणी तक कह डाला है-

“तू माया रघुनाथ की, खेलइ चढ़ी अहेडै।

चतुर चिकारे चुणि-चुणि मारे, कोइ द छोड्या नेडे॥

मुनियर पीर डिगंबर मारे, जतन करता जोगी।

जंगत महि के जंगम मारे, तूरे फिरै बलिवंती॥

वेद पढ़न्त ब्राह्मण मारा, सेवा करता स्वामी।

अरथ करता मिसर पछाड्या, तू रे फिरै मैमंती॥”

नोट

× × ×

दास कबीर राम के सरनै, ज्यूं लागी त्यूं तोरी॥

केवल प्रभु के दास ही इससे मुक्त हैं, अन्यथा और सब तो इसके बन्धन में आबद्ध हैं। यदि कोई माया से बचकर रहता है तो भी यह उसे अपने फंदे में फँसा लेती है—इससे त्राण का एकमात्र उपाय प्रभु-भक्ति है। इसी भक्त के सम्बल से कबीर ने इसे विजित किया है—

“कबीर माया पापणीं, फंध ले बैठी हाटि।

सब जग तो फंधै पड्या, गया कबीरा काटि॥”

इससे त्राण का एक और भी उपाय कबीर ने बताया है, वह यह कि एक बार यदि भक्त इसके मिथ्यात्व को हृदय में समझ ले और इसे मिथ्या मान इससे दूर रहने का उपाय करे तो फिर यह दासी की ताई चारों ओर लगी-लगी फिरती है—

“कबीर माया मोहनी, मांगी मिलै न हाथि।

मनह उतारी झूठ करि, तब लागी डोलै साथि॥”

इसी विकर्षण से आकर्षण वाली बात को कबीर ने दूसरे प्रकार से कहा है—

“जो काटो तो डहडही सींचो तो कुम्हलाय।

इस गुणवन्ती बेल का, कुछ गुण कहा न जाय॥”

इसी सिद्धान्त को अपनाकर सन्त लोग, हंसात्माएँ माया को दासी बनाकर रखती हैं, जिसका वर्णन कबीर ने इन शब्दों में किया है—

“माया दासी संत की, ऊँची देह असीम।

विलसी अरु लातौं छड़ी, सुमरि सुमरि जगदीस॥”

14.3 संसार

कबीर ने अद्वैतियों के ही समान ‘ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या’ के सिद्धान्त को अपनाकर संसार का वर्णन किया है। वह सर्वत्र संसार की सत्ता को मिथ्या मानते हैं और अद्वैतियों के ही समान उसके मिथ्या भाव को प्रकट करने के लिए सेमल फूल, आकाश-नीलिमा, धुआँ-धरौहर आदि के उपमान प्रयुक्त करते हैं।

“दिन दहूँ चहूँ कै कारणै, जैसे सेमल फूले।

झूठी सूँ प्रीति लगाइ करि, साचै कूँ भूले॥”

× × ×

“दिनां चारि के सुरंग फूल, तिनहि देखि कहा रह्यौ है भूल।

या बनासपति मैं लागैगी आगि, तब तू जैहौ कहां भागि॥”

ईश्वर स्मरण के बिना यह मिथ्या संसार, जिसकी क्षणिक स्थिति है, और भी अधिक दुखदायी है, क्योंकि सर्वदा कच्चे धागे में लटकी तलवार की भाँति काल सिर पर खड़ा रहता है—

“रामां बिनां संसारधंध कुहेरा,

सिरि प्रगटया जंम का फेरा॥”

इस संसार का नाश सर्वथा निश्चित है, इसकी उत्पत्ति और प्रलय में कुछ समय नहीं लगता, वह भी पूर्ण अनिश्चित है—

“नर जाणे अमर मेरी काया, धर धर बात दुपहरी छाया॥

मारग छाड़ि कुमारग जोवैं, आपण मरै और कूँ रोवैं॥

कछु एक किया कछु एक करणां, मुगध न चेतै निहचै मरणा॥

ज्यूं जल बूँद तैसा संसारा, उपजत बिन सत लगै न वारा॥”

कबीर का विश्वास है कि इस दुःख-सुखमय संसार से तब तक छुटकारा नहीं हो सकता, जब हमारा मन निष्कलुष न हो—

“जब लग मनहिं विकारा, तब लागि नहीं छूटै संसारा।

नोट

जब मन निर्मल करि जाना, तब निर्मल माहिं समाना॥”

कबीर का विश्वास है कि इस संसार में जो जीवन मिला है, वह हमारे पिछले कुछ पुण्यों का फल है, अन्यथा 84 लाख योनियों में से किसी भी एक में हो सकते थे। इसलिए मनुष्य जन्म पा सत्कर्मों का व्यापार करना यहाँ अत्यन्त आवश्यक है—

“चोखौ बनज ब्यौपार करीजै,

आड़नै दिसावरि रे राम जपि लाहौ लीजै॥”

अब कबीर तो इस व्यापार को करने में पूर्ण दक्ष हो गये हैं और उन्होंने सत्कर्मों की पूँजी संचित कर ली है, इसीलिए काल रूपी दलाल का भी उन्हें भय नहीं रहा—

“रे जम नाहि नवै ब्यौपारी, जे भरै जगाति तुम्हारी।

वसुधा छाड़ि वनिज हम कीन्हों, लाद्यौ हरि को नाऊँ।

राम नाम की गुँनि भराऊँ हरि कै टाँडै जाऊँ॥”

इसी भाँति ‘चदरिया झीनी वीती’ में कबीर ने यही अभिव्यक्त किया है कि इस संसार में प्राप्त मानव जीवन को निष्कलंक रख सत्कर्मों का बनिज करना चाहिए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. कबीर का ब्रह्म उपनिषदों के से ही अधिक प्रभावित है।
2. कबीर की ब्रह्म-भावना आदि से अंत तक है।
3. कबीर की माया धर्म और स्वभाव से की प्रकृति से बहुत मिलती जुलती है।
4. कबीर ने माया का वर्णन अद्वैतियों के ही समान मानकर किया है।

14.4 जीवात्मा और शरीर

जहाँ तक आत्मा का सम्बन्ध है, कबीर ने सदैव उसे परमात्मा का अंश माना है। जिस प्रकार अद्वैतवादियों ने उपनिषदों का आधार लेकर ब्रह्म और आत्मा की एकता को प्रस्थापित किया, उसी भाँति कबीर ने भी अंश-अंशी भाव की अवस्थिति सर्वत्र मानी है। अपने रहस्यवाद में सर्वत्र उन्होंने आत्मा और परमात्मा का ऐक्य प्रस्थापित किया है—

“प्रीतम कूँ पतियां लिखूँ, जौ कहीं होय विदेस।

तन में मन में नैन में, ताकौ कहा संदेस॥”

इसी अद्वैतवाद के आधार पर ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए आत्मा विकल है। यह विरह—वियुक्तावस्था—क्षणिक है, इसी भाव को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

“सेई तुम्ह सेई हम एक कहियत, जब आपा पर नहीं जाना।

ज्यूँ जल में पैसि न निकसै, कहै कबीर मन माना॥”

आत्मा और परमात्मा का यह पृथक्त्व माया के कारण है, माया का आवरण हटते ही आत्मा और परमात्मा पुनः एक हैं। यह उसी भाँति है, जिस प्रकार जल में तैरते हुए कुम्भ में भी लहर वाला जल है, किन्तु दोनों एक जैसे होते हुए भी अलग-अलग हैं। दोनों का मिलन तभी संभव है, जब कुम्भ (शरीर-माया) की सत्ता समाप्त हो जाए—

“जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।

फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, इति तथ कथ्यो ग्यानी॥”

इसीलिए जब आत्मा परमात्मा की खोज में चली तो उसे सर्वत्र परमात्मा दृष्टिगत हुआ—

नोट

“लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल।

लाली देखन मैं गयी, मैं भी हो गयी लाल॥”

इस प्रकार अन्ततः आत्मा और परमात्मा एक ही है। जहाँ तक शरीर का सम्बन्ध है, कबीर का भाव है कि जो कुछ समस्त बिम्ब-ब्रह्माण्ड में है, उस सबकी सत्ता शरीर में है, शरीर में ब्रह्माण्ड का ही लघु संस्करण है—

“ब्रह्मण्डे सो प्यण्डे जानि।”

किन्तु इस शरीर की स्थिति बड़ी क्षणिक है—

“पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात।

देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात॥”

अन्यत्र भी उसकी क्षणिकता का प्रतिपादन बड़े सुन्दर एवं नवीन उपमानों द्वारा कवि ने किया है। शरीर के लिए सर्वाधिक सुन्दर अंजलि के जल से दी है। अंजलि में रोका हुआ जल प्रतिपल रिसता रहता है, साथ ही किसी भी समय अंजलि खुल जाने पर उसका अस्तित्व ही समाप्त हो सकता है—

“तन धन जौवन अंजुली कौ पानी, जात न लागै बार।”

× × ×

“जल अंजुली जीवन जैसा, ताका है किसा भरोसा॥”

साथ ही कबीर का यह भी विश्वास है कि शरीर-पूर्ति के लिए नाना पाप-कर्म करने से कोई लाभ नहीं, क्योंकि यह मिथ्या है। दूसरे हम जिनके लिए पाप-बोझ ढोते हैं, मृत्यु हो जाने पर, पंच तत्वमय शरीर की सत्ता समाप्त हो जाने पर, किसी का भी राग इससे नहीं रह जाता है—

“मुठी एक मठिया मुठि एक कठिया, संगि काहू कै न जाइ।

देहली लग तेरी मिहरी सगी रे, फलसा लगी सग माइ।

मड़हट लूँ सब लोग कुटुम्बी, हंस अकेला जाइ॥”

इस संसार में शरीर का नाश-मृत्यु-उत्तनी ही निश्चित है जितना स्वयं निश्चित शब्द—

“जो ऊग्या सो आथवै, फूल्या सो कुमिलाइ।

जो चिणियाँ सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ॥”

आपको इस मृत्यु से बचाने वाला कोई नहीं। जो आज दूसरों की श्मशान-यात्रा कर शोकाकुल हो रहे हैं, वे भी निश्चित रूप से इसी भाँति श्मशान के दर्शन करेंगे—

“रोवणहारे भी मुए, मुए जलावणहार।

हा हा करते ते मुए, कासनि करौं पुकार॥”

इस शरीर को धारण करने में बारम्बार मातृगर्भ में रह अमिट वेदना सहनी पड़ती है, इसका एक ही उपाय है—मोक्ष। यह मोक्ष या मृत्यु व्यक्ति को अपने सत्-कार्यों एवं अनन्य तथा दृढ़, ईश्वर-भक्ति से प्राप्त होती है। मुक्ति-प्राप्त कर भक्त भगवान्, अंश-अंशी, आत्मा-परमात्मा एक हो जाते हैं, दोनों में कोई भेद नहीं रह जाता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर के दार्शनिक विचार वेदान्ती हैं। दर्शन-क्षेत्र में निश्चित रूप से उन पर शुद्ध भारतीय प्रभाव है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

5. कबीर ने को सदैव परमात्मा का अंश माना है।

(क) आत्मा

(ख) मनुष्य

(ग) शरीर

(घ) इनमें से कोई नहीं

6. अद्वैतवाद के आधार पर ब्रह्म के के लिए आत्मा विकल है।

(क) साक्षात्कार

(ख) स्वरूप

(ग) ज्ञान

(घ) इनमें से कोई नहीं

7. आत्मा और परमात्मा का पृथक्त्व के कारण है।

नोट

(क) शरीर

(ख) माया

(ग) संसार

(घ) ईश्वर

8. कबीरदास कहते हैं कि को न दिन में और न रात में सुख है और न स्वप्न में।

(क) रामभक्ति

(ख) रामवियोगी

(ग) कृष्णभक्त

(घ) इनमें से कोई नहीं

14.5 विरह कौ अंग

अंग-परिचय—प्रेम की परिपूर्णता एवं परिपक्वता के लिए विरह आवश्यक माना गया है। विरह के द्वारा ही आत्मा-परमात्मा की ओर और भी दृढ़ता के साथ उन्मुख होती हैं। इसीलिए प्रत्येक शाखा के भक्ति-काव्य में, चाहे वह सगुण का उपासक हो चाहे निर्गुण का, विरह का विधान किया गया है। प्रस्तुत अंग में कबीर ने भी परमात्मा के प्रभाव में और उसके दर्शन करने की तीव्र उत्कंठा में आत्मा के विरह का वर्णन किया है। कबीर कहते हैं कि उनकी आत्मा क्राँच पक्षी की भाँति प्रियतम से मिलने के लिए चीत्कार कर रही है। क्राँच पक्षी का विरह तो केवल कुछ ही समय का होता है, क्योंकि प्रातःकाल होते ही वे दोनों फिर परस्पर मिल जाते हैं, किन्तु परमात्मा का विरह तो अनंत है। जो जन राम से बिछुड़ जाते हैं, वे उन्हें कभी भी प्राप्त नहीं कर पाते। विरह की इसी अनंतता के कारण आत्मा इतनी दुःखी हो जाती है कि उसे न तो दिन को सुख मिलता है और न रात को, बल्कि स्वप्न में भी उसे सुख की प्राप्ति नहीं होती।

विरहिणी आत्मा अपने प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए बहुत ही आतुर है। वह रात-दिन उसके पथ पर खड़ी हुई उसकी प्रतीक्षा करती रहती है और प्रत्येक पथिक से उनके आने का समाचार पूछती रहती है। बिना प्रियतम के मिले उसे पलभर के लिए भी चैन नहीं मिलता। विरह के कारण वह इतनी दुर्बल हो गई है कि यदि राम के दर्शन की इच्छा से वह ऊपर उठती भी है तो उससे खड़ा नहीं रहा जाता और शारीरिक दुर्बलता के आधिक्य के कारण उठते ही फिर गिर पड़ती है। उसकी अवस्था मृतप्राय हो गई है और मरने के पश्चात् यदि प्रभु की प्राप्ति होगी तो उससे कोई लाभ नहीं होगा, क्योंकि लोहे के टुकड़ों के समाप्त होने के पश्चात् यदि पारस पत्थर की प्राप्ति हो तो उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता।

विरह का दुःख बड़ा ही अनोखा एवं विलक्षण है, क्योंकि इसमें न तो विरहिणी ही प्रियतम तक जा पाती है और न प्रियतम ही उससे मिलने आता है। इस प्रकार विरहिणी का मन विरह की तीव्र ज्वाला में जल-जलकर भस्म होता रहता है। इस अवस्था में विरहिणी के पास केवल एक ही उपचार रह जाता है कि वह अपने शरीर को विरहाग्नि में जलाकर भस्म कर दे और अपने धुएं को स्वर्ग तक पहुँचा दे। हो सकता है, उस धुएं को देखकर ही दयालु प्रियतम के मन में कुछ करुणा का उद्रेक हो।

विरह की यह पीड़ा बड़ी ही अद्भुत होती है। इसका चाहे जो उपचार किया जाये, किन्तु इसकी वेदना कम नहीं होती। इसकी वेदना का अनुभव केवल दो ही व्यक्ति कर सकते हैं—एक तो वह जिसे वेदना हो रही है और दूसरा वह जिसने वेदना दी है। यह विरह उस सर्प के समान है जिसके विष को किसी प्रकार का भी मंत्र नहीं उतार सकता। वस्तुस्थिति तो यह है कि राम का वियोगी जीवित ही नहीं रह सकता और यदि रह भी जाये तो वह पागल हो जाता है। इस विरह सर्प के दर्शन को धीरता से सहन करना चाहिए, क्योंकि यदि मन में अधैर्य का भाव आ गया तो प्रेम को क्षति पहुँचेगी और फिर प्रियतम का मिलन असम्भव हो जाएगा। वस्तुतः प्रेम-क्षेत्र के अनुभव को कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है।

इतना पीड़ादायक होने पर भी इस विरह को बुरा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि जिस हृदय में विरह का संचार नहीं होता, वह तो श्मशान के समान शून्य और भयानक है। अतः कबीर अपने विरह की तीव्रता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रियतम का पथ देखते-देखते मेरे नेत्र की ज्योति मंद हो गई है, उसका नाम रटते-रटते जीभ में छाले पड़ गये हैं। मैं इस शरीर का दीपक बनाकर और उसमें प्राणों की बाती डालकर जला रही हूँ क्योंकि न जाने मेरी दयनीय अवस्था देखकर प्रियतम को कुछ दया आ जाये और वह आकर मुझे दर्शन दे दें। मेरे नेत्रों से निरन्तर पानी का झरना बहता रहता है और मैं अहर्निश पपीहे की भाँति प्रियतम का नाम रटती रहती हूँ। प्रेम की कसौटी

नोट

पर रखी जाने के कारण मेरी आँखें लाल हो गई हैं, जिनके कारण संसार के लोग इन्हें दुखिया समझते हैं, किन्तु आँखों की लाली या आँसू देखकर सच्चे प्रेम की पहचान नहीं की जा सकती, क्योंकि आँसू तो दुर्जन और सज्जन दोनों की आँखों से समान रूप से निकलते हैं। सच्चा प्रेमी और सच्चा विरही तो वही व्यक्ति माना जा सकता है जिसकी आँखों से आँसुओं के स्थान पर रक्त निकले।

विरह से ही प्रियतम की प्राप्ति हो सकती है, अतः जो प्रियतम को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें हँसना छोड़कर रोने से ही हेतु लगाना चाहिए, किन्तु यह अवस्था भी बड़ी कठिन है। क्योंकि रोने से बल घटता है और हँसने से प्रियतम अप्रसन्न होता है। अतः विरही न तो रो सकता है और न हँस सकता है बल्कि वह अपने अन्दर ही अन्दर इस प्रकार क्षीण होता रहता है, जिस प्रकार लकड़ी को घुन लग जाता है। हँसी तो प्रेम में सर्वथा वर्जनीय है क्योंकि जिसने भी अपना प्रियतम प्राप्त किया है वह रो-रोकर ही किया है यदि हँसी से ही प्रियतम की प्राप्ति होने लगे तो फिर इस संसार में विरही अथवा विरहिणी कोई भी नहीं रहे। विरह-वेदना इतनी कष्टप्रद होती है कि इसमें विरहिणी की केवल दो ही अभिलाषाएँ रह जाती हैं—या तो विरहिणी मर जाये अथवा उसे उसका प्रियतम मिल जाये। चाहे जो हो विरहिणी हर प्रकार से अपने प्रियतम को प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध हो जाती है, चाहे उसके नेत्र प्रियतम का मार्ग देखते-देखते ज्योति-विहीन हो जायें, चाहे विरह की आग में जल-जलकर उसका शरीर भस्म हो जाये। अतः प्रियतम से मिलने का और प्रेम को परिपक्व करने का केवल एक ही मार्ग है—प्रियतम के विरह में अहर्निश जलते रहता।

रात्यूं रूनी बिरहनीं, ज्यूं बंचौ कुं कुंज।

कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज॥1॥

शब्दार्थ—रात्यूं—रातभर। अंतर—हृदय। पुंज—समूह।

व्याख्या—परम तत्व की विरहिणी आत्मा रात्रि भर इस प्रकार रोती रही, जिस प्रकार वियुक्त क्रौंच पक्षी करुण चीत्कार करता रहता है। कबीर जी कहते हैं कि विरह समूह के प्रकट होने से हृदय वियोग-ज्वाला में दग्ध हो रहा है।

विशेष—रूपक। प्रस्तुत रूपक में रूढ़ मिथ्य का प्रयोग है। सुमित्रानन्दन पन्त ने भी कविता की उत्पत्ति के संबंध में इस मिथ्य का प्रयोग किया है।

अंबर कुंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।

जिनि थैं गोबिन्द बीछुटे, तिनके कौण हवाल॥2॥

शब्दार्थ—अंबर = आकाश। हवाल = रक्षक।

व्याख्या—आकाश ने क्रौंच एवं कुररि पक्षियों की विरहानुभूति पर करुणार्द्र हो बरस कर समस्त ताल जल से परिपूर्ण कर दिये, इन विरहियों की पुकार तो बादल ने सुन भी ली किन्तु जो प्रभु वियुक्त हैं, उनका रक्षक तो (प्रभु के अतिरिक्त) और कोई नहीं है।

विशेष—शब्द-शक्ति उद्भव वस्तु से अलंकार ध्वनि है, व्यतिरेक अलंकार ध्वनित है।

चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति।

जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति॥3॥

व्याख्या—रात्रि की बिछुड़ी हुई चकवी अपने चकवे से प्रभात के आगमन पर मिल जाती है, किन्तु जो राम से वियुक्त हैं वे तो दिन या रात कभी उनसे नहीं मिल पाते।

विशेष—1. एक प्रकार से कबीर के इस वियोग का उद्दीपन विभाव-वर्णन है जिसमें विरहिणी आत्मा को एक वियुक्तयुग्म का मिलन देखकर अपना मिलना खटकता है।

2. यह विश्वास है कि चकवा और चकवी दिन छिपते ही अलग-अलग होकर एक-दूसरे के विरह में तड़पते हैं और प्रभात में मिल जाते हैं।

वासुरि सुख, नां रैणि सुख, नां सुख सुपिनै माहिं।

कबीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छाँह॥4॥

शब्दार्थ—वासुरि = दिन।

व्याख्या—कबीर जी कहते हैं कि रामवियोगी को न दिन में और न रात में सुख है और न स्वप्न में—उसे प्रिय की वियोग-व्यथा ही व्यथित किये रहती है। धूप या छाँह—कहीं भी उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

विशेष-प्रस्तुतालंकार, विप्रलम्भ शृंगार।

नोट

बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।

एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ॥5॥

शब्दार्थ-ऊभी = खड़ी हुई। पंथ सिरि = मार्ग के किनारे। कबर = कब।

व्याख्या-विरहिणी मार्ग में प्रिय की प्रतीक्षा में खड़ी आते-जाते पथिक से जिस प्रकार उत्कण्ठा सहित प्रिय आगमन का समाचार पूछती है उसी प्रकार साधक की ब्रह्म वियुक्त आत्मा गुरु से प्रिय (ब्रह्म की) चर्चा सुनती हुई यह जानना चाहती है कि प्रभु से कब भेंट होगी।

विशेष-प्रस्तुतालंकार। (लौकिक एवं आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना एक ही विभाव के माध्यम से युगपत् रूप से हो रही है, अतः यहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत का निर्णय न होने से प्रस्तुतालंकार है।)

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।

जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाही विश्राम॥6॥

शब्दार्थ-सरल है।

व्याख्या-हे राम! मैं (विरहिणी आत्मा) तुम्हारी प्रतीक्षा बहुत समय से कर रही हूँ। मेरे प्राण तुम्हारे दर्शन के लिये तृपित हैं और मन बिना दर्शन व्याकुल है।

विशेष-प्रस्तुतालंकार, विप्रलम्भ शृंगार।

बिरहिन ऊठै भी, पड़ै दरसन कारनि राम।

मूवां पीछै देहुगे, सो-दरसन किंहि काम॥7॥

शब्दार्थ-मूवा = मरने पर। सोदरसन = सुदर्शन।

व्याख्या-हे राम! यदि आपके दर्शनों की उत्सुकता में विरहिणी उठती भी है तो क्षीणकाय होने के कारण गिर-गिर पड़ती है, अर्थात् आपके विरह में वह अत्यन्त कृशकाय हो गई है। उसने मरणोपरान्त यदि आपने रोग निवारक सुदर्शन चूर्ण-अपना सौन्दर्यमय स्वरूप दर्शन दिया तो वह किस प्रयोजन का?

विशेष-“का बर्षा जब कृषी सुखाने” से तुलना कीजिए।

मूवां पीछै जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।

पाथर घाटा लोह सब, (तब) पारस कोणै काम॥8॥

शब्दार्थ-मूवां = मृत्यु। जिनि = यदि।

व्याख्या-कबीर जी कहते हैं कि हे प्रभु! यदि आपका दर्शन मृत्यु के पश्चात् हुआ तो वह किस प्रयोजन का? वह तो उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार कोई पारस पत्थर की प्राप्ति के लिए लोहे को प्रत्येक पत्थर से घिस कर समाप्त कर दे और तब उसे पारस पत्थर की प्राप्ति हो।

विशेष-प्रस्तुतालंकार है। दृष्टान्त अलंकार द्वारा वेदना की व्यंजना में सहायता मिली है। वियोग शृंगार का उत्तम परिपाक है।

अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेशौ कहियां।

कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पास गयां॥9॥

शब्दार्थ-अंदेसड़ा = आशंका, अंदेश। भाजिसी = नष्ट होता है।

व्याख्या-विरहिणी आत्मा किसी दूत से कहती है कि मेरी प्रिय मिलन में असफलता की आशंका नष्ट नहीं होती। अतः तुम प्रभु से कहना कि या तो वे स्वयं भागकर शीघ्र मेरे पास आ जायें, अथवा फिर मुझे ही उनके पास आना पड़ेगा।

विशेष-प्रस्तुतालंकार है। विप्रलम्भ शृंगार का उत्तम परिपाक हुआ है।

आइ न सकौं तुझ पै, सकूं न तुझै बुलाइ।

जियरा यौही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ॥10॥

शब्दार्थ-जियरा = जीव, प्राण। लेहुगे = लगे।

व्याख्या-कबीर की वियोगिनी आत्मा कहती है कि मैं तेरे पास भी नहीं आ सकती क्योंकि मैं इतनी समर्थ

नोट

नहीं हूँ। (भाव यह है कि मैं अभी माया में संलिप्त हूँ) और तुझे अपने पास नहीं बुला सकती क्योंकि मैं अभी सर्वात्म-समर्पण नहीं कर सकी, जो तुझे आकृष्ट कर मेरे पास तक ले आये। अतः यही दिखाई देता है कि तुम हमारे प्राणों को इसी प्रकार विरह में तपाते-तपाते समाप्त कर दोगे।

विशेष—प्रस्तुतालंकार। विप्रलम्भ शृंगार का उत्तम परिपाक।

यह तन जालौं मसि करूं, ज्यूं धूवां जाइ सरगि।

मति वै राम दया करै, बरसि बुझावै अगि॥11॥

शब्दार्थ—मसि = क्षार, राख । सरगि = स्वर्ग। मति = संभव है। अगि = आग। विरह = दुःख।

व्याख्या—विरह की इस असहनीय अवस्था में यह इच्छा होती है कि मैं अपना यह शरीर भस्म कर क्षार कर दूँ, जिससे मेरी अस्थियों का जो धुआँ आकाश में फैलेगा, तो सम्भव है, वे दयानिधि राम दयार्द्र होकर अपनी कृपा-दृष्टि के वारि से उस अग्नि को बुझावें।

विशेष—प्रस्तुतालंकार है। रूपकातिशयोक्ति एवं संबंधातिशयोक्ति भी यहाँ हैं। विप्रलम्भ शृंगार का उत्तम परिपाक है।

यह तन जालौं मसि करों, लिखौं राम का नाउँ

लेखणि करूं करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ॥12॥

शब्दार्थ—करंक = अस्थि-पंजर । पठाउँ = भेजूँ।

व्याख्या—विरहिणी कहती है कि यह इच्छा होती है कि इस शरीर को जलाकर स्याही बना लूँ और अस्थियों की लेखनी, इससे राम का नाम लिखूँ और लिख-लिखकर अपने प्रभु राम को भेजूँ, कदाचित् इस कृत्य से प्रसन्न होकर वे दर्शन दें।

विशेष—प्रस्तुतालंकार, संबंधातिशयोक्ति, विप्रलम्भ शृंगार का परिपाक।

कबीर पीर पिरावनीं, पंजर पीड़ न जाइ।

एक ज पीड़ परीति की, रही कलेजा छाड़॥13॥

शब्दार्थ—पीर = वेदना। पिरावनीं = कसकपूर्ण । पंजर = शरीर । परीति = प्रीति, प्रेम।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि पीड़ा बड़ी वेदनापूर्ण होती है, शरीर की पीड़ा ही इतनी कसकमय होती है कि उपचार करने पर भी नहीं जाती, फिर प्रेम की जो पीड़ा है वह तो सर्वथा ही उपचार से बाहर है, वही असह्य पीड़ा मेरे हृदय में समा गई है।

विशेष—अर्थ शक्ति-उद्भव वस्तु से व्यतिरेक अलंकार ध्वनित है। विप्रलम्भ शृंगार ।

चोट सताणीं बिरह की, सब तन जर जर होइ।

मारणहारा जाणिहै, कै जिहिं लागी सोइ॥14॥

शब्दार्थ—सताणीं = व्यथित करती है। जर-जर = जीर्ण, कृश।

व्याख्या—विरह की चोट बड़ी व्यथित करती है, इसकी वेदना से शरीर कृशकाय हो जाता है। इस पीड़ा का अनुभव केवल दो को ही होता है— एक तो उसको जो उसे भोग रहा है तथा दूसरे उसको जो इस पीड़ा को प्रदान करता है।

विशेष—प्रस्तुतालंकार, विप्रलम्भ शृंगार।

कर कमाण सर सांधि करि, खैंचि जु मार्या माहि।

भीतरि भिद्या सुमार है, जीवै कि जीवैं नाहि॥15॥

शब्दार्थ—सांधि करि = साधकर। सुमार = गहरी चोट।

व्याख्या—भगवान् रूपी प्रियतम ने हाथ में धनुष धारण कर खींचकर ऐसा प्रेमबाण चलाया है कि वह हृदय के आरपार हो गया। हृदय प्रेममय ही हो गया। उसके प्रेम-तीर की यह चोट इतनी गहरी लगी है कि जीवन जन्म और मरण के मध्य झूल रहा है, अर्थात् प्रभु प्रेम उसे अपनी ओर खींचता है और सांसारिक आकर्षण अपनी ओर।

विशेष—रूपक द्वारा क्रिया-बिम्ब का गठन हुआ है, जिससे विप्रलम्भ के उत्तम परिपाक में सहायता मिल रही है।

नोट

जबहूँ मारया खैंचि करि, तब मैं पाई जाणि।
लागी चोट मरम्म की, गई कलेजा छाणि॥16॥

शब्दार्थ—जाणि = जान, ज्ञान । मरम्म = मर्मन्तक । छाणि = बींधना ।

व्याख्या—जब गुरुवर ने पूर्ण शक्ति के साथ खींचकर उपदेश द्वारा प्रेम रूपी बाण चलाया तभी मुझे ज्ञात हुआ कि इस प्रेम-बाण की मर्मन्तक चोट मेरे हृदय के पार हो गई। भाव यह है कि प्रेम से तन-मन बिंध गया।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति विप्रलम्भ शृंगार के परिपाक में सहायक है।

जिहि सरि मारी काल्हि, सो सर मेरे मन बस्या।
तिहि सरि अजहूँ मारि, सर बिन सच पाऊँ नहीं॥17॥

शब्दार्थ—सरि = बाण। सच = सुख, शान्ति।

व्याख्या—हे गुरुदेव! जिस प्रेम बाण से आपने मुझ पर चोट की, वह मेरे मन में बस गया है। वह बाण स्वर-वाणी का अर्थात् प्रेमोपदेश का था। उसी (वाणी के) बाण को मेरे आज भी मार, क्योंकि उसके बिना मुझे शान्ति नहीं।

विशेष—कैसा विरोधाभास है जो बाण शरीर को बींधता है, वही प्रिय लग रहा है, यह कबीर जैसे प्रेमी के लिए ही संभव है।

बिरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम बियोगी ना जिव, जिवै तो बौरा होइ॥18॥

शब्दार्थ—भुवंगम = सांप । बौरा = पागल।

व्याख्या—विरह रूपी सर्प शरीर की बांबी में घुसा बैठा है, उसे कोई भी मंत्र (साधक) बाहर निकालने में समर्थ नहीं हो सकता। प्रभु का वियोगी तो जीवित ही नहीं रह सकता, वह जीवन-मुक्त हो जाता है और यदि जीवित रहता है तो सांसारिक कर्तव्यों आदि से पूर्ण असम्पृक्त हो जाता है जिसे लोग पागल कहने लगते हैं।

विशेष—1. प्रथम चरण में सर्प को पकड़ने की क्रिया से विरह की तुलना है, बांबी में से सर्प को मन्त्रबल से निकालकर वशीकृत किया जाता है।

2. रूपक अलंकार।

बिरह भुवंगम पैसि करि, किया कलेजैं घाव।
साधू अंग न मोहड़ी ज्यूं भावै त्यूं खाव॥19॥

शब्दार्थ—पैसि करि = पैठ कर, प्रवेश कर। अंग न मोहड़ी = विचलित नहीं होते।

व्याख्या—विरह रूपी सर्प ने शरीर में प्रवेश कर हृदय में घाव कर लिया है, किन्तु इस वेदना से साधुजन विचलित नहीं होते। जैसे उसकी इच्छा होती है, उस रूप में उसे अपने को खाने देते हैं। भाव यह है कि साधक विरह की कठोर यातनाओं से पथ-विचलित नहीं होते।

विशेष—रूपक अलंकार।

सब रंग तंतर बाबतन, विरह बजावै नित।
और न कोई सुणि सकै, कै साई कै चित॥20॥

शब्दार्थ—रंग = रंग, शिराएँ । तंतर = पशु चर्म निर्मित तांत जो तन्त्री में प्रयुक्त होती है। बाब = इकतारे के समान तन्त्री जिसे जोगी बजाते फिरा करते हैं।

व्याख्या—शरीर रूपी तन्त्री पर शिराओं रूपी तांतों को विरह नित्य बजाता है। विरह वेदना से है शिरोपरशिराएँ झंकृत रहती हैं। इससे निस्सृत संगीत को कोई तीसरा नहीं सुन सकता। या तो उसे प्रियतम ही सुन सकते हैं और या मेरा हृदय ही प्रेम-क्षेत्र के अनुभव ऐसे हैं जिन्हें भुक्त-भोगी ही जान सकते हैं।

विशेष—रूपक, विप्रलम्भ शृंगार।

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान॥21॥

शब्दार्थ—बुरहा = बुरा। जिनि = मत। सुलितान = राजा । मसान = श्मशान।

नोट

व्याख्या—हे मनुष्यो! विरह को बुरा मत बताओ, वह तो राजा के समान सर्वोपरि है— संयोग से भी ऊपर है। जिस हृदय में विरह का संचार नहीं होता वह सर्वदा शमशान की भाँति शून्य है, निर्जीव है।

विशेष—रूपक।

अंघड़ियां झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।

जीभड़ियां छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥22॥

शब्दार्थ—अंघड़ियां = नेत्र । झाँई = मन्द।

व्याख्या—प्रिय-आगमन का मार्ग तकते-तकते मेरी नेत्र-ज्योति मन्द पड़ गई है एवं राम को पुकारते-पुकारते मेरी जीभ में छाले पड़ गए हैं। प्रियतम! मैं कब से तुम्हारी बाट जोह रही हूँ।

विशेष—अतिशयोक्ति अर्थ-शक्ति-उद्भव वस्तु से वस्तु ध्वनि। ध्वनित है—‘ईश्वर के प्रेम में तप्त होते रहना अपेक्षित है।’

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्युँ जीव।

लोही सींचौ तेल ज्युँ, कब मुख देखौ पीव॥23॥

शब्दार्थ—दीवा = दीपक। मेल्युँ = डालूँ। जीव = प्राण। लोही = रक्त।

व्याख्या—मैं अपने शरीर रूपी दीपक में प्राणों की वर्तिका डालकर और उसका लोहूरूपी तेल स्नेह से अभिषिचन कर न जाने कब से प्रिय आगमन का मार्ग देख रही हूँ, न जाने कब उनका मुख निहार सकूँगी।

विशेष—1. औत्सुक्य संचारी की व्यंजना हुई है।

2. ईश्वर के मुख को देखने के लिए संभावित योजना के कारण यहाँ संभावना अलंकार है।

नैनां नीझर लाइया, रहट बहैं निस जाम।

पपीहा ज्युँ पिव पिव करौ, कबरु मिलहुगे राम॥24॥

शब्दार्थ—नैनां = नेत्रों से। नीझर = निझर। जाम = याम, प्रहर (दिन के)।

व्याख्या—मेरे नेत्रों से अहर्निश अश्रु-प्रवाह रहट की भाँति अवान्तर गति से चलता रहता है और मैं सर्वदा पपीहे की भाँति प्रिय-नाम रटती रहती हूँ। प्रियतम राम! तुम कब मिलोगे?

विशेष—1. गम्योत्प्रेक्षा एवं उपमा की संसृष्टि है।

2. अश्रु सात्विक की व्यंजना हुई है।

अंघड़ियां प्रेम कसाइयाँ, लोग जाँणें दुखड़िया।

साई अपणें कारणै, रोई रोड़ रंतड़िया॥25॥

शब्दार्थ—प्रेम कसाइयाँ = प्रेम की कसौटी पर कसी गई। साई = स्वामी, प्रिय।

व्याख्या—मेरी आँखें प्रेम की कसौटी पर लाल हो गई हैं। वे प्रिय-वियोग में निरंतर रोने के कारण लाल हो गई हैं और संसार यह अनुमान लगा रहा है कि ये दुखनी आ गई हैं।

विशेष—विप्रलम्भ शृंगार रस।

सोई आंसू सजणां, सोई लोक बिड़ाहि।

जे लोइण लोहीं चुवै, तौ जाणौं हेत हियाहि॥26॥

शब्दार्थ—सोई = वे ही। सजणां = सज्जनों के। लोक बिड़ाहि = लोक-बाह्य अर्थात् दुर्जनों के। लोइण = नेत्र। लोहीं = रक्त। चुवै = गिरता है।

व्याख्या—केवल मात्र अश्रु देखकर सच्चे प्रेम की पहचान नहीं की जा सकती, क्योंकि आँसू तो सज्जन और दुर्जन दोनों के समान रूप से गिरते हैं, किंतु जिन नेत्रों से रक्त के आँसू गिरें, वही सच्चे प्रेम की अवस्थिति जानो।

विशेष—अर्थ शक्ति-उद्भव वस्तु से अलंकार ध्वनि है, व्यतिरेक अलंकार ध्वनित है।

कबीर हसणां दूरि करि, कति रोवण सौं चित्त।

बिन रोयां क्यूँ पाइए, प्रेम पियारा मित्त॥27॥

शब्दार्थ—मित्त = मित्र, प्रियतम।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि हे मित्र! हँसना छोड़ दे; अर्थात् सुखमय जीवन को त्याग दे एवं रुदन अर्थात् प्रिय-वियोग की वेदना को ही अपना। बिना विरह की अनुभूति के प्रेम-पात्र को तू कैसे प्राप्त कर सकेगा?

विशेष—अनभिप्रेत रुदन को काम्य बताने के कारण यहाँ अनुज्ञा अलंकार है।

जौ रोऊँ तौ बल घटै, हँसौँ तौ राम रिसाइ।

मनही माँहि बिसूरणां, ज्यूं घुण काठहि खाइ॥28॥

शब्दार्थ—बिसूरणां = क्रंदन। घुण = घुन। काठहि = काष्ठ को।

व्याख्या—यदि मैं विरह में रोता हूँ तो मेरी शक्ति क्षीण होती है, हँसता हूँ तो राम को प्रिय नहीं है, क्योंकि बिना मिलन उल्लास क्यों और कैसे? अब मेरी आत्मा मन-ही-मन क्रंदन कर मुझे वैसे ही क्षीण करती रहती है जैसे घुन भीतर-ही-भीतर काष्ठ को काटकर खोखला बना देता है। भाव यह है कि विरह भीतर-ही-भीतर सालता रहता है।

विशेष—1. 'हँसौँ तो राम रिसाई' द्वारा 'पीड़ित जगत में मनुष्य का हँसना अनुचित है' की वस्तु-ध्वनि है।

2. उपमा।

हँसि हँसि कंत न पाइए, जिन पाया तिन रोइ।

जे हाँसैही हरि मिलै, तौ नहीं दुहागनि कोई॥29॥

शब्दार्थ—दुहागनि = दुर्भागिनी।

व्याख्या—हँस-हँसकर सांसारिक आनंद उड़ते हुए, किसी ने प्रभु को नहीं पाया है। जिसने भी उनकी प्राप्ति की है उसने उनके विरह की मर्मानुभूति की है। जो इस प्रकार भोगविलास द्वारा ब्रह्म, स्वामी की सुहागिन बन जायें तो कोई अभागिन रहे ही नहीं।

विशेष—अर्थान्तरन्यास।

हाँसी खेलौं हरि मिलै, तौ कौण सहै षरसान।

काम क्रोध त्रिष्णां तजै, ताहि मिलै भगवान॥ 30॥

शब्दार्थ—षरसान = तलवार।

व्याख्या—यदि प्रभु सुख-वैभव की विविध क्रीड़ाओं में प्राप्त हो जायें तो तलवार की धार के समान तीक्ष्ण विरह-वेदना का अनुभव करने के लिए कौन प्रस्तुत होगा। जो काम, क्रोध एवं तृष्णा का परित्याग कर देगा उसे ही भगवत्-प्राप्ति हो सकती है।

विशेष—तुलना कीजिए—

“अति तीक्ष्ण प्रेम को पंथ महा, तलवार की धार पै धावनौ है।”

पूत पियारो पिता कौं, गौहनि लागा धाइ।

लोभ मिठाई हाथि दे, आपण गया भुलाइ॥ 31॥

शब्दार्थ—पूत = पुत्र। गौहनि = साथ। आपण = अपनापन।

व्याख्या—आत्मा रूपी पुत्र प्रभु रूपी पिता के प्रेम के कारण उसके साथ के लिए दौड़ पड़ा, किंतु वह पिता लोभ की मिठाई पुत्र के हाथ में देकर स्वयं को छिपा गया।

भाव यह है कि आत्मा तो स्वाभाविक प्रेम के कारण परमात्मा से मिलना चाहती है किंतु प्रभु लोभ का व्यवधान डालकर छिप जाते हैं—साधक की दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

विशेष—1. अन्योक्ति अलंकार।

2. वात्सल्य भाव की भक्ति व्यंजित है।

डारी खांड पटक करि, अंतरि रोस उपाइ।

रोवत रोवत मिलि गया, पिता पियारे जाइ॥ 32॥

शब्दार्थ—अंतरि = हृदय में। रोस = क्रोध।

व्याख्या—किंतु इस लोभ की मिठाई की सारहीनता जब आत्मा रूपी पुत्र ने देखी तो उसने उसे उठाकर फेंक दिया, लोभ का परित्याग कर दिया, और उसे अपने कृत्य पर आक्रोश हुआ कि यह तूने क्या किया? इस तुच्छ

नोट

मिठाई के कारण पिता को छोड़ दिया। इस वियोग में वह पुत्र (आत्मा) वेदना का अनुभव कर रोने लगा और रोता-रोता अपने प्रिय पिता (प्रभु) तक जा पहुँचा।

विशेष—1. रूपकातिशयोक्ति अलंकार प्रथम पंक्ति में है।

2. वात्सल्य रस के विप्रलम्भ-पक्ष का परिपाक हुआ है।

नैनां अंतरि आचरूं, निस दिन निरषौं तोंहि।

कब हरि दरसन देहुगे, सो दिन आवै मोहि॥33॥

शब्दार्थ—नैनां अंतरि = आँखों में। आचरूं = आँजकर, लगाकर।

व्याख्या—हे प्रभु! न जाने वह दिवस कब आयेगा जब मैं आपको नेत्रों के भीतर काजल के समान आँजकर अहर्निश आपका दर्शन लाभ प्राप्त करूँगी। न जाने प्रभु आप कब दर्शन देकर तेरे लिए इस सौभाग्यशाली दिवस को बुलाओगे।

भाव यह है कि मुझे किस दिन यह सौभाग्य प्राप्त हो सकेगा।

विशेष—माधुर्य भक्ति। औत्सुक्य संचार की व्यंजना।

कबीर देखत दिन गया, निस भी देखत जाइ।

विरहणि पिव पावै नहीं, जियरा तलपै माइ॥34॥

शब्दार्थ—निस = रात। जियरा = प्राण। तलपै = तड़पना।

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि विरहिणी आत्मा दूसरी आत्मा को संबोधित कर कहती है कि हे सखि प्रिय की प्रतीक्षा में समस्त दिवस बीत गया और रात्रि भी यँ ही रीती बीती जा रही है। विरहिणी को प्रिय की प्राप्ति नहीं होती, इससे उसका हृदय वेदना में तड़पता है।

विशेष—प्रस्तुतालंकार।

कै बिरहणि कूँ मीच दे, कै आपा दिखलाइ।

आठ पहर का दाइणां, मोपैँ सह्या न जाइ॥35॥

शब्दार्थ—मीच = मृत्यु। दाइणां = दग्ध होना।

व्याख्या—हे प्रभु विरहिणी की या तो जीवन लीला ही समाप्त कर दो या अपना स्वरूप-दर्शन दो। अब दिन-रात यह वेदना मुझ से सहन नहीं हो पाती।

विशेष—1. प्रस्तुतालंकार।

2. वक्तृवैशिष्ट्य ध्वनि के रूप में आत्मा-परमात्मा का संबंध व्यक्त हो रहा है।

3. विप्रलम्भ शृंगार अपने लौकिक एवं अलौकिक दोनों धरातलों पर परिपक्व हुआ है।

बिरहणि थी तौ क्यूँ रहीं, जली न पीव की नालि।

रहु रहु मुग्धा गहेलड़ी, प्रेम न लाजूं मारि॥36॥

शब्दार्थ—नालि = साथ। रहु-रहु = बस-बस। मुग्धा = मुग्धा। गहेलड़ी = देरी करने वाली।

व्याख्या—यदि तू वास्तविक अर्थों में वियोगिनी थी तो जीवित क्यों रह गयी? प्रिय के साथ चिता में ही क्यों न भस्म हो गई? अपनी लज्जा के कारण प्रिय-मिलन में असफलता प्राप्त करा देने वाली मुग्धा? तू अधिक बात मत बना बस कर, क्यों व्यर्थ प्रेम को भी लज्जित करती है।

विशेष—प्रस्तुतालंकार, विप्रलम्भ शृंगार।

हौं बिरह की लाकड़ी, समझि समझि धूँ धाऊँ।

छूटि पड़ौं या बिरहु तैं, जे सारी ही जलि जाऊँ॥37॥

शब्दार्थ—समझि-समझि = सुलग-सुलग।

व्याख्या—मैं विरह की उस लकड़ी के समान हूँ जो शनैः-शनैः सुलग कर जल कर रही है। इससे तो अच्छा है कि प्रिय दर्शन दे दें और मैं इस विरह से मुक्त हो सकूँ अथवा मैं जलकर सर्वथा क्षार हो जाऊँ। यह विरहावस्था असहनीय है।

विशेष—अनुज्ञा तथा रूपक अलंकार से विप्रलम्भ शृंगार के परिपाक में सहायता ली गई है।

कबीर तन मन लौं जल्यो, बिरह अगनि सूं लागि।

नोट

मृतक पीड़ा न जाणई, जाणौंगी यह आगि॥38॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं, विरह-अग्नि से मेरा शरीर और हृदय इस प्रकार भस्म हो गये कि वे चैतन्य रहित हैं। जिस प्रकार मृतक पीड़ा से सर्वथा असम्भूत रहता है, उसी प्रकार विरहिणी भी। यदि कुछ वेदना की जलन का अनुभव और ज्ञान होगा तो इस विरहाग्नि को ही होगा।

विशेष—1. रूपक अलंकार।

2. अलंकार से वस्तु ध्वनि है। रूपक से यह वस्तु ध्वनित है कि साधक की तन-मन की आसक्ति दग्ध हो चुकी है, वह परमात्मा रूप हो चुका है।

बिरह जलाई मैं जलौं, जलती जल हरि जाऊं।

मो देखां जल हरि जलै, संतौ कहां बुझाऊं॥39॥

शब्दार्थ—सरल है।

व्याख्या—मैं विरहाग्नि में जली जा रही हूँ। इस असह्य अवस्था के शमन के लिए यदि मैं गुरु रूपी तालाब के पास जाती हूँ तो मुझको उस प्रेमाग्नि में जलता देखकर गुरु भी और अधिक उस आग से जलने लगे। संतजन, मैं इस विचित्र स्थिति का क्या वर्णन करूँ।

भाव यह है कि शिष्य का यह अपार प्रेम देखकर गुरु में भी प्रेम उद्दीप्त हो उठता है।

विशेष—1. रूपक अलंकार से विरहानुभूति की तीव्रता व्यंजित हुई है।

2. अलंकार से वस्तु ध्वनि है। ध्वनित है परम प्रिय के विरह में आकुल मनोदशा।

3. अतिशयोक्ति के द्वारा व्यक्तिगत विरह को लोकव्यापी दिखाया गया है, यह सूफी-परंपरा में है।

परबति परबति मैं फिर्या, नैन गँवाये रोड़।

सो बूटी पाँऊं नहीं, जातैं जीवनि होइ॥40॥

शब्दार्थ—परबति = पर्वत। बूटी = औषधि।

व्याख्या—मैंने पर्वत-पर्वत छान डाला और नेत्र प्रिय वियोग में रोते-रोते नष्ट कर बैठा, किंतु मैं कहीं भी वह संजीवनी बूटी अर्थात् ब्रह्म-स्वामी, नहीं प्राप्त कर सका जिससे जीवन सफल हो सके।

विशेष—कबीर के ध्यान में इस समय लक्ष्य-शक्ति प्रसंग अवश्य घूम रहा होगा।



टास्क ब्रह्म को कबीर ने हृदयस्थ मानकर क्या लिखने का विरोध किया है?

फाड़ि पुटोला धज करौं, कामड़ली पहिराउं।

जिहि जिहि भेषां हरि मिलै, सोइ सोई भेष कराउं॥41॥

शब्दार्थ—पुटोला = रेशमी वस्त्र। धज = टूक-टूक, धज्जियाँ। कामड़ली = कंबल।

व्याख्या—यदि प्रिय को मेरा यह सौंदर्यपूर्ण वेश रुचिकर नहीं तो अपने रेशमी वस्त्रों को फाड़कर धज्जियाँ कर साधुओं के समान कंबल धारण कर लूँ। जिस-जिस वेश (आचरण) के द्वारा प्रभु-मिलन की संभावना है, मैं वही वेश धारण कर सकती हूँ।

विशेष—‘पटोला’ शब्द नारी के रेशमी वस्त्रों की ओर ध्यान ले जाता है, अतः इसके द्वारा, संदर्भ के योग से विरह दशा रूप वस्तु ध्वनित है।

नैन हमारे जलि गए, छिन छिन लोड़ैं तुझ्झ।

ना तूँ मिलै ना मैं सुखी, ऐसी बेदन मुझ्झ॥42॥

शब्दार्थ—लोड़ैं = प्रतीक्षा में देखना। सुखी = प्रसन्न।

व्याख्या—मेरे नेत्र क्षण-क्षण में तेरी प्रतीक्षा में बाट जोहते-जोहते नष्ट को गये। मुझे ऐसी वेदना है कि तेरे मिलन बिना आनंद नहीं।

नोट

विशेष—1. 'जलि गए' से शब्द-शक्ति उद्भव विरह की तीव्रता रूप वस्तु ध्वनित है। पूरी साखी से अतिशयोक्ति अलंकार भी ध्वनित है।

2. 'लोड़ें' या 'लौरें' क्रिया का विकास संस्कृत पुल्लिङ्ग 'लोडन' से प्रतीत होता है, जिसका अर्थ इधर-उधर चलना या लुढ़कना होता है।

भेलो पाया स्त्रम सौं, भौसागर के मांहि।

जे छाड़ौं तौ डूबिहौ; गहाँ त डसिये बांह॥ 43॥

शब्दार्थ—भेलो = बेड़ा। भौसागर = भवसागर।

व्याख्या—इस भवसागर के मध्य डूबते हुए को तैरने के लिए बड़े परिश्रम से प्रेम का बेड़ा मिला है किंतु इस पर विरह रूपी सर्प बैठा हुआ है। जो इसे छोड़ता हूँ तो डूबने का भय है और यदि इसका आश्रय लेता हूँ तो आशंका है कि यह विरह-भुजंग मुझे डस न ले।

भाव यह है कि संसार से मुक्त होने के लिए प्रेम एकमात्र साधन है, किंतु इसके साथ विरह अवश्य भोगना पड़ता है।

विशेष—1. यहाँ रूपकातिशयोक्ति है। श्रम से प्राप्त होने वाले बेड़े का प्रयोग राम-विरह के लिए है। इसमें 'डसिए' क्रिया के द्वारा एक सर्प का बिंब भी जुड़ गया है, जो इसके पीड़क पक्ष को उभारता है।

2. 'भेला' का तात्पर्य नदी पार करने के लिए बाँस आदि से बना बेड़ा या 'उडुप' है। डॉ. पारसनाथ तिवारी ने 'श्रम' को 'श्रप' या 'सरप' रूप में पढ़ा है, यह ठीक भी लगता है। इस स्थिति में अर्थ होगा—'सर्प रूप बेड़े को भव-सागर में पाया।'।

रणा दूर बिछोहिया, रहु रे संघम झूरि।

देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊँगे सूरि॥44॥

शब्दार्थ—संघम = चक्रवाक। झूरि = विसूर कर। धाहड़ी = उच्च-स्वर में।

व्याख्या—चक्रवाक पक्ष में—हे चक्रवाक! रात्रि ने तेरे प्रिय को तुमसे वियुक्त कर दिया है, अब तू बिलख-बिलख कर उच्च वाणी में मंदिर-मंदिर अथवा घर-घर पर उसके लिए पुकार लगा रहा है, किंतु उससे मिलन सूर्य ही करायेगा।

मनुष्य पक्ष में—अज्ञान रात्रि में तुझसे प्रभु वियुक्त हो गये हैं। अब तू चक्रवाक की भाँति मंदिर-मंदिर में उसके लिए पुकार लगा रहा है, किंतु उसकी प्राप्ति ज्ञान-सूर्य उदय होने पर ही होगी।

विशेष—अन्योक्ति से पुष्ट सांगरूपक अलंकार।

सुखिया सब संसार है, खायै अरु सौवै।

दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै॥45॥

व्याख्या—कबीर कहते हैं कि समस्त संसार सुखी है जो भोग-विलास का जीवन व्यतीत कर अज्ञान रात्रि में सोता है। दुखी तो केवल एक कबीर है जो ज्ञान-प्राप्ति के लिए जग भी रहा है और प्रभु-मिलन के लिए रो भी रहा है।

विशेष—वस्तु से वस्तु ध्वनित है। ध्वनित है—संसारसक्त मनुष्य निश्चिन्त दिखाई पड़ता है, किंतु भगवान का भक्त विरह में व्याकुल।

14.6 सारांश (Summary)

- कबीर का ब्रह्म उपनिषदों के अद्वैत से ही अधिक प्रभावित है। कबीर की ब्रह्म-भावना आदि से अन्त तक अद्वैतपरक है किन्तु उस अद्वैत की प्राप्ति का प्रारम्भ या प्रयत्न जब कबीर करते हैं, प्रिय परमात्मा से वियुक्त हृदय की मनोभावनाओं की जिस समय अभिव्यक्ति करते हैं, उस समय वे द्वैत भावना से प्रस्थान करते हैं, किन्तु यह द्वैत भ्रमवश है, यही अज्ञान है।
- जहाँ तक आत्मा का सम्बन्ध है, कबीर ने सदैव उसे परमात्मा का अंश माना है। जिस प्रकार अद्वैतवादियों ने उपनिषदों का आधार लेकर ब्रह्म और आत्मा की एकता को प्रस्थापित किया, उसी भाँति कबीर ने भी अंश-अंशी भाव की अवस्थिति सर्वत्र मानी है।

- प्रेम की परिपूर्णता एवं परिपक्वता के लिए विरह आवश्यक माना गया है। विरह के द्वारा ही आत्मा-परमात्मा की ओर और भी दृढ़ता के साथ उन्मुख होती हैं। इसीलिए प्रत्येक शाखा के भक्ति-काव्य में, चाहे वह सगुण का उपासक हो चाहे निर्गुण का, विरह का विधान किया गया है।
- कबीर कहते हैं कि उनकी आत्मा क्राँच पक्षी की भाँति प्रियतम से मिलने के लिए चीत्कार कर रही है। क्राँच पक्षी का विरह तो केवल कुछ ही समय का होता है, क्योंकि प्रातःकाल होते ही वे दोनों फिर परस्पर मिल जाते हैं, किन्तु परमात्मा का विरह तो अनंत है। जो जन राम से बिछुड़ जाते हैं, वे उन्हें कभी भी प्राप्त नहीं कर पाते। विरह की इसी अनंतता के कारण आत्मा इतनी दुःखी हो जाती है कि उसे न तो दिन को सुख मिलता है और न रात को, बल्कि स्वप्न में भी उसे सुख की प्राप्ति नहीं होती।
- विरह की यह पीड़ा बड़ी ही अद्भुत होती है। इसका चाहे जो उपचार किया जाये, किन्तु इसकी वेदना कम नहीं होती। इसकी वेदना का अनुभव केवल दो ही व्यक्ति कर सकते हैं—एक तो वह जिसे वेदना हो रही है और दूसरा वह जिसने वेदना दी है। यह विरह उस सर्प के समान है जिसके विष को किसी प्रकार का भी मंत्र नहीं उतार सकता। वस्तुस्थिति तो यह है कि राम का वियोगी जीवित ही नहीं रह सकता और यदि वह भी जाये तो वह पागल हो जाता है। इस विरह सर्प के दर्शन को धीरता से सहन करना चाहिए, क्योंकि यदि मन में अधैर्य का भाव आ गया तो प्रेम को क्षति पहुँचेगी और फिर प्रियतम का मिलन असम्भव हो जाएगा। वस्तुतः प्रेम-क्षेत्र के अनुभव को कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है।

14.7 शब्दकोश (Keywords)

निराकार	— जिसका कोई आकार न हो
मिथ्या	— झूठा, बनावटी
विरह	— वियोग

14.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. कबीर की ब्रह्म-भावना का उल्लेख कीजिए।
2. जीवात्मा और शरीर में क्या अंतर है? उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
3. कबीर ने अपने विरह का वर्णन किस प्रकार किया है?
4. कबीर ने माया का वर्णन किस प्रकार किया है? उल्लेख कीजिए।
5. 'राजस तामस सातिग तीन्यू ये सबतेरी माया' प्रस्तुत पंक्तियों का भावार्थ तथा काव्य सौंदर्य स्पष्ट कीजिए।
6. 'दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।' उपरोक्त पंक्तियों में कबीर ने स्वयं को दुखिया और दास क्यों कहा है? विवेचन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answers : Self Assessment)

- | | | | |
|-----------|--------------|------------------|-----------|
| 1. अद्वैत | 2. अद्वैतपरक | 3. सांख्यवादियों | 4. मिथ्या |
| 5. (क) | 6. (क) | 7. (ख) | 8. (ख) |

14.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)



पुस्तकें

1. हिंदी साहित्य का इतिहास - डॉ. ईश्वरदत्त शील, आभारानी।
2. हिंदी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा।
3. हिंदी साहित्य का सरल इतिहास - विश्वनाथ त्रिपाठी, वाणी प्रकाशन।
4. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - बाबू गुलाबराय, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन।